मनुस्मृति का विषय सूची

सूची जितनी संक्षिप्त हो, उतना कोई विषय ढूंढना आसान होता है, इसलिये सूची में मुख्य २ विषय देकर छोटे२ विषय उसी के नीचे श्लोक संख्या देकर देदिये हैं।

भूमिका—इसमें मनुष्य को धर्म की आवश्यकता, और [illegible] की उत्पत्ति आदि का वर्णन है:—

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थाध्याय

(स्नातक के व्रत)

नवमाध्याय

दशमाध्याय

एकादशाध्याय

द्वादशाऽध्याय

मनुस्मृति के श्लोकों का अकारादि सूची।

इति मनुस्मृतिश्लोकानामकारादिवर्णक्रमेण
अनुक्रमणिका सम्पूर्णा ।

निरुक्त का हिन्दी भाष्य छपना आरम्भ होगया है।

(१) मूल निरुक्त (संस्कृत) भी साथ है।

मूल में विराम चिन्ह (कौमे) देकर और अलग २ परिच्छेद देकर ऐसा स्पष्ट कर दिया है, कि मूल को पढ़ने से भी अर्थ बहुत स्पष्ट होजाता है।

(२) मूल का अर्थ बड़ी अच्छी तरह खोल कर लिखा है। निरा अर्थ ही नहीं, किन्तु भाष्य लिख कर, और टिप्पणी देकर हरएक बात को पूरी तरह समझा दिया है।

(३) शब्दों की सिद्धि व्याकरण के सूत्रों से दिखलादी है।

(४) निरुक्त में जितने मन्त्र आए हैं, उन सब के हवाले दे दिये हैं।

(५) निरुक्त में वेद के जितने शब्द आए हैं, उन सब का अकारादिक्रम से सूची दिया है।

(६) जितने वेद मन्त्र आए हैं, उन सब का भी अकारादि क्रम से सूची दिया है।

(७) जिस २ वेद के जो २ मन्त्र आए हैं, उस २ वेद के अध्याय आदि के क्रम से अलग सूची दिया है।

(८) निरुक्त में जितने पुराने आचार्यों के नाम आए हैं, उन सब का आकारादि सूची दिया है।

ऐसी उत्तमता के साथ यह ग्रन्थ आर्षग्रन्थावलि में छप रहा है, ३) भेजने से बरस भर आपको एक २ अंक हर महीने मिलता रहेगा, हर एक अंक में १८×२२=८ पेजी के ५६ पृष्ठ रहेंगे।

पत्रादि भेजने का पता—

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।

॥ ओ३म् ॥

❋ भूमिका ❋

हरएक मनुष्य इस जगत में कुछ अपने कर्त्तव्य रखता है। जिन २ के साथ उसका सम्बन्ध है, उन सब की ओर उस का कुछ कर्त्तव्य है।

धर्म्म की आवश्यकता

अपनी ओर, माता पिता की ओर, भाई बहिनों की ओर, सम्बन्धि बान्धवों की ओर, जाति और देश की ओर, और सब से बढ़कर, उसका अपने परमात्मा की ओर जो कर्त्तव्य है, इस सब को धर्म कहते हैं। धर्म के आचरण से इस लोक में कीर्त्ति और सुख लाभ करता है, और परलोक में परमोत्तम सुख। इसलिये धर्म को जानना और धर्म पर चलना प्रत्येक नर नारी के लिए अत्यावश्यक है॥

मनुष्य के साथ ही इस जगत में धर्म का भी प्रकाश हुआ, यह प्रकाश ऋषियों के शुद्ध हृदयों में परमात्मा की ओर से था। इसी प्रकाशका

धर्म्म का प्रकाश

नाम वेद वा श्रुति है। उसके पीछे वेद का सहारा लेकर देश काल अनुसार जो ऋषियों ने धर्म मर्य्यादाएं बांधी हैं, उनका नाम धर्म्म-शास्त्र वा स्मृति है। श्रुति सार्वभौम धर्म का उपदेश देती है, स्मृति इसी का विस्तार करती हुई देशकाल की सीमा में रहनेवाली लौकिक मर्य्यादाएं भी बांधती है, मनुष्य को इन दोनों के जानने की आवश्यकता है। इसलिये श्रुति और स्मृति दोनों मनुष्य के नेत्र कहे हैं, जैसे—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्त्तिते।
काणः स्यादेकया हीनो द्वाभ्या मन्धः प्रकीर्त्तितः॥

अर्थ–श्रुति और स्मृति ब्राह्मणों (= द्विजों) के दो नेत्र बतलाए गए हैं। एक से हीन काणा होता है, और दोनों से (हीन) अन्धा कहा गया है ॥

धर्म्म की शुद्धि

वेद अपौरुषेय हैं, अतएव उनमें पौरुषेय दोषों की सम्भावना ही नहीं होसक्ती। पर धर्मशास्त्र पौरुषेय है, वह इस सम्भावना से विमुक्त नहीं हो सक्ता। इसलिए वेद तो गङ्गोत्तरी से निकले गङ्गा जल की तरह, धर्म का शुद्ध स्रोत है, और स्मृति निचले मैदानों में बहने, दूसरी वस्तुओं से मिश्रित, गङ्गाजल की तरह धर्म का मिश्रित स्रोत है। जैसा कि भगवान् व्यास ने कहा है :-

धर्मशुद्धिमभीप्सद्भिर्न वेदादन्यदिष्यते ।
धर्मस्य कारणं शुद्धं मिश्रमन्यत प्रकीर्त्तितम् ॥

अर्थ–धर्म्म की शुद्धि चाहने वालों को वेद से भिन्न (और कुछ) अभीष्ट नहीं है। (वेद) धर्म का शुद्ध कारण है। और दूसरा (स्मृति आदि) मिला हुआ कहा गया है।

सो धर्म के प्यासों के लिये शुद्ध मीठा स्रोत श्रुति है, और मिश्रित मीठा स्रोत स्मृति है ॥

शुद्ध धर्म की एकरस स्थिति

शुद्ध धर्म सब देश, सब काल, और सब जातियों के लिये होता है, उसमें किसी मानुषी त्रुटि का लेश न रहने से सदा एकरस स्थित रहता है, वह देश काल और अवस्था के अनुसार बदलता नहीं रहता ॥

लोक मर्य्यादाओं में परिवर्त्तन

पर लोक मर्य्यादाएं देश काल और अवस्था के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। जीती जागती हरएक जाति अपनी मर्य्यादाओं को देश काल और अवस्था के अनुसार संशोधन

करती रहती है। यह संशोधन ही उसके जीवन का चिन्ह है, क्योंकि वह अपने आपको हरएक देश काल और अवस्था के अनुकूल बना लेती है। अतएव देशकाल और अवस्था उस पर प्रहार नहीं करते, प्रत्युत उस के सहायक बनकर उस को आगे बढ़ाते हैं॥

हमारे पूर्वजों के पास धर्म का स्रोत वेद तो था ही, पर उनके

लोक मर्य्यादाओं के लिए धर्मशास्त्र की उत्पत्ति

बर्त्ताव ने पवित्र २ लोक मर्य्यादाओं का भी प्रादुर्भाव किया। तब उन मर्य्यादाओं में सब को एक समान चलाने के लिए धर्म-शास्त्र की सृष्टि हुई॥

जो धर्म शास्त्र पहले पहले रचे गए, वह **धर्मसूत्र** कहलाते

पहले धर्मशास्त्र

हैं। धर्मसूत्रों में कहीं २ बीच में श्लोक भी हैं॥

पिछले धर्मशास्त्र

इन सूत्रों के आधार पर पीछे श्लोक बद्ध स्मृतियां बनीं॥

धर्मशास्त्रों की मर्यादाओं में यतः देश काल के अनुसार

धर्मशास्त्रों की संख्या

भेद होजाया करता है। अतः धर्मशास्त्र भिन्न भिन्न काल में अलग २ बने हैं। इसलिए धर्म शास्त्रों की संख्या अधिक हुई है। याज्ञवल्क्य की **अपरार्क** टीका में धर्म्म शास्त्रकारों की गिनती में गौतम के नाम से यह दो सूत्र उद्धृत किए हैं "स्मृतिर्धर्मशास्त्राणि, तेषां प्रणेतारः मनु विष्णु दक्षाङ्गिरोऽत्रिबृहस्पत्युशन आपस्तम्बगौतम संवर्तात्रेय कात्यायन शङ्खलिखित पराशर व्यास शातातप प्रचेतो याज्ञवल्क्या दयः"=स्मृति धर्म्मशास्त्र हैं, उन के बनाने वाले हुए हैं;—मनु,

विष्णु, दक्ष, अङ्गिरा, अत्रि, बृहस्पतिं, उशना, आपस्तम्ब, गौतम, संवर्त, आत्रेय, कात्यायन, शङ्ख, लिखित, पराशर, व्यास, शातातप, प्रचेता, याज्ञवल्क्य आदि । यह १९ नाम गिनकर आदि शब्द दिया है। याज्ञवल्क्य आचाराध्याय श्लोक ४, ५ में २० नाम दिए हैं। उन में उपर्युक्त से हारीत, यम और वासिष्ठ नाम अलग हैं, और प्रचेता और आत्रेय यह दो नाम नहीं हैं। भविष्यत पुराण गुरुेश्वर वाक्य में ३६ स्मृतियां बतलाई हैं—मनु, विष्णु, यम, दक्ष, अङ्गिरा अत्रि, बृहस्पति, उशना, आपस्तम्ब, वासिष्ठ, कात्यायन, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, संवर्त, गौतम, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, प्रचेता, बुध, देवल, सोम, जमदग्नि, विश्वामित्र, प्रजापति, नारद, पैठीनसि, पितामह, बोधायन, छागलेय, जाबालि, च्यवन, मरीचि, कश्यप। पर इन ३६ में भी आत्रेय का नाम नहीं आया है। इसका कारण कदाचित् यह हो, कि किसी एक देश में थोड़ाही काल प्रचलित रहने के पीछे आत्रेय का स्थान किसी दूसरी स्मृति ने लेलिया हो। और यह भी सम्भव है, इसतरह औरभी कई स्मृतियां उत्पन्न होकर लुप्त हुई हों। इनमें से याज्ञवल्क्य स्मृति में जो जो स्मृतियां गिनी हैं, वह सब छप गई हैं। अर्थात् मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अंगिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ॥

सबसे पहला धर्मशास्त्र मानव धर्मसूत्र

सब से पहला धर्मशास्त्र भगवान् मनु का रचा हुआ है, पर वह यह मनुस्मृति नहीं, मानवधर्म्म सूत्र थे, जो अब नहीं मिलते हैं। मानव धर्मसूत्रों के आधार पर बहुत काल पीछे यह वर्त्तमान मनुस्मृति बनी है॥

गौतम वसिष्ठादि धर्मसूत्र तो मिल गये हैं, और छप भी गये

मानव धर्मसूत्रों की खोज

हैं। पर मानव धर्मसूत्र नहीं मिले, यद्यपि उनकी बहुत बड़ी खोज की गई है। पर यह खोजना सारी गवर्नमेण्ट वा विदेशी सभाओं वा पुरुषों की ओर से ही हुई है। हमारी अपनी ओर से बिल्कुल नहीं। इस से हमें यह नहीं जान लेना चाहिए, कि मानव धर्मसूत्र अब लुप्त ही होगये हैं। राजकीय पुस्तकालयों में न मिलने पर भी, निर्धन ब्राह्मणों की झोंपड़ियों में इनका मिल जाना अधिक सम्भव है, जहां से कि प्रतिवर्ष ऐसे कई पुस्तक निकलते रहते हैं, जिनका उस से पहले लोगों को नाम भी मालूम नहीं होता। मैंने स्वयं ऐसे कई ग्रन्थ पुराने पंडितों के पास देखे हैं, जो न मुद्रित हुए हैं, न राजकीय पुस्तकालयों की सूची में हैं। अभी मेरे मित्र बाबू नारायण दलपति भक्त डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर छोटा उदयपुर ने दो ग्रन्थ मेरे पास ऐसे भेजे हैं, जो दोनों अथर्ववेद के सम्बन्ध में हैं। एक उनमें से अथर्ववेद की ऋष्यादि की अनुक्रमणिका है दूसरा वितान सूत्र है

इन ग्रन्थों को सौंपते समय श्रीमान् सातवलेकरजी ने मुझे बतलाया, कि "बड़े २ पुस्तकालयों में इनकी ढूंढ की गई। कुछ पता नहीं लगा, अन्ततः बड़ी ढूंढ के पीछे एक अप्रख्यात श्रोत्रिय ब्राह्मण के घर से यह मिले हैं। सारे आर्यावर्त्त में और कहीं यह ग्रन्थ नहीं हैं। यदि उस एक ब्राह्मण के पास से लुप्त होजाते। तो लुप्त ही होजाते"। यह दोनों ग्रन्थ और कहीं मिलते हैं, वा नहीं, यह दूसरी बात है, पर यह निःसन्देह है कि बड़े २ उपयोगी ग्रन्थ हमारे प्रमाद से लुप्त होचुके हैं और अब भी होरहे हैं। उनकी रक्षा का कोई प्रबन्ध हमारी ओर से नहीं होरहा, यद्यपि हमारा यश और इतिहास उनके साथ सम्बद्ध है। यह कितने बड़े शोक की बात है, कि आर्य जाति

अपने इस भारी कर्त्तव्य में बहुत बड़ा प्रमाद कर रही है जिसकी निष्कृति नहीं होसकेगी। हमारे कई ग्रन्थ हमसे आदर न पाकर विदेशों में चले गये, जिनकी एक भी प्रति अब हमारे देश में नहीं है। अस्तु, प्रकृत यह है, कि मानवधर्म्म सूत्रों की पूरी २ खोज यदि राजकीय पुस्तकालयों को छोड़कर अब ब्राह्मणों के घरों में, विशेषतः उनके घरों में, जिनमें अज्ञात समय से वंश परम्परा से विद्या चली आरही है, की जाए, तो सम्भव है लुप्त हुए मानवधर्म सूत्र फिर हमें मिल सकें। मानवधर्म सूत्रों का मिलना हमारे प्राचीन जातीय जीवन का मिलना है। हमारी वृद्धि के समय हमारा सामाजिक जीवन क्या था? यह ठीक पता हमें मानवधर्म सूत्रों से मिल सकता है। मानवधर्म सूत्र यदि फिर हमारी आंखों के सामने आजाएं और हम उनको पहचान लें, कि यह हैं हमारे पूर्वजों का निर्णीत मार्ग, जिस पर चलते हुए वह जगत् में बढ़ रहे थे, तो हमारे सुधार का मार्ग हमारी आंखों के सामने आजाएगा। मानवधर्म सूत्र देश के सारे समाज सुधारकों से बढ़कर काम कर सकेगा। एक दूसरा प्रयत्न यह भी होसकता है कि मानवधर्म सूत्रों का जो २ प्रमाण दूसरे धर्म सूत्रों वा अन्य ग्रन्थों में दिया गया है, उन सब का संग्रह करके उसको एक उचित क्रम देकर प्रकाशित करना चाहिए। यह भी एक बड़ा भारी काम है। अब जैसा आदर मनुस्मृति का है। पहले वैसा आदर मानवधर्म सूत्रों का रहा है, इसलिये उनके बहुत से प्रमाण मिल जाएंगे। इसीप्रकार मैंने अभी कपिलमुनि के प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य्य के सूत्रों को इकट्ठा करके प्रकाशित किया है॥

यह वर्त्तमान मनुस्मृति यद्यपि उन्हीं सूत्रों के आधार पर

मनु ने कहा है, क्योंकि इस में श्रुति नहीं है" । कुमारिल भट्ट ने श्रुतिमूलक और लोकमूलक स्मृतिवचन के परखने की जो कसौटी बतलाई है, वह इस श्लोकमें आजाती है "विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दृष्टकारणा । स्मृतिर्नश्रुतिमूलास्याद् या चैवासम्भवश्रुतिः" = विरुद्ध, निन्दित दृष्ट प्रयोजनवाली, दृष्ट कारण वाली स्मृति श्रुतिमूलक नहीं होती और जो असम्भव वचन है, वह भी ।

(१) विरुद्ध—जो वचन वेद से विरुद्ध है, वा प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध है, वह वेदमूलक कैसे होसकता है । क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुंच से परली बात का वर्णन तो करती है, पर प्रत्यक्ष और अनुमान के विरुद्ध नहीं है । (२) निन्दित—जिस बात की दूसरे वैदिक शास्त्र निन्दा करते हैं, वह भी श्रुतिमूलक नहीं होसकती, क्योंकि श्रुति सर्वमान्य होने से निन्दास्पद नहीं होसकती । (३) दृष्ट प्रयोजनवाली—जो वचन किसी प्रत्यक्ष प्रयोजन के लिये कहा है, वह लोकमूलक है, न कि श्रुतिमूलक । जैसे पाचवें अध्याय में द्रव्यों की शुद्धि कही है, जिस से जो वस्तु शुद्ध होते देखी, उससे उसकी शुद्धि कही । किसी की लीपने बुहारने से, किसी की धोने से, किसी की मांजने से, किसी की तपाने से । (४) दृष्ट कारणवाली—जिस स्मृति वचन का कोई लौकिक कारण है,अर्थात् स्मृतिकार ने लोक संग्रह,वा किसी लाभ वा पूजा वा ख्याति के लिए कहा है। उसका मूल लोक संग्रहादि है न कि श्रुति । (५) असम्भव—जो असम्भव बात हो, वह भी श्रुतिमूलक नहीं होसक्ती, क्योंकि श्रुति असम्भव नहीं कहती है ॥

कुमारिल भट्टाचार्य ने एक छोटासा नियम यह भी दिया है । " यावद् धर्ममोक्षसम्बन्धि तद् वेदप्रभवम्, यत्त्वर्थसुखविषयं

तल्लोकव्यवहारपूर्वकामिति "=जो धर्म और मोक्ष सम्बन्धि वचन है, वह वेदमूलक है, और जो अर्थ (धनादि कमाने) वा सुख (यहां सुख लाभ करने) के विषय में कहा है, वह लोक व्यवहारमूलक है (मीमांसा १। ३। २ पर तन्त्रवार्त्तिक) ॥

इस सब का सारांश यह है, कि स्मृति की प्रवृत्ति मनुष्य के लोक और परलोक दोनों के सुधार के लिए है। परलोक के सुधार के लिए जो नियम दिए हैं, वह श्रुतिमूलक हैं। और वह अटल हैं। लोक के सुधार के लिए जो नियम दिए हैं, वह लोक व्यवहार मूलक हैं, उनमें से कई बातें समयानुसार बदलने की आवश्यकता होती है। क्योंकि लोक व्यवहार जो उनका मूल है, वह स्वयं बदलता रहता है। धर्म शास्त्रकार स्वयं ही इस बात का उपदेश देते चले आए हैं, और ऐसा करते रहे हैं। इसीलिए भिन्न २ समयों पर भिन्न २ स्मृतियां बनी हैं। और भिन्न २ समयों में भिन्न २ स्मृतियां प्रमाण मानी गई हैं। पर यह बात निःसन्देह है, कि मनुस्मृति के समय में लोग धर्म प्रधान थे, इसलिये मनुस्मृति की प्रधानता सदा स्थिर रही है ॥

धर्म शास्त्र के विषय में हमारा कर्तव्य

अब समय का बहुत हेर फेर होगया है। कोई भी स्मृति इस समय सर्वांश में पूरी प्रचलित नहीं होसक्ती। और न ही कोई एक स्मृति इस समय के सारे विचारों का निर्णय कर सकती है। इसलिये एक अव्यवस्था सी मच गई है। जो जिस विषय में जिसके जी में जिसप्रकार आता है, करता है, कोई एक व्यवस्थित मार्ग नहीं रहा। दूसरी ओर कोई २ पुरुष पुरानी हरएक बात के ऊपर ऐसे पक्के हैं, कि वह किसी एक भी अंश में स्वतन्त्र होना पाप मानते हैं। पर

मार्ग इन दोनों के मध्य में है,न तो व्यवस्था को बिगाड़ना ठीक है, और न ही समय से बेपरवाह होना ठीक है। क्या मनु ११।९० में जो शराब पीने का प्रायश्चित्त अग्नितुल्य गर्म शराब पीकर मरना लिखा है, यह अब माना जासक्ता है। इसलिए उचित तो यह है कि आर्य जाति के नेतृजन शास्त्रज्ञ और देशकालज्ञ-सभी मिल कर आर्यजाति के लिए सारे धर्म शास्त्रों में से एक ऐसा धर्म संग्रह तय्यार करें। जो समयोचित सारी आवश्यकताओं को पूरा करे। यह मुझे पूरा विश्वास है, कि ऐसा ग्रन्थ बहुत ही उत्तम तय्यार हो सकता है, और सारी अव्यवस्था की जगह सुव्यवस्था होसक्ती है, जब सब मिलकर इस कार्य को पूरा करना चाहें। भगवान् करे, कि ऐसा शीघ्र हो। दूसरा काम प्राचीन धर्मशास्त्रों के ज्यों के त्यों अनुवाद लोगों के हाथों में पहुंचाना है, जिस से कि धर्म के उच्चर उपदेश सर्व साधारण को ज्ञात होसकें, इस दूसरे उद्देश्य को लेकर मनुस्मृति का यह सरल अनुवाद आरम्भ किया गया है॥

पूर्व कह आए हैं, कि मनुप्रोक्त धर्मशास्त्र मानवधर्म सूत्र है। जब वह श्लोकबद्ध हुए, तो अवश्यमेव आवश्यकतानुसार नई मर्यादाओं का भी समावेश उसमें हुआ। फिर श्लोक बद्ध भी जैसा ग्रन्थ रचा गया, उसमें भी हस्ताक्षेप अवश्य हुआ है। क्योंकि दूसरे ग्रन्थोंमें मनु के कई ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो मनुस्मृति में नहीं पाए जाते। यह बात दो प्रकार से होसक्ती है, या तो वह श्लोक मनुस्मृति में से किसी ने निकाल दिये, या मनुस्मृति के जो पुस्तक उन प्रमाणदाताओं के पास थे, उन में वह अधिक किसी ने डाल दिये हुए थे। दोनों प्रकार इसमें हस्ताक्षेप हुआ सिद्ध होता है। दूसरा यह, कि

मनुस्मृतिमें प्रक्षिप्त का विचार

जो मनुस्मृति कुल्लूकभट्ट की टीकावाली छपी है, उसमें कई अधिक श्लोक उसमें पाए जाते हैं, जो सात टीकावाली छपी है। उस में जो श्लोक अधिक हैं, उन पर पुरानी कोई टीका नहीं, नई टीकाएं ही है। पुराने आचार्यों की टीका का उन पर न होना इस बातका साधक है, कि उनके समय वह श्लोक मनुस्मृति में न थे, पीछे डाले गए। और यदि पीछे प्रक्षिप्त हुए हैं, तो पहले भी होसक्ते हैं। इसलिये यह तो निःसन्देह है,कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुआ है। तथापि कौन २ श्लोक प्रक्षिप्त हैं, ऐसा निर्णय करने के लिए बहुत बड़ी सामग्री लेकर बरसों अनुसन्धानकी आवश्यकता है। किसी श्लोक को प्रक्षिप्त माननें के लिये ऐसा प्रमाण चाहिए,जिससे यह सिद्ध हो जाए,कि ग्रन्थकार ने यह नहीं लिखा था, इस मनशा से पीछे किसी ने डाला है। यदि ऐसा प्रमाण न हो, तो किसी बातका मानना न मानना हमारे इख़्तियार में है,पर बिना प्रमाण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते। इसलिए मैं कोई भी श्लोक न छोड़कर सारी की सारी मनुस्मृति छापता हूं। जो जिस को प्रक्षिप्त वा देशकाल विरुद्ध प्रतीत हो, वह उसको छोड़दे। मैं केवल इस बात का उत्तरदाता हूं, कि जो कुछ अर्थ मैंने किया है वह ठीक है, और जो जहां व्यवस्था की है, वह वर्तमान मनुस्मृति के अनुसार है॥

मनुस्मृति का भाषान्तर करने में जैसा कि मुझे उचित था मैंने मनुस्मृति को आद्योपान्त कई बार देख लिया है। दूसरी भी जितनी स्मृतियां छप चुकी हैं, सब देखी हैं। मनुस्मृति की संस्कृत की सारी टीकाएं देखी हैं। और जिन ग्रन्थों में सारी स्मृतियों को लेकर विचार किया है, उन में से पाराशरमाधव, मिताक्षरा, अपरार्क और वीरमित्रोदय को परिश्रम से देख लिया है। मेरा

विचार तो यह था, कि इतने परिश्रम के पीछे हरएक विषय पर दूसरी स्मृतियों के भी वचन लिखकर देशकालानुसार उस २ विषय में जो २ परिवर्तन हुए हैं, उसे भी अपने पाठकों के सामने रखदूं। पर इससे ग्रन्थ बहुत बढ़ता देखकर इसप्रकार लम्बे विचार तो नहीं किए, तथापि दूसरी स्मृतियों के सम्वादी (मनु से मेल खाते हुए) प्रमाण नीचे टिप्पनी में दे दिए हैं। उन २ पतों से उन२ स्मृतियों को निकालकर देखने से यह सारा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा

भाषा अर्थ के नियम — अर्थ लिखने में इन बातों पर ध्यान रक्खा है, (१) अर्थ अन्वय क्रम से (वा मुहाविरा) हिन्दी की शैली के अनुसार लिखा है (२) अर्थ उतना लिखा है, जितना मूल श्लोक का बनसक्ता है, बीच२ में अपनी ओर से (जो किसी के अर्थ नहीं, ऐसे) शब्द डाल २ कर गड़बड़ नहीं की, भाषा की शैली के अनुसार जो शब्द ऊपर से डाला भी है, वह ऐसी (   ) बन्धनी में कर दिया है.इससे संस्कृत श्लोक भी आसानी से समझ में आजाएंगे। (३) जहां२ कोई मर्म वा तात्पर्य खोलने की आवश्यकता थी, वह अलग नीचे खोलकर लिखा है, वा अर्थ में ही वैसी (   ) बन्धनी के अन्दर कर दिया है (४) नीचे टिप्पनी में उसी विषय पर दूसरी स्मृतियों के पते दिए हैं, इससे उस विषय पर आप दूसरी सारी स्मृतियों का विचार भी जान सकेंगे॥

विशेष शब्दों के अर्थ — स्मृतियों में कई परिभाषिक शब्द (technical words) आते हैं। जिनका अर्थ स्मृति के अन्दर दिया हुआ होता है, पर कई शब्द कई बार बोलने पड़ेंगे, जिनका जगह २ अर्थ नहीं होगा, उनका अर्थ यहां लिख देते हैं॥

अग्नि—स्मृतियों में तीन अग्नियों का वर्णन होता है, श्रौताग्नि, स्मार्ताग्नि, और लौकिकाग्नि ॥

श्रौताग्नियें—जिनमें श्रौत यज्ञ किये जाते हैं, वह तीन होती हैं गार्हपत्य, आहवनीय, और दक्षिणाग्नि। इमीको अग्नित्रेता अर्थात् तीन अग्नियें कहते हैं। वेदी में गार्हपत्य अग्नि का कुण्ड पश्चिम में गोल, आहवनीय का पूर्व में चतुष्कोण, दक्षिणाग्नि का दक्षिण में अर्धचन्द्राकार। इनमें से गार्हपत्य में अग्नि सदा बना रहता है। दूसरे कुण्डों में यज्ञ के समय गार्हपत्यसे अग्नि लेजाते हैं।

स्मार्ताग्नि—जिसमें पाकयज्ञ किये जाते हैं, जिनका वर्णन गृह्यसूत्रों में है, यह विवाह के समय वा दाय विभाग के समय स्थापन किया जाता है, और सदा के लिए बना रहता है ॥

लौकिकाग्नि—इन दोनोंसे भिन्न जो अग्नि है, वह लौकिकाग्नि है ॥

वर्ण—चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

अन्तराल—भिन्न दो वर्णों के मेल से बनी जाति (mixed tribe or coste)। अन्तराल दो प्रकार के हैं—

अनुलोम—जो ऊंचे वर्ण के पुरुष से निचले वर्ण की स्त्री में से उत्पन्न हो ॥

प्रतिलोम—जो निचले वर्ण के पुरुष से ऊंचे वर्ण की स्त्री में से उत्पन्न हो। स्मृतियों के अनुसार ऊंचे वर्ण को निचले वर्ण की स्त्री से विवाह की अनुज्ञा है, पर निचले वर्ण को ऊंचे वर्ण की स्त्री से नहीं। इसलिए प्रतिलोम निन्दित है अनुलोम नहीं। प्रतिलोमज जातियें वर्णसंकर कहलाती हैं ॥

अनुक्रम से=सिलसिलावार। यथावत्—ठीक २। यथाविधि—शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार। कर = हासिल जो राजा को दिया जाता है मुआमला वा टैक्स ॥

मनुस्मृति

प्रथम अध्याय।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रति पूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

महर्षि एकाग्र (-चित्त) बैठे मनु के पास पहुंचे, और यथोचित्त पूजा करके यह वचन बोले ॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित् प्रभो ॥३॥

भगवन् ! आप हमें सारे वर्णों के और अन्तरालों के धर्म ठीक ठीक और अनुक्रम से बतलाने की कृपा कीजिए॥२॥ क्योंकि आप अकेले हे प्रभो ! इस सारे विधान (रीति=कानून)के कार्य (कर्त्तव्य भाग) का सच्चा तात्पर्य समझने वाले हैं, जो (विधान) अचिन्त्य, अपरिमेय, स्वयम्भू (अनादि परमात्मा) का है (अर्थात् वेद है) ॥३॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान सर्वान् महर्षीञ्श्रूयतामिति॥४॥

इसप्रकार जब उन विशाल हृदय वालों ने उस अपरिमित शक्तिवाले (मनु) से पूछा, तो वह बड़े आदर पूर्वक उन सब महर्षियों को उत्तर देते भए–'सुनिये' ॥ ४ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

*यह (विश्व) अपना अस्तित्व रखता था, अन्धेरे के रूप में, न प्रत्यक्ष, न कोई चिन्ह, न तर्क से जानने योग्य, न (शब्द से) जानने योग्य, मानों गहरी नींद सोया पड़ा था † ॥ ५ ॥

---

* मिलाओ ऋग् १० । १२९ । ३; तै० ब्रा० ११ । ८ । ९ । ४ । और ५ से १३ तक मिलाओ श० ब्रा० ११ । १ । ६ । १ ॥

† जगत् का अस्तित्व था, पर अन्धेरे में था, उसे कोई जानता नहीं था। आगे १२।१०५–१०६ में ज्ञान के साधन प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और तर्क कहेंगे, उन सब का अविषय था। कुल्लूकभट्ट अन्धेरे से प्रकृति का अभिप्राय लेता है। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि महर्षियों ने धर्म पूछा था, उत्तर में धर्म ही कहना चाहिए था, प्रलय और सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन क्यों किया? इस का समाधान मेधातिथि और गोविन्दराज यह करते हैं, कि भिन्न २ प्राणियों की सृष्टि सब धर्म अधर्म का फल है। अधर्म का फल नीच योनियां, और धर्म का उत्तम योनियां हैं, ऐसा जानकर मनुष्य अधर्म से बचकर सदा धर्म में मन को लगाएगा, इसलिए सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन से शास्त्र का भारी प्रयोजन वाला बतलाया गया है। कुल्लूकभट्ट कहता है, कि यह प्रयोजन बारहवें अध्याय से सिद्ध होजाता है, जहां धर्म अधर्म का फल विविध गतियां बतलाई हैं। इसलिए वह मेधातिथि और गोविन्दराज से सहमत न होकर यह तात्पर्य कहता है, कि यहां प्रलय और सृष्टि का वर्णन ब्रह्मज्ञान के लिए है, क्योंकि सृष्टि और प्रलय ब्रह्म में होती है।

ततः स्वयम्भूर्भगवानऽव्यक्तोव्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीन् तमोनुदः ॥६॥

तब * भगवन् स्वयम्भू जिसकी (रचना-) शक्ति कार्य्योन्मुख † हुई है, वह उस अन्धेरे को हटाता हुआ, अव्यक्त हुआ भी इस महाभूत आदि ‡ को व्यक्त करता हुआ प्रकट हुआ ॥६॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः सएव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥

वह, जो इन्द्रियों से परले (= आत्मा) का ग्राह्य * सूक्ष्म अव्यक्त, सनातन (सदा से है), सब भूतों का अन्तर्यामी, अचिन्त्य (है), वही स्वयं प्रकट हुआ ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अपएव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

और ब्रह्मज्ञान परम धर्म है, इसलिये पहले अध्याय में इस परम धर्म का निरूपण करके पीछे संस्कारादि धर्मों का निरूपण दूसरे अध्याय से लेकर है, क्योंकि संस्कारादि धर्म ब्रह्मज्ञानरूप परमधर्म के अङ्ग हैं ॥ "पर सृष्टिउत्पत्ति का वर्णन धर्मशास्त्र में अनावश्यक है, गौतमादि धर्मसूत्रों में कहीं नहीं किया । तद्वत् मानवसूत्रों में भी अवश्य नहीं होगा । सो मानवधर्म सूत्रों के अनुसार प्रश्न तो धर्मविषयक ही उठाया है, किन्तु मनु का प्रथम सृष्टि में उत्पत्तिसे मनु का महत्त्व, और उस से धर्म शास्त्र का मिलना बोधन करने के लिये मनुस्मृति के सम्पादक ने यह स्वयं कहा प्रतीत होता है"

(सम्पादक)

* तब प्रलयकाल की समाप्ति पर † वृत्त = प्रवृत्त सृष्टि रचना की ओर । ‡ महाभूत = पञ्चभूत, और-आदि = बाकी सृष्टि ॥

* अव्यक्त परमात्मा मन वाणी की पहुंच से परे केवल आत्मा का ही विषय है (सविस्तर देखो वेदोपदेश में परब्रह्म का वर्णन) ।

उस (भगवान्) ने अपने शरीर * से भिन्न २ प्रकार के जीवों को रचने की इच्छा करते हुए, ध्यान से, पहले जलों (पानी की तरह पतला द्रवावस्था में मादा) को रचा, और उनमें अपना बीज छोड़ा ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

वह (बीज) सूर्य तुल्य चमकवाला एक सुनहरी (= लाल भखता हुआ) अण्डा (= गोला) होगया, उस (अंडे) में वह स्वयं † ब्रह्मा (होकर) प्रकट हुआ, जो सारे लोकों का पितामह ‡ है॥

प्रकृति-प्रसङ्ग से परमात्मा का नाम जो नारायण है, उसका निर्वचन बतलाते हैं :-

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

जल नार कहे जाते हैं, क्योंकि जल नर के पुत्र हैं । जिस लिये वह (जल) इस (परमात्मा) का पहला घर है, इसलिये वह नारायण † कहलाया है ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११॥

---

* परमात्मा का शरीर प्रकृति है (देखो वेदोपदेश)।

† अव्यक्त ही इस सुनहरी गोले में प्रकट हुआ, वही इस प्रकटरूप में हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहा जाता है (मिलाओ ऋ० १०।१२१) ‡ ब्रह्मा सारे लोकों का पितामह इससे है, कि ब्रह्मा से आगे विराट् (स्थूल जगत्) और विराट् से सारी प्रजाओं की उत्पत्ति है ॥

* नार+अयन=नारायण, नार=जल, अयन=घर । जल जिस का घर है । इससे नर परमात्मा का नाम सिद्ध ही है ॥

वह (पहला) कारण जो अव्यक्त, नित्य, व्यक्त अव्यक्त स्वभाववाला है* उससे रचा वह पुरुष लोक में ब्रह्मा प्रख्यात है।११

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनोध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥

उस अण्डे में वह भगवान् पूरा वर्षभर † निवास करके आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे के दो टुकड़े करते भये ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्येव्योमदिशश्चाष्टा वपांस्थानंच शाश्वतम् ॥१३॥

उन दोनों टुकड़ों से उसने द्यौ और भूमि को, और (उनके) मध्य में आकाश और आठों दिशाएं ‡ और जल का नित्य स्थान § बनाया ॥ १३ ॥

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥१५॥

और (जीवों के भोग के लिये) अपने आपसे उसने व्यक्त अव्यक्त स्वभाववाला (समष्टि) मन निकाला, जो अभिमान करने

---

* सूक्ष्म स्वरूप में अव्यक्त और स्थूल स्वरूप में व्यक्त (प्रकट) है॥

† उस गोले का पूरा दौरा (Cyclic Motion)

‡ आठों दिशाएं, चार दिशा, और चार कोणे, § जल का नित्य स्थान=अन्तरिक्ष का समुद्र। पृथिवी का समुद्र आगे २४ में कहेंगे ॥

वाला और (अपने कार्य) में समर्थ है ॥ १४ ॥ और महान् आत्मा(समष्टिबुद्धि)को और सब तीन गुणोंवालों को,और विषयों के ग्रहण करनेवाले पांचों इन्द्रियों को क्रमशः (निकाला)*॥१५॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

उन अपरिमित शक्तिवाले छहों (मन और पांचों इन्द्रियों) के सूक्ष्म अवयवों को अपने(शरीर के) अंशों में जोड़कर सब भूतों (घास से लेकर मनुष्य पर्यन्त)को रचा, (ब्रह्मा के शरीर के अंशों से भूतों के शरीर रचेगए, और उन शरीरों में ब्रह्मा के समष्टि मन और इन्द्रियों से व्यष्टिरूप होकर मन और इन्द्रियां उनमें प्रविष्ट हुईं) ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥१७॥

जिस लिए उस (उत्पन्न हुए भूतमात्र) की मूर्त्ति के अवयव इन छहों इन्द्रियों का आश्रय लेते हैं, इसलिए बुद्धिमान पुरुष (उस भूत मात्र) की मूर्त्ति को शरीर कहते हैं ॥ १७ ॥

---

* द्यौ और पृथिवी की रचना के पीछे भूतों की उत्पत्ति के लिये ब्रह्मा ने पहले,अपने आपसे = अपने शरीरांशसे,समष्टि मन को निकाला, मन जोकि अपने कार्यों से व्यक्त और स्वरूप से अव्यक्त है। मन से अहंकार (मैं हूं, इसप्रकार स्वरूप ज्ञान का साधन) और बुद्धि तत्त्व प्रकट हुआ। और क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् गुणोंवाले सब विषय और विषयों के ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय निकाले ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

उस (शरीर) में अपने कर्मों समेत महाभूत * प्रवेश करते हैं, और सूक्ष्म अवयवों (इन्द्रियों) समेत मन, जो सब भूतों का बनाने वाला † अविनाशी है ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यःसंभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९

(इसप्रकार) बड़ी शक्ति वाले, उन सात पुरुषों ‡ की सूक्ष्म मूर्त्ति मात्राओं से यह (भूत ग्राम) उत्पन्न होता है, अविनाशी से विनाश शील ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणःस्मृतः ॥ २०

इनमें से पहले २ के गुण को परला २ प्राप्त होता है। इन में से जो २ जितवां है, वह २ उतने गुणोंवाला कहा गया §॥२०॥

---

* महाभूत-आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी। उन के कर्म-अवकाश देना, रचनामें लाना, पकाना, इकट्ठा करना, धारण करना।

† मन की वासनानुसार ही सब भूतों की उत्पत्ति है।

‡ श्लोक १६ में कहे छः मन इन्द्रिय और सातवीं आत्ममात्रा शरीरांश। ब्रह्मा को पुरुषरूप वर्णन किया है, और उसका शरीररूप होने से इन सातों को पुरुष कहा है ॥

§ पहली भूतोत्पत्ति औषधियें थीं, उनमें जो गुण-अपने जीवन का पोषण और अपने सदृश सन्तानका उत्पन्न करना आदि था, वह उससे अगली सजीव सृष्टि=पशु पक्षियों में रहा, किन्तु उनसे

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

पर उस (ब्रह्मा) ने आदि में सब के नाम और कर्म अलग अलग, और अलग२ मर्यादाएं वेद के शब्दोंसे ही रचीं ॥*२१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥२२॥

बढ़कर उनमें चेतनताकी प्रकाश हुआ और सबसे बढ़कर मनुष्य में सभ्यताके और परलोक साधन के गुण प्रकट हुए। १४-२० तक की व्याख्या में टीकाकारोंका मतभेद है। प्रायः वह १४वेंमें सांख्यानुसार वा भास्करीय वेदान्तानुसार सृष्टि का वर्णन फिर आरम्भ करते हैं। सांख्य का क्रम ठीक रखने के लिए चौदहवें में 'मन से अहंकार' के स्थान 'पूर्व' ऊपर से लगाकर 'मन से पूर्व अहंकार', और महान् आत्मा, के स्थान 'अहंकार से पूर्व महान् आत्मा,' अर्थ करते हैं; 'सारे तीन गुणोंवालों' से पांच तन्मात्रा, तात्पर्य लेते हैं। १७ में ब्रह्मा के शरीरका व्युत्पादन करते हैं। १८ में पञ्चतन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति बतलाते हैं (आविशन्ति का अर्थ उत्पद्यन्ते करते हैं) १९ में सात-पुरुष महत् अहंकार और पांच तन्मात्रा लेते हैं। और २० में पांच महाभूतों के गुणों का वर्णन लेते हैं, थोड़ा २ सा भेद सब में है। मेरा व्याख्यान उनसे स्वतन्त्र है, पर बहुत सोच समझ कर है, मेरा अर्थ १३ वें से आगे बराबर सम्बन्ध खाता चला आता है। और अध्याहारादि के बिना स्वरसतः अर्थ बनता चला आता है, अपितु इससे अगले २१ वें से सम्बन्ध भी ठीक रहता है॥

* सब के नाम=ओषधि, वनस्पति, पशु, पक्षी मनुष्यादि के वैदिक नाम। और कर्म=ब्राह्मण का अध्ययनाध्यापनादि और क्षत्रिय का प्रजारक्षणादि। मर्यादाएं=विवाहादि सम्बन्ध की मर्यादाएं। वेद शब्दों से ही रचीं, क्योंकि यह पहले कल्प की सृष्टि के अनुसार सृष्टि रची, जैसाकि कहा है:-(धाता यथा पूर्वमकल्पयत्)॥

और उस प्रभु ने कर्म स्वभाववाले देवताओं के, प्राणियों, और साध्यों के सूक्ष्मगण को और सनातन यज्ञ को रचा॥२२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ २३ ॥

और उसने अग्नि वायु और सूर्य से ऋग्, यजु, सामस्वरूप तीन प्रकार का वेद यज्ञ की सिद्धि के लिए दोहा (जैसे थनों में पहले ही विद्यमान दूध दोहा जाता है, इस प्रकार पहले ही विद्यमान सनातन वेद को दोहा) ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तींश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्शैलान्समानि विषमाणि च ॥२४॥

और उसने काल और काल के भेद (दिन, रात, मासादि) नक्षत्र, तथा ग्रह, नदियें, सागर, पर्वत, मैदान और ऊंचे नीचे (स्थान और–) ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥२५॥

तप, बाणी, रति (खुशी) काम और क्रोध यह सारी सृष्टि उसने रची, जब इन प्रजाओं को उसने रचना चाहा ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥२६॥

और कर्मों के (=यह करना है, यह नहीं करना है, इस प्रकार) निखरने के लिए उसने धर्म अधर्म को अलग किया

(धर्म को अधर्म से निखेर दिया) और इन प्रजाओं को (धर्म अधर्म के फल जो) सुख दुःखादि द्वन्द्वों से (एक दूसरे विरोधी जोड़े हैं, उनसे) युक्त किया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां तु याःस्मृताः
ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

किन्तु यह सब अनुक्रम से*उनके द्वारा बना है, जो पांचों की सूक्ष्ममात्रा † परिणाम शील हैं ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥२८॥

जिस (प्राणी) को जिस कर्म में उस प्रभु ने आदि में लगाया, वह फिर २ जब उत्पन्न हुआ, उसी में अपने आप लगा ॥२८॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥२९॥

हिंसावाला, अहिंसावाला, कोमल, कठोर, धर्म, अधर्म, सच, झूठ जो (कर्म) जिसका उसने सृष्टि के समय धारा हुआ था, वह उसका अपने आप (वासनानुसार उसमें) आविष्ट हुआ॥२९॥

यथर्तुलिंगान्यृत्तवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥३०॥

---

* ऊपर सृष्ट वस्तुएं आगे पीछे करके कहीं हैं, उनकी उत्पत्ति का क्रम वही जानना चाहिए, जिस क्रम से यह उत्पन्न होती हैं, यहां का क्रम विवक्षित नहीं ॥

† पांचों भूतों की सूक्ष्म तन्मात्रा हैं ।

जैसे ऋतु पलटने पर ऋतुएं अपने २ ऋतु के चिन्हों को प्राप्त होती हैं (बसन्त में आम पर मञ्जरी आती है और वर्षा में वृष्टि आती है) वैसे प्राणधारी (अपने आप) अपने २ कर्मों को (प्राप्त होते हैं) ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

और लोकों की वृद्धि के लिए मुख, भुजा, रानों, और पाओं से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को रचा ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

अपने देह के दो भाग करके आधे से पुरुष होगया, और आधे से नारी, उस (नारी) में से उस प्रभु ने विराट्*को उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे द्विजों में श्रेष्ठो ! फिर विराट् ने तप करके जिसको रचा, वह मुझे समझो, जो (आगे) इस सब का रचने वाला है॥३३॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

* सूक्ष्म जगत् ब्रह्मा का शरीर है, उससे स्थूल समष्टि जगत् विराट् उत्पन्न हुआ। विराट् से आगे मनु=मन्वन्तर चला मन्वन्तर की चराचर सृष्टि मनु की सन्तान हुई। इसी लिए ब्रह्मा सब का पितामह है। इतना अंश तो रूपक से है ॥

फिर मैंने प्रजाओं को रचने की इच्छा से बड़ा उग्र तप करके पहले १० महर्षि उत्पन्न किये, जो प्रजाओं के पति (प्रजापति) (कहलाते) हैं ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेवच ॥ ३५॥

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३५ ॥

एते मनूंस्तुसप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

यह फिर और बड़े तेजवाले सात मनुओं को, देवताओं को, देवगणों को और अपरिमित पराक्रमवाले महर्षियों को रचते भए ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान्॥३७॥

यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, असुर, नाग, सर्प, सुपर्ण और पितरों के अलग २ गण * ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥३८॥

बिजली (चमकनेवाली) वज्र (गिरनेवाली बिजली) मेघ, रोहित (आधा इन्द्र धनुष) और पूरा इन्द्र धनुष, उल्का (गिरने वाले तारे) निर्घात (आकाश या पृथिवी के उत्पात शब्द)

* पितरों के अलग २ गण देखो मनु ३ । १९४-१९९ ।

केतु (पूंछवाले तारे) और भिन्न २ प्रकार के तारे ॥ ३८॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्चविहंगमान् ।
पशून्मृगान् मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः॥३९॥

(घोडे के मुखवाले) किन्नर, वानर, मछलिएं, भान्ति २ के पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य और दोनों ओर के (ऊपर नीचे के) दांतोंवाले हिंस्रजीव ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतंगांश्च यूका मक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

कृमि, कीडे, पतङ्गे, जूं, मक्खी, खटमल सभी, डांस, मच्छर (डसने काटने वाले) और भिन्न प्रकार के स्थावर (वृक्ष, झाडी बेल आदि) ॥ ४० ॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्मतपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

इसप्रकार इन महात्माओं ने मेरी आज्ञा से और अपने तप के प्रभाव से यह सब स्थावर जङ्गम अपने२ कर्मानुसार रचा है ॥४१॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्त्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥४२॥

इस (संसार) में जिन भूतों का जैसा कर्म (पूर्वाचार्यों) ने कहा है, वह तुम्हें वैसा बतलाऊंगा, और जन्म में (जो) क्रम योग है (जिस क्रम से जन्म होता है) ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्चजरायुजाः ॥४३॥

पशु, मृग, दोनों ओर के दांतोंवाले हिंस्रजीव, राक्षस, पिशाच और मनुष्य जरायुज (जेर=गर्भ की झिल्ली में उत्पन्न होनेवाले) हैं ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्चकच्छपाः ।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानिच ॥४४॥

पक्षी, सांप, घड़ियाल, मछलियें, और कछुए, और जो इसीप्रकार के स्थल वा जल में उत्पन्न होने वाले हैं यह सब अण्डज (अंडों से उत्पन्न होने वाले) हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥४५॥

डांस, मच्छर, जूं, मक्खी, खटमल-स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होनेवाले) हैं, और भी जो कोई इसप्रकार का जन्तु गर्मी से उत्पन्न होता है (स्वेदज) है ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीज वा काण्ड (डाली में जोड़) से उगने वाले सारे स्थावर, उद्भिज्ज (भूमि को फोड़कर उत्पन्न होने वाले) हैं, (उन में से) ओषधियें वह है, जो बहुत फूल फलों से भरी हुई फल पकने पर नाश होती हैं (एक ही बार पकती हैं) ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥४७॥

जो फूल के बिना फलवाले होते हैं, वह वनस्पति कहलाते हैं, और जो फूल और फल दोनों वाले हैं, वह वृक्ष कहलाते हैं ॥४७॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्यएवच ॥ ४८ ॥

अनेक प्रकार की झाडियें, जो एक जड से, वा अनेक जडों से होती हैं, और घास की (भिन्न २) जातियें, प्रतान (भूमि पर फलनेवाली वेलें, खीरा, कद्दू आदि) और वेलें (वृक्षों पर चढ़नेवाली गिलो आदि) यह सब बीज और काण्ड से ही उत्पन्न होनेवाले (उद्भिज्ज) है ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥४९॥

यह (उद्भिज्ज) (अपने पिछले जन्म के) कर्म के फल से अनेक प्रकार के अन्धेरे से ढपे हुए * पर भीतर छुपे ज्ञानवाले और सुख दुःख से युक्त होते हैं † ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरेस्मिन्भूतसंसारे नित्ये सततयायिनि ॥ ५० ॥

---

* मिलाओ १२ । ४२ † पौदे सजीव हैं दूसरे सजीवों की तरह उगते, बढ़ते और मरते हैं । अपने शरीर पर लगे घाव को अपने अन्दर से भरते हैं । अपने जैसी संतान उत्पन्न करते हैं । नर नारी का भेद भी इनमें है । नरनारी के बीज के मेल से ही इनमें फल फूल आते हैं, जो, वायु वा भौरों के द्वारा होता है । लाजवंती का पौदा रात को सोता दिन को जागता है । सर्दी गर्मी आदि को सभी पौदे अनुभव करते हैं । खिडकी में कुछ गमले रक्खें, तो उनके पौदे पहले की तरह सीधे न रहकर धूप और प्रकाश लेने के लिए टेढे होकर बाहर निकल जाते हैं ॥ इत्यादि ॥

इस बदलते रहनेवाले घोर, भूत संसार (जीवों के जन्म मरण के चक्र) में ब्रह्मा से लेकर यहांतक गतियां बतलाई हैं ॥५०॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥५१॥

इसप्रकार वह अचिन्त्य शक्तिवाला (प्रभु ब्रह्मा) इस सारे को और मुझको रच करके काल को काल से (सृष्टि काल को प्रलय काल से) दबाता हुआ बार २ अपने आप में छिपा लेता है ५१॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥

जब वह देव जागता है, तब यह जगत चेष्टा करने लगता है, जब शान्तात्मा होकर सो जाता है, तब सारा (विश्व) आंख मूंद लेता है (सो जाता है) ॥ ५२ ॥

तस्मिन् स्वपति तु स्वस्थे तु कर्मात्मनः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३॥

जब वह चुपचाप की नींद सो जाता है, तो वह शरीरधारी, जिनकी प्रकृति कर्म करने की है, अपने कर्मों से निवृत्त होते हैं, और मन स्थिति को प्राप्त होता है । ५३ ।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदाऽयं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥ ५४ ॥

और जब एक साथ उस महान् आत्मा में प्रलीन होते हैं, (महा प्रलय में), तब यह सब भूतों का आत्मा शान्त होकर

सुख से सोता है *। ५४।

संगति-प्रलय के प्रसंग से जीव का शरीर से निकलना और प्रवेश बतलाते हैं—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥ ५५॥

जब यह (जीव) इन्द्रियों समेत देर तक अन्धेरे में प्रवेश करके (=मूर्छित होकर) रहता है, और अपना काम (सांस लेना आदि) नहीं करता है, तब शरीर से निकलता है। ५५।

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥ ५६॥

जब सूक्ष्म मात्राओं * वाला होकर (सूक्ष्म शरीर से) युक्त हुआ चर अचर बीज में प्रवेश करता है, तब शरीर को धारता है। ५६।

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः॥ ५७॥

इस प्रकार वह अविनाशी सोने जागने से इस सब चर अचर को लगातार जिलाता है और मारता है। ५७।

---

* मनुष्य जैसे दिन को काम करते और रात को काम बन्द करके सोते हैं, इसी तरह परमात्मा का सोना जागना सृष्टि के काम में लगने और उस से निवृत्त होने के भाव में कहा है। वास्तव सोना जागना उस में नहीं।

* सूक्ष्म मात्राएं=भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि वासना, कर्म, प्राण, और अविद्या यह आठ। इसी का नाम पुर्यष्टक है (कुल्लूक भट्ट)

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥५८॥

और यह शास्त्र रच कर स्वयं उस (ब्रह्मा) ने आदि में मुझे ही विधि अनुसार सिखलाया, और मैंने मरीचि आदि मुनियों को (सिखलाया)।५८।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

यह भृगु तुम्हें यह सारा शास्त्र सुनाएगा, क्योंकि इस मुनि ने सारा अपने पूर्णरूप में मुझ से पढ़ लिया है। ५९।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

तब उस मनु से ऐसे कहा हुआ वह भृगु प्रसन्नचित्त हुआ उन सब ऋषियों से बोला 'सुनिये'। ६०।

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥६१॥

स्वयम्भू के पुत्र इस मनु के वंश में और छः उदार हृदय और महा शक्ति वाले मनु अपने २ अवसर पर प्रजा को रचते भए।

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

(वह यह हैं)—स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, विवस्वान् का पुत्र (=वैवस्वत) (जो) बड़ा तेजस्वी (हुआ है)। ६२।

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वेस्वेऽन्तरेसर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

स्वायंभुव आदि सातों यह महातेजस्वी मनु अपने २(अधिकार के) समय में प्रजा को उत्पन्न करते और पालते भए *।६३।

अब प्रसंग से मन्वन्तर और सृष्टि प्रलयकालका परिमाण कहते हैं ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अठारह निमेष (आंख का पलक मारना) एक काष्ठा, तीस काष्ठा एक कला, तीस कला एक मुहूर्त, और उतने (=३०) मुहूर्त्त एक दिन रात (होता है) ॥ ६४ ॥

---

* एक कल्प में मनु १४ होते हैं। इस समय तक सात मनु हो चुके हैं, जो ऊपर गिना दिये हैं :—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, वैवस्वत। इनमें एक २ का अन्तर (अधिकार का समय) आगे बतलाएंगे। मनु एक समय को समझकर,तो यह समझ में आजाता है, कि विराट् से आगे जितना काल ७१ चतुर्युगियों का है, वह काल एक मनु वा एक मन्वन्तर (मनु का अवसर) है। उससे आगे इतना २ ही दूसरा तीसरा आदि मनु। इस अवसर में जो २ चर अचर की उत्पत्ति, वा त्रिलोकी में नई घटना मेघ आदि की उत्पत्ति वा नक्षत्रों के उदय अस्त की होती है, वह सब इस मनु की प्रजा है। (देखो ३४-४८) और मनु (काल) उसका राजा है। इस अवसर के सर्वमान्य धर्मों के प्रवर्त्तक राजा को मनु और उसके धर्म को मानवधर्म कहना सम्भव है। पर यहां काल और राजा दोनों को मिला जुला दिया है। इस श्लोक से यह भी प्रतीत होता है, इस स्मृति का सम्पादक इस सातवें वैवस्वतमनु में हुआ है, सम्पादक का यह प्रयत्न, कि इस स्मृति को स्वायम्भुव मनु की माना जाय, प्रयत्नमात्र ही है ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥६५॥

दिनरात जो मनुष्य और देवताओं के हैं, इनका विभाग सूर्य * करता है, रात भूतों के सोने के लिए, और दिन कामों की दौड़ धूप के लिए ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

महीना पितरों के दिनरात हैं, (उनका) विभाग पक्षों में (होता है) कृष्ण (पक्ष) कर्म की दौड़ धूप के लिए दिन, और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात है ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

एक बरस देवताओंका दिनरात है, उनका विभाग (यह है) उत्तरायण उसमें दिन होता है दक्षिणायन रात † है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

अब ब्रह्मा के दिनरात का और अलग २ एक २ युग का जो परिमाण है, उसे क्रम से संक्षेपतः सुनो ॥ ६८ ॥

---

* पितरों के दिनरात का चन्द्रमा विभाग करता है देखो ६६ ।

† ६६, ६७—कर्मी चंद्रलोक को जाते हैं, और पितर कहलाते हैं उपासक सूर्य लोक को जाते हैं, और देव कहलाते हैं ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्चतथाविधः ॥६९॥

चार हजार वर्षों का सतयुग कहते हैं, उसकी उतने सौ की सन्ध्या और वैसा ही सन्ध्यांश होता है ॥ ६९ ॥

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु ।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

(अपनी २) सन्ध्या और सन्ध्यांश समेत जो दूसरे तीनों युग (त्रेता, द्वापर, कलियुग) हैं, उनमें हज़ार वा सैकड़ा एक २ के घाटे से रहते हैं ॥ ७० ॥

---

* ऊपर ६७ में देवताओं का दिनरात चला हुआ है, अतएव ६९, ७० में भी देवताओं के ही बरस अभिप्रेत हैं। हमारे वर्ष का देवताओं का एक दिनरात, सो हमारे ३६० वर्ष का देवताओं का एक वर्ष। सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि यह चार युग क्रम से है।

इनमें पहले युग (सत्ययुग) की आयु ४००० दिव्य वर्ष। इतने ही सौ वर्षों की उसकी संध्या अर्थात् ४०० वर्ष की संध्या और इतने ही सौ वर्षका संध्यांश अर्थात् ४०० वर्षका संध्यांश। ४०० वर्ष संध्या और ४०० संध्यांश अर्थात् ८०० मिलाकर ४८०० वर्ष का सत्ययुग हुआ। आगे युग की आयु में से एक २ हजार और संध्या संध्यांश में से एक २ सौ घटाते आने से त्रेता द्वापर और कलि होते हैं। अर्थात् त्रेता के ३००० वर्ष। उसकी ३०० वर्ष की संध्या और ३०० वर्ष का ही संध्यांश। सन्ध्या सन्ध्यां समेत ३६०० वर्ष का त्रेता, इसी प्रकार आगे एक २ घटाने से २४०० वर्ष का द्वापर, १२०० का कलियुग। यह दिव्य वर्ष हैं, मानुषवर्ष ३६० में गुणने से होजाते हैं। अर्थात् ४८००×३६०=१७२८००० मानुषवर्षों का सत्ययुग ३६००×३६०=१२९६००० का त्रेता। २४००×३६०=८६४००० का द्वापर, १२००×३६०=४३२००० का कलियुग ॥

यदेतत्परि संख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

यह जो पहले ही बारह हजार (वर्ष) का चतुर्युग गिना है, * यह देवताओं का युग कहलाता है ॥ ७१ ॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिरेवच ॥ ७२ ॥

देवताओं के युगों की एक हजार संख्या, एक ब्रह्मा का दिन जानो, और उतनी ही लंबी रात † ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्य महर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥७३ ॥

वह जो ब्रह्मा के उन पुण्य दिन को जानते हैं, जो देवताओं के हजार युग पर्यन्त है, और उतनी ही लम्बी रात्रि को जानते हैं, वह (वस्तुतः) दिन और रात (की लंबाई) जानने वाले हैं ॥७३॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

उस दिन रात के अन्त में, वह जो सोया था, जागता है,

---

* ४८००+३६००+२४०० +१२००=१२००० दिव्य वर्ष का एक दिव्ययुग । दिव्ययुग हमारी चतुर्युगी का है । हमारी चतुर्युगी जिसके दिव्यवर्ष १२००० हैं, मानुषवर्ष ४३२०००० है ॥

† एक हजार दिव्य युग अर्थात् चतुर्युगियों का ब्रह्मा का एक दिन । अर्थात् १२०००X१००० = १२०००००० दिव्य वर्ष वा ४३२०००० X१००० = ४३२०००००००० मानुषवर्षों का एक ब्राह्म दिन, यह सृष्टि का समय है, इतनी लम्बी ही ब्राह्मरात्रि, यह प्रलय का समय है ॥

और जागा हुआ व्यक्त अव्यक्त स्वभाव वाले*मन को रचता है ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः॥७५॥

मन (ब्रह्मा की) रचने की इच्छा से प्रेरा हुआ रचना को बदलता है उससे आकाश उत्पन्न होता है, उसका शब्द गुण जानते हैं ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवान् जायते वायुः सवै स्पर्शगुणोमतः ॥७६॥

जब आकाश बदलता है, तो उससे सारे गन्धों का लेजाने वाला, शुद्ध बलवान् वायु उत्पन्न होता है, वह स्पर्श गुणवालाहै

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥७७॥

वायु भी जब बदलता है, तो उससे चमकीला, अन्धेरे का हटाने वाला, प्रकाशक तेज उत्पन्न होता है, वह रूप गुण वालाहै

ज्योतिषश्चविकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥७८॥

जब तेज बदलता है, तो उससे जल, वह रस गुणवाले माने गये हैं, जलों से गन्ध गुणवाली पृथिवी, इस प्रकार यह आदि में सृष्टि हुई ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७९॥

---

* देखो पूर्व: १४ ॥

पूर्व जो बारह हज़ार का देवयुग कहा है, वह इकहत्तर गुणा यहां मन्वन्तर कहाता है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहारएव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८०॥

मन्वन्तर और (जगत्की) सृष्टि और प्रलय अनगिनत हैं, ब्रह्मा मानो खेलता हुआ इस (सब) को बार २ करता है * ॥८०॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रतिवर्त्तते ॥८१॥

सत्ययुग में धर्म चारपाओं वाला सारे अंगों में † पूर्ण

---

* एक कल्प में तो १४ ही मन्वन्तर होते हैं, पर जब कल्प ही अनगिनत हुए, तो मन्वन्तर सुतरां अनगिनत हैं। ७१ दिव्ययुगों वा चतुर्युगियों का मन्वन्तर, और १४ मन्वन्तर का कल्प होता है। इस गिनती में ७१×१४=९९४ दिव्ययुग एक कल्प में आते हैं, पर पूर्व १००० दिव्ययुग का एक कल्प कहा है। अर्थात् १४ मन्वन्तरों के हिसाब ६ दिव्ययुग न्यून रहते हैं। इसका उत्तर सूर्य सिद्धान्त में दिया है। कि सत्ययुग के आयु जितनी मन्वन्तर की सन्ध्या होती है, जो हर एक मन्वन्तर के आदि में गिनी जाती है, और चौदहवें मनु के अन्त में भी होती है। अर्थात् चौदह मन्वन्तर के साथ पन्द्रह सन्ध्या होती हैं। सो सत्ययुग के दिव्य वर्ष ४८००×१५=७२००० इसको १२००० (जो दिव्ययुग का आयु है) पर बांटा तो ६ आए। सो ६ और ९९४ मिल कर १००० दिव्ययुग वा चतुर्युगी पूरी होजाती है।

† किसी पूर्णवस्तु के चार ही पाद कहे जाते हैं। और धर्म को तो यूं भी ८। १६ वें बैलरूप वर्णन करेंगे, अथवा ८६ में कहे

था, और ऐसी ही सचाई थी † न ही कोई कमाई ‡ अधर्म से मनुष्यों की होती थी ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैतिपादशः ॥८२॥

दूसरों में (अन्याय की) कमाई से धर्म पाद २ करके घटता गया, चोरी, झूठ और छल के द्वारा धर्म पाद २ घटता है ॥८२॥ *

अरोगाःसर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसतिपादशः ॥८३॥

रोगों से रहित, मनोरथ जिनके सब पूरे होते हैं, चार सौ वर्ष की आयु वाले (मनुष्य होते हैं) सत्ययुग में, त्रेता आदि में में इनकी आयु (इससे) पाद २ घटती जाती है ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्चशरीरिणाम् ॥८४॥

सत्य, ज्ञान, यज्ञ और दान यही चार पाओं हैं † सचाई भी धर्म है, प्रधानता दिखलाने के लिये अलग कही है। सचाई भी पूरी सांगोपांग थी, सीधी सरल सचाई थी, अन्दर छल कपट से मिली बाहरी सचाई का नाम न था। ‡ कमाई धन विद्यादि को । नन्दन "नाधर्मेणागमः कश्चित्" के स्थान 'ना धर्मो नागमः काश्चित्' पाठ पढ़कर यह अर्थ करता है, न अधर्म था, न कोई शास्त्र=धर्म शास्त्र था, क्योंकि अनावश्यक था।

* सत्ययुग की कमाई में अन्याय का नाम न था, त्रेता, द्वापुर, कलि में कमाई में अन्याय का मेल होता गया, चोरी झूठ और छल भी कमाई के लिये बर्ता जाने लगा, और अधिक २ बढ़ता गया

वेदों में कही मनुष्यों की आयु, कर्मों के फल, और शरीर धारियों के प्रभाव लोक में युग के अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥८५॥

सत्ययुग में मनुष्यों के और धर्म होते हैं, और युग की घटती के अनुरूप त्रेता में और, द्वापर में और, और कलियुग में और होते हैं ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥८६॥

सत्ययुग में प्रधान (धर्म) तप कहाजाता है, त्रेता में (देवताओं का) ज्ञान, द्वापर में यज्ञ ही कहते हैं, और कलियुग में अकेला दान ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥८७॥

इस सारी सृष्टि के रक्षा की अर्थ उस महातेजस्वी ने मुख, भुजा रान और पाओं से उत्पन्न हुओं के कर्तव्य अलग २ नियत किये

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥८८॥

(वेद का) पढ़ाना और पढ़ना, यज्ञ करना और कराना, (दान) देना और लेना ब्राह्मणों का नियत किया ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥८९॥

प्रजा की रक्षा करना, (दान) देना, यज्ञ करना (वेद का) पढ़ना, और विषयों (खुशियों) में न फंसना, क्षत्रिय का बतलाया ॥८९॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

पशुओं का पालन, दान, यज्ञ और (वेद का) पढ़ना, सौदागरी ब्याज और खेती वैश्य का (बतलाया) ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

एक ही कर्म प्रभु (ब्रह्मा) ने शूद्र का बतलाया है, कि नर्मी से इन्हीं वर्णों की सेवा ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥९२॥

पुरुष नाभि से ऊपर (नीचे की अपेक्षा) पवित्रतर कहा है, इस कारण ब्रह्मा ने इसका मुख पवित्रतम (अंग) कहा है † ॥९२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण जिस लिये (ब्रह्मा के) मुख से जन्मा है, सबसे बड़ा है (सब से पहले जन्मा है), और वेद को धारण करता है, इस लिये वह धर्म से (by Right) इस सारे सर्ग का प्रभु है ॥ ९३ ॥

---

* ८७ देखो पूर्व ३१ † ८८–९१ देखो आगे १० । ७५–७९, ९९ । ‡ ९२ देखो आगे ५ । १३२ ।

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

क्योंकि उसको ब्रह्मा ने तप तपकर* देवता और (पितरों का) हव्य और कव्य पहुंचाने के लिये और (अपने कर्तव्य के उपदेश से) इस सारे जगत की रक्षा के लिये सबसे पहले अपने मुख से रचा है ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किम्भूतमधिकं ततः ॥९५॥

जिस के मुख से देवता सदा हव्य और पितर कव्य खाते हैं, उस से अधिक (और) कौन भूत (हो सकता है) ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनां श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

भूतों में सांस लेने वाले श्रेष्ठ हैं, सांस लेनेवालों में बुद्धि से जीने वाले, बुद्धि वालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में ब्राह्मण माने हैं।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणों में (वेद के) जानने वाले, जानने वालों में कृतबुद्धि,† कृत बुद्धियों में अनुष्ठानी, अनुष्ठानियों में ब्रह्म के जाननेवाले।

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

---

* पवित्र सृष्टि के लिये पहले तप तपना आवश्यक है देखो पूर्व ३३, ३४, ४१ † ९७ कृत बुद्धि। वैदिक कर्म जिस रीति से करने में पूर्ण होते हैं, ऐसी बुद्धि पाए हुए।

ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की सनातन मूर्ति है, क्योंकि वह धर्म (करने कराने) के लिये उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म होने (निर्दोष होकर मुक्त होने) के समर्थ है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथिवी पर ऊंचा हो कर जन्मता है, धर्मकोश की रक्षा के लिये वह सब भूतों का प्रभु है ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

दुनिया में जो कुछ है, यह सब ब्राह्मण का अपना है, अपनी श्रेष्ठ उत्पत्ति के हेतु ब्राह्मण निःसंदेह इस सब के योग्य है ।१००।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥१०१॥

ब्राह्मण अपना खाता है, अपना पहनता है, और अपना देता है, क्योंकि दूसरे मनुष्य ब्राह्मण की कृपा से खाते हैं * ॥१०१॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।
स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥१०२॥

उसके कर्तव्य की विवेचना के लिये, और अनुक्रम से

---

* ब्राह्मण धर्म का उपदेष्टा, और जीविका के उपायों का आविष्कारक और शिक्षक होने से सब उसकी कृपा का फल भोगते हैं। उसमें से जो उसको दिया जाता है, वह उसका हक है। दूसरों का दिया खाने पहनने देने में वह अपना ही खाता पहनता देता है ॥

दूसरों के (कर्तव्य की विवेचना के लिये) ब्रह्मा के पुत्र बुद्धिमान मनु ने यह शास्त्र रचा ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥ १०३

विद्वान् ब्राह्मण ने प्रयत्न से यह शास्त्र पढ़ना चाहिये, और उसीने भलीभांति शिष्यों को पढ़ाना चाहिये, नाकि अन्य किसी ने (पढ़ाना चाहिये) ।

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

इसशास्त्र का अभ्यास करता हुआ और (इस में कहे) व्रतों (यमनियमों) को श्रद्धा से पूरा करता हुआ ब्राह्मण उन पापों से कभी लिप्त नहीं होता, जो मन, वाणी और शरीर से उत्पन्न होते हैं ॥

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्तसप्त परावरान् ।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥१०५ ॥

वह (उस) पङ्क्ति (पंगत) को पवित्र करता है (जिस में बैठता है), और अपने वंश के सात उपरलों (पिता पितामहादि) को और सात निचलों (पुत्र पौत्रादि) को पवित्र करता है, और वह अकेला इस सारी भी पृथिवी (को ग्रहण करने) के योग्य होता है॥१०५॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

यह श्रेष्ठ स्वस्त्ययन (कल्याण प्राप्तिका द्वार) है, यह बुद्धि का बढ़ाने वाला है, यह यश और दीर्घायु का लाने वाला है, यह परम कल्याण (मोक्ष) का लाने वाला है ॥ १०६ ॥

आस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौच कर्मणाम् ।
चतुर्णामपिवर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इस (शास्त्र) में धर्म पूर्णता से कहा गया है, और कर्मों के गुण दोष * और चारों ही वर्णों का सनातन आचार ॥१०७॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् ॥१०८॥

श्रुति और स्मृति में कहा आचार परम धर्म है, इस लिये आत्मवान् (अपने आत्मा का मान रखने वाले) द्विज को इस (के पालन) में सदा सावधान होना चाहिये ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥१०९॥

वह ब्राह्मण, जो आचार से गिर गया है, वेद के फल (वेदोक्त कर्म फल) को नहीं पाता है, हां, जो आचार से युक्त है, वह पूरे फल का भागी होगा ॥१०९॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

इस प्रकार मुनि धर्म की गति आचार से (नींव आचार पर) देख कर, सारे तपों की उत्तम जड़ उन्होंने आचार को ग्रहण किया† ।

संगति—अब अध्याय की समाप्ति तक मनुस्मृति की विषय सूची देते हैं :-

---

* शुभाशुभकर्मों की प्रशंसा और निन्दा, वा कर्मों के अच्छे बुरे फल ।

† आचार पर देखो वासिष्ठ ६ । १-८ ।

जगतश्चसमुत्पत्तिं संस्कार विधिमेवच ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

(अध्याय पहलेमें) जगत् की उत्पत्ति (दूसरे में) संस्कारों का विधान (ब्रह्मचारियों की) व्रतचर्या, और (गुरु की ओर) आदर का वर्त्ताव, (तीसरे में) (गुरुकुल से लौटते समय) स्नान का उत्तम विधान ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥

स्त्री की प्राप्ति (विवाह) और विवाहों के लक्षण, महायज्ञों का विधान और सनातन श्राद्ध विधान ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्यव्रतानि च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेवच ॥११३॥

(चौथे में) जीविकाओं के लक्षण, और स्नातक के व्रत (पांचवें में) भक्ष्य अभक्ष्य, (सूतक पातक का) शौच, और द्रव्यों की शुद्धि ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेवच ।
राज्ञश्चधर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥११४॥

स्त्री धर्म का सम्बन्ध (छठे में) तपस्वियों (वानप्रस्थियों) का धर्म, और मोक्ष (का उपाय) और त्याग (सातवें में) राजा का पूर्ण धर्म (आठवें में) कार्यों (मुकद्दमों) के निर्णय का उपाय ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्री पुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥११५॥

साक्षियों से पूछने का विधान (नवें में) स्त्री पुरुष का धर्म, भाइयों के अलग होने का धर्म, जुआ (जुए से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म) और कांटों (दुष्ट मनुष्यों) का शोधन॥११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानांच सम्भवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णाणां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥११६॥

वैश्य और शूद्र का वर्त्ताव (दसवें में) संकर जातियों की उत्पत्ति, और वर्णों का आपद् धर्म,(ग्यारहवें में) प्रायश्चित्त का विधान है॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥११७॥

(बारहवें में) तीन प्रकार की (सात्विकी, राजसी, तामसी) संसारगति (=पुनर्जन्म) जो (अच्छे बुरे) कर्मों से होती है, परम कल्याण (की प्राप्ति का उपाय) और कर्मों के गुण दोषकीपरीक्षा॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥११८॥

(देश विशेष में नियत) देशधर्म्म, (जाति विशेष में नियत) जातिधर्म (कुल विशेष में नियत) कुलधर्म सनातन, वेद विरोधियों के धर्म और समुदायों (कम्पनियों) के धर्म मनु ने इस शास्त्र में कहे हैं ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

जैसा कि मनु ने पूर्व मेरे पूछने पर यह शास्त्र बतलाया था तुम भी अब वैसा यह (सारा) मुझ से जानो ॥ ११९ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

धर्म, जो (वेद के) जाननेवाले, धर्मात्मा, सदा राग द्वेष से रहित पुरुषों से सेवन किया गया है और हृदय से अनुज्ञा दिया गया है, उसे जानो ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

कामनामय होना अच्छा नहीं, और कामना से सर्वथा शून्य होना इस (जगत्) में है ही नहीं, सो वेद की प्राप्ति और वेद में कहा कर्मसम्बन्ध कामना करने योग्य है ॥ २ ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

कामना(इच्छा) की जड़ निःसन्देह संकल्प (इस से यह फल मिलेगा यह ख्याल) है। यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होते हैं। व्रत और यम धर्म (पाबन्दियां) सब संकल्पजन्य माने हैं ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

कामना से शून्य की कभी कोई क्रिया इस लोक में नहीं दीखती है, क्योंकि (मनुष्य) जो २ करता है वह २ कामना की चेष्टा है ॥

तेषु सम्यग्वर्त्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

उन (कहे कर्मों) में जो ठीक बर्त्तता है * वह अमरावस्था को प्राप्त होता है और इस लोक में उन सारी कामनाओं को प्राप्त होता है । जिनको वह ख्याल करता है ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

वेद सारा धर्म का मूल है, और उस (वेद) के जाननेवालों की स्मृति और शील, और भलों का आचार, और आत्मा का सन्तोष†।

---

* वेदोक्त रीति से पालन करता है और कर्त्तव्य बुद्धि से पालन करता है, न कि फल की कामना से ॥

† मिलाओ वासिष्ठ० १ । ४–६ ; गौतम १ । १–४ ; २८ । ४८ आपस्तम्ब १ । १ । १ । १–३ बौधायन १ । १ । १ । १–६ याज्ञवल्क्य १ । ७ यहां शील और सदाचार दो अलग २ कहे हैं । गौतम धर्मसूत्र १ । १ । २ में शील कहा है, पर सदाचार अलग नहीं कहा, वसिष्ठादि में सदाचार कहा है, शील नहीं कहा, यहां भी आगे १२ में सदाचार कहा है, शील नहीं कहा । शील का भेद दिखलाने के लिए कुल्लूक ने हारीत के प्रमाण से यह १३ कर्म शील लिखे हैं । ब्रह्मण्यता, देव और पितरों में भक्ति, सौम्य स्वाभाव होना, किसी को संताप न देना, किसी से असूया न करना, मृदुता (नर्मी, हलीमी), सख्त न होना, मित्रता, प्रिय बोलना, कृतज्ञता, शरण देना, दया और शांति । पर वस्तुतः शील सदाचार के अंतर्गत ही है । जैसा कि आगे १२ में है । आत्मा का संतोष=जिस के करने में अपने आत्मा को भय शंका लज्जा न हो ॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

जिस किसी (पुरुष) का जो कुछ धर्म मनु ने बतलाया है, वह सारा वेद में कहा है क्योंकि वह (ऋषि) सर्वज्ञ (था) ॥७॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् (पुरुष) इस सब को ज्ञान के नेत्र से पूरा २ देखकर श्रुतिकी प्रमाणता अनुसार अपने धर्म में पक्का हो ॥८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

क्योंकि वह पुरुष जो श्रुति और स्मृति में कहे धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस (लोक) में कीर्त्ति को प्राप्त होता है, और मरने के पीछे सब से उत्तम सुख को ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१०॥

श्रुति वेद जानना चाहिए (वेद का नाम है), और स्मृति धर्मशास्त्र, यह दोनों सब विषयों में बिन बिचारे ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि इन दोनों से धर्म प्रकाशित हुआ है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥११॥

जो द्विज हेतुशास्त्रके आश्रय से इन दोनों(धर्मके) मूलों का

अपमान करे। उस नास्तिक को शिष्ट लोगों ने अलग कर देना चाहिए, जोकि वेदनिन्दक है* ॥ ११ ॥

वेदःस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का सन्तोष, यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण कहते हैं† ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ और काम में न फंसे हुओं के लिये धर्म का ज्ञान विधान किया है, धर्म के जिज्ञासुओं को परम प्रमाण श्रुति है‡ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥१४॥

जहां फिर दो श्रुतियों का भेद हो, वहां वह दोनों धर्म माने गये हैं, क्योंकि बुद्धिमानों ने वह दोनों ही ठीक धर्म्म कहे हैं ¶ ॥

---

* हेतु शास्त्र = परलोक के अविश्वासी चार्वाकादि के शुष्क तर्कों के ग्रन्थ ॥

† इसका पूर्वार्ध याज्ञ० १।७में ऐसा ही है। इनमें पूर्व२ बलवान् है। आत्म सन्तोष पर देखो आगे ४ । १६१ ; ८ । ९२ ; १२ । ३७ ॥

‡ अर्थ काम में डूबे हुए धर्म करेंगे भी, तो दिखलावेका ॥

¶ जिस तरह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हुए भी दो योग (नुसखे) एक रोग को दूर कर सक्ते हैं । इसीतरह धर्म के दो सच्चे साधन भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होसक्ते हैं। पर यह आवश्यक है, कि जहां विरोध भासे, वहां बलाबल को देखले। एक योग अनु-

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

सूर्योदय के समय, उदय से पहले (विरले तारों के समय) वा उषा के समय (लाली पड़ने के समय) किसी भी समय यज्ञ (अग्निहोत्र) होता है यह वैदिकी श्रुति (जतलाती) है ॥१५॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६

गर्भाधान से लेकर श्मशान के कर्म (अन्त्येष्टि) पर्यन्त जिस का मन्त्रों से कर्म बतलाया है, उसका (=द्विजोंका) इस शास्त्र (के अभ्यास) में अधिकार जानो और किसी का नहीं*॥१६॥

भवी चिकित्सक का है, और दूसरा नीम हकीम का, तो वहां विरोध में, न केवल विरोध में, अपितु भेद में भी, अनुभवीका बर्तना चाहिये। जहां दोनों एक जैसों के कहे हुए हैं, वा एक ही के कहे हुए हैं, वहां दोनों में से कोई एक लिया जासकता है। यही नियम धर्म में भी है। आत्म सन्तोष से सदाचार, सदाचार से स्मृति, स्मृति से श्रुति बलवती है। पर जहां दो श्रुतियों में विरोध भासे, वहां तुल्य बल होने से विकल्प होता है (दोनों में से कोई एक अनुष्ठेय होता है) इसीप्रकार दोनों स्मृतियों के विरोध में भी। जैसा कि गौतम १।१।५ में कहा है "तुल्यबलविरोधे विकल्पः"=तुल्य बल वालों के विरोध में विकल्प होता है॥

* अध्यापन पूर्व (१।१०३ में) ब्राह्मण के लिए ही कहा है। पढ़ने का अधिकार यहां तीनों द्विज वर्णों को दिया है। और इसमें कहे अपने २ धर्मानुष्ठान का अधिकार सब को है, तथापि स्त्री शूद्र को—जिनको आगे (२।६६ और १०।१२७) में समन्त्रक संस्कारकी आज्ञा नहीं दी, स्मृति के अभ्यास से रोकना, उस समय के घटते उत्साह का चिन्ह है॥

संगति-धर्मानुष्ठान के योग्य देशों (जिनमें उस समय धर्म प्रधान लोग बसते थे) को कहते हैं ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती और दृषद्वती इन दो देवनदियों के जो मध्य में है, उस, देवताओं के रचे देश को ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

उस देश में (वर्णों का और अन्तरालों का) जो आचार परम्परा क्रम से आया है (न कि अब का है), वह सदाचार (धर्मात्माओं का आचार) कहलाता है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल शूरसेनक, * यह ब्रह्मर्षि देश है, जो ब्रह्मावर्त्त से आगे उसके साथ है ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इस देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण के पास से पृथिवी पर के सभी मनुष्य अपना २ आचार सीखें ॥ २० ॥

---

*कुरुक्षेत्र थानेसर से दक्षिण कुरुपाण्डवों के युद्ध का प्रसिद्ध स्थल। मत्स्य= धौलपुर के पच्छिम में मत्स्य क्षत्रियों के इलाके। पंचाल पंचालोंके इलाके गंगद्वाब। शूरसेनक=शूरसेनकों के इलाके मथुरा के निकट।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः ॥ २१ ॥

हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य (का देश) जो विनशन (जहां सरस्वती (हिसार के इलाके में) छिपी है) से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम है, वह मध्यदेश कहा है ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधा ॥ २२ ॥

पूर्व के समुद्र तक और पश्चिम के समुद्र तक इन दोनों पर्वतों (हिमालय, विन्ध्याचल) के मध्य (देश) को विद्वान् आर्यावर्त्त जानते हैं * ॥२२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२३॥

काला हरिण, जहां स्वभाव से (नकि पकड़कर लाया हुआ) विचरता है, वह देश यज्ञ (करने) के योग्य जानना चाहिए, इस से आगे म्लेच्छ देश है † ॥ २३ ॥

एतान् द्विजातयो देशान् संश्रयेरन् प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः॥२४॥

द्विजों को चाहिए, कि प्रयत्न से इन देशों का आश्रय लें, ‡ हां शूद्र जीविका से तंग हुआ जहां कहीं बसे ॥ २४ ॥

---

*वासि० १।८ बौधा १।२।२०

† वासिष्ठ १ । १३-१५ ; बौधा० १ । २ । १२-१५ ; या०१ । २ ।

‡ इस से भी उत्साह मन्द हुआ प्रतीत होता है, एक धर्म के

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्त्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह धर्म का मूल तुम्हें संक्षेप से कह दिया है और इस विश्व की उत्पत्ति, अब वर्णों के धर्मों को जानो ॥ २५ ॥

वैदिकैःकर्मभिःपुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

वैदिक पवित्र कर्मों से द्विजों का गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिए,जो इस लोक और परलोक में पवित्र करनेवाला है *

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ सम्बंधी † होम, जातकर्म, चूड़ाकर्म, और उपनयन के द्वारा द्विजों का बीज और गर्भ से आनेवाला दोष दूर होता है ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

(प्रतिदिन के) स्वाध्याय से, व्रतों से (ब्रह्मचारी वा स्नातक के लिए कहे व्रतों से) (नैत्यिक) होमों से, त्रयी विद्या में निपुणता से (दर्शादि) इष्टियों से, पुत्रों से (पञ्च) महायज्ञों से और यज्ञों से यह (मानुष) शरीर ब्रह्म प्राप्तिके योग्य होता है ॥२८॥

विश्वाससे परिपूरित हृदय जहां कहीं जाएगा, अपने धर्मको अटल रक्खेगा और औरों को धर्मात्मा बनाएगा ॥

* २६-३५ मिलाओ गौतम ८।१४-२०वि२७; १-१२ ; या०१,१०,-१३

† गर्भ सम्बन्धी गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नाडू छेदन से पहिले पुरुष का जातकर्म किया जाता है और तब इसे सोना शहद और घी का खिलाना होता है * ॥२९॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

दशवें वा बारहवें दिन (पिता) इसका नाम कराए, अथवा अच्छे तिथि मुहूर्त वा गुणयुक्त नक्षत्र में † ॥ ३० ॥

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण का(नाम) मंगल सूचक हो,क्षत्रिय का बल से युक्त, वैश्य का धन से युक्त, शूद्र का निन्दावाला ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

(नाम का दूसरा भाग) ब्राह्मण का सुखवाला हो, क्षत्रिय का रक्षा से युक्त,वैश्य का पुष्टि से युक्त और शूद्र का दासपन से युक्त हो ‡ ॥ ३२ ॥

स्त्रीणांसुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

---

* आश्वलायन गृह्य १ । १५ । १, पारस्कर १ । १६ । ४

† आश्व० १ । १५ । ४ १० और पार० १ । १७ । १-६ ॥

‡ ब्राह्मण का अन्त्यपद शर्मा, क्षत्रिय का वर्मा, वैश्य का गुप्त शूद्र का दास या इन्हीं अर्थों का बोधक कोई और शब्द हो ॥

स्त्रियों का आसानी से बोला जाने वाला अक्रूर (नर्म), स्पष्ट अर्थवाला, मनोहर, मंगलवाची, अन्त में दीर्घ स्वर वाला आशीर्वाद का कहनेवाला हो (जैसे यशोदा देवी) ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ॥ ३४ ॥

चौथे महीने बच्चे का घर से (पहलेपहल) बाहर निकालना, (निष्क्रमण) और छठे महीने अन्नप्राशन (पहिले पहल अन्न खिलाना) करना चाहिए, अथवा कुल में जैसा मङ्गल माना हुआ है * ॥ ३४ ॥

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५॥

श्रुति के उपदेशोंसे चूड़ाकर्म सभी द्विजों का कुल धर्मानुसार पहले या तीसरे बरस करना चाहिये† ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

गर्भ से आठवें बरस ब्राह्मण का उपनयन करे, गर्भ से ग्यारहवें क्षत्रिय का, गर्भ से बारहवें वैश्य का ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

ब्रह्मतेज चाहने वाले ब्राह्मण का पांचवें, बल चाहने वाले

---

* आश्व० १ । १६ पारस्कर १ । १७ । ५ ; १ । १९ । १—६ ॥

† आश्व० १ । १७ । १; पार० २ । १ ॥

क्षत्रिय का छटे, और धन चाहने वाले वैश्यका आठवें (करे)* ३७

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह बरस तक ब्राह्मण की सावित्री (गायत्री=गायत्री उपदेश का समय) लंघ, नहीं जाता, बाईस तक क्षत्रिय की, चौबीस तक वैश्य की ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

इससे आगे यह तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अपने समय पर (उपनयन) संस्कार रहित हुए, सावित्री से पतित, आर्यों से निन्दित, व्रात्य कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपिहि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्चसंबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

(यदि) यह यथाविधि पवित्र न हों (प्रायश्चित्त न करलें) तो इनके साथ कोई ब्राह्मण कभी भी वेद का वा विवाह का सम्बन्ध न करे ॥ ४० ॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचारी (अपनी जाति के) क्रम से काले हिरण, चित-

---

* ३६, ३७ वासिष्ठ २ । ३ ; ११ । ४९-७३ गौतम १।५-७८-१४ आप १ । १ । ५ । ८-२१ बौधा० १ । ३ । ७-१२ याज्ञ० १ । १४ विष्णु २७ । १५-१८ ॥

कबरे हिरण और बकरे के चर्म को (दुपट्टे की जगह) पहनें, और सन, अलसी और ऊन का अधोवस्त्र पहनें * ॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥४२॥

ब्राह्मण की मेखला (तड़ागी) तीन लड़ी की, एक जैमी, नर्म बनानी चाहिए, क्षत्रिय की मूर्वा (घास) की (धनुष के) चिल्ले (गोशे) जैसी, वैश्य की सन के डोरे की † ॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

यदि मुञ्ज (मूर्वा और सन) न मिले, तो कुशा, अश्मन्तक और बल्वज घास की (मेखला) अपनी कुल मर्यादा के अनुसार तीन लड़ों की एक गांठ, वा तीन वा पांच से युक्त बनानी चाहिए॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४ ॥

ब्राह्मण का जनेऊ तीन लड़ का ऊपर को बटाहुआ कपासका हो, क्षत्रियका सनके सूतका, वैश्यका भेड़के सूत (ऊन) का ‡ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौक्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्तिधर्मतः ॥ ४५ ॥

---

* मिलाओ वासि० ११ । ६१-६७ गौतम १ । १६-२१ : आप १ । २ । ३८-३-९, बौधायन १ । ३ । १४ विष्णु २७ । १९-२० ॥

† वासि० ११ । ५८-६० गौतम १ । १५ ; आप० १ । २ । ३३ -३७ ; बौधायन १ । ३ । १३ । विष्णु २७ । १८ याज्ञ० १ । २९ ॥

‡ वासि० १२ । १४ ; गौतम १ । ३६ आप० २ । ४ । २२ ; बौधायन १ । ५ । ५ ; विष्णु २७ । १९ ॥

ब्राह्मण बिल्व वा ढाक का, क्षत्रिय का बड़ वा खैर का, और वैश्य पीलु वा गूलर का दण्ड (धारने) योग्य है * ॥४५॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिकोविशः ॥४६॥

ब्राह्मण का दण्ड लम्बाई में (सिर के) बालों तक बनाना चाहिये ; क्षात्रियका माथे तक, और वैश्यका नाक तक ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणा सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

वह (दण्ड) सब सीधे, बिना दाग, दीखने में सुन्दर हों मनुष्यों को उद्वेग उत्पन्न करनेवाले न हों † बकलेवाले हों, अग्नि से दूषित हुए न हों ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अभीष्ट दण्ड को लेकर, सूर्य को उपस्थान कर, अग्नि की प्रदक्षिणा करके यथाविधि भिक्षाचरण करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

उपनीत ब्राह्मण (भवति भिक्षां देहि, इसप्रकार) पहले भवत् लगाकर भिक्षाचरण करे, क्षत्रिय भवत् मध्यमें लगाकर (भिक्षां भवति) देहि वैश्य भवत् अन्त में लगा कर (भिक्षा देहि भवति) ४९

---

* ४५-४७ वासि० ११ । १२-१७ गौतम १ । २२ आप० १ । २ । ३८ बौधा० १ । ३ । १५ ; विष्णु २७ । २२-२४ ; या० १ ; २९ ॥

† खुरदरेपन आदि दोषों से मनको अनमित न हों, वा डरावनेनहों ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

माता, बहिन वा माता की सगी बहिन, से पहले भिक्षा मांगे, जो इसका अपमान न करे ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

वह भिक्षा अपने खाने योग्य लाकर बिना छल गुरु को निवेदन कर शुद्ध हो पूर्वाभिमुख हो, आचमन करके खावे ॥५१॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियंप्रत्यङ्मुखोभुङ्क्तेऋतंभुङ्क्तेह्युदङ्मुखः ॥५२॥

पूर्वाभिमुख होकर खाना आयु के लिये हितकर है, दक्षिण मुख यश के लिये; पश्चिम मुख धन के लिए और उत्तर मुख सत्य के लिये है ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वाचोपस्पृशेत्सम्यगद्भिःखानिचसंस्पृशेत् ॥५३॥

द्विज को सदा (ब्रह्मचर्य में और पीछे भी) आचमन करके मन को एकाग्र करके अन्न खाना चाहिये । और जल से (शिर के) इन्द्रियों का स्पर्श करना चाहिये ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

अन्न का सदा आदर करे, और न निन्दता हुआ खावे, देख कर हर्षित हो, मुख खिल जाए और सदा उसका स्वागत करे ।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि आदर किया हुआ अन्न सदा बल और प्राक्रम देता है, और अनादरसे खाया हुआ वह इन दोनोंकानाशकरताहै॥५५॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नचोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥५६॥

जूठ किसी को न दे, और न ही (दिनरात के दो भोजनों के) मध्य में भोजन खाए, न बहुत खाए न जूठ मुंह कहीं जाए ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

बहुत खाना, अरोगता और आयु को हानिकारक है, और स्वर्ग का विरोधी है, पुण्य का विरोधी है, लोक में निन्दित है इस लिये इसे त्यागे ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥५८॥

ब्राह्मण (क्षत्रिय, और वैश्य) ब्राह्म तीर्थ से वा प्राजापत्य वा दैव, (तीर्थ) से सदा आचमन करे, पित्र्य से कभी नहीं*॥५८

अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमंगुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

---

* ५८-६२। वासि० ३। २६-३४; आप० १। ५। १-१६ बौधा० १। ८। १२-२३; याज्ञ० १। १८-२१॥

अंगूठे की जड़ के नीचे ब्राह्म तीर्थ कहते हैं, अंगुलियों की जड़ में प्राजापत्य और अग्र में दैव, उन दोनों (अंगूठा और अंगुलियों के) नीचे पित्र्य ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

(आचमन का प्रकार यह है) पहले तीनबार आचमन करे, फिर दो बार (अंगूठे से होंट मिले हुए) मुख को पोंछे, जल से (सिर के) इन्द्रियों का स्पर्शकरे, और हृदय और सिर का भी॥६०

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

पवित्रता चाहता हुआ धर्मवेत्ता एकान्त में पूर्व वा उत्तरमुख हुआ गर्म न किये हुए झाग रहित जलों से (ब्राह्मादि) तीर्थ द्वारा सदा आचमन करे ॥ ६१ ॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तुशूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥६२॥

ब्राह्मण हृदय तक पहुंचने वाले, क्षत्रिय कण्ठ तक पहुंचने वाले, वैश्य मुंह में डाले, शूद्र होटों के अन्त में छुए जलों से पवित्र होता है ॥ ६२ ॥

उदधृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥

जब दायां हाथ (जनेऊ से) बाहर निकला हो (अर्थात बाएं कन्धे पर हो, और दाईं ओर लटकता हो) तो द्विज "उप-

वीति " कहलाता है, बायां (हाथ बाहर) हो (दाएं कन्धे पर हो और बाईं ओर लटकता हो) तो " प्राचीनावीति " और जब (सीधा) कण्ठ में लटकता हो, तो ' निवीति ' कहलाता है ॥६३॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥६४॥

मेखला, (ओढ़ने का) चर्म, दण्ड, जनेऊ और कमण्डलु जब खराब (टूट फूट वा रद्दी) होजाएं, तो जल में फैंककर और मन्त्र के साथ लेवे*॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥६५॥

केशान्त (बालों का काटना) संस्कार ब्राह्मण का सोलहवें क्षत्रिय का बाईसवें, वैश्य का उससे दो अधिक (=चौबीसवें) वर्ष किया जाता है † ॥ ६५ ॥

अमान्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

यह (जातकर्मादि) सारी रीति अपने २ समय पर अपने २ क्रम से शरीर के संस्कार के लिये स्त्रियों की भी बिना मन्त्रों के करनी चाहिए ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकःस्मृतः ।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

---

* बौधा० १ । ८ । ५—१० । ¶ बासौ० १ । ६ । ७ । विष्णु २७-२९

† याज्ञ० १ । ३६ ; ३ इस संस्कारका नाम गोदान भी है । देखो आश्व० गृ० १ । १८ । पार० २१ । ३—७ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्र मुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिंकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥७०॥

(वेद) पढ़ने के लिये तय्यार हो शास्त्रानुसार आचमन कर उत्तरमुख हुए ब्रह्माञ्जलि किये हलके वस्त्र पहने इन्द्रियों को बस में किये (शिष्य) को पढ़ाना चाहिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिःस्मृतः ॥७१॥

वेद (के पढ़ने) के आरम्भ में और समाप्ति में गुरु के सदा पैर पकड़े, और दोनों हाथ जोडकर पढ़े, यह ब्रह्माञ्जलि (वेद के अर्थ अञ्जलि) कही है*॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

हाथों को अदल बदल कर † गुरु के (पैर) पकड़ने चाहिएं, बाएं हाथ से बायां और दाएं से दायां छूना चाहिये ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

पढ़ने को तय्यार हुए (शिष्य) को गुरु सदा आलस्य रहित होकर 'हां पढो' ऐसा कहे ‡ और 'बस हो' ऐसा कहकर बस करे ॥

---

* आप० १ । ५ । १९-२३ बौधा० १ । ३ । २८ विष्णु २८ । १४-१६

† बाएं हाथ की कलाई के ऊपर से दायां हाथ निकालले, जिस से कि दाएं हाथ से दायां और बाएं से बायां पैर छुआ जाए ॥

‡ नारायण ने 'अध्येष्यमाणस्तु गुरुम्' पाठ पढ़कर, पढ़ने

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यऽनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

वेद के (पढ़ने में) आरम्भ और समाप्ति में सदा ओंकार करे, (क्योंकि) जिस के पहले ओम् नहीं किया, वह फिसल जाता है, और पीछे (नहीं किया) तो बिखर जाता है * ॥७४॥

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥

जबपूर्व को अग्रवाली कुशाओं पर बैठ गया है, और (दोनों हाथों में पहने कुशा के) पवित्रों द्वारा पवित्र किया गया है और तीन प्राणायामोंसे पवित्र हुआ है, तब ओंकारके योग्य होता है † ॥७५

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

ब्रह्मा ने अ, उ, म् (जिनसे ओम् बना है) और 'भूः, भुवः, स्वः' यह (तीन महाव्याहृतियां) तीन वेद से दोहीं ‡ ॥ ७६ ॥

त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥

लगा (शिष्य गुरु)को 'अधीष्वभो' कहे । यह गौतम १ । ४९ से मिलता है और तैति० उप० में भृगु ने वरुण को ऐसे ही कहा है ॥

* गौतम १ । ५८ ; आप० १ । १३ । ६-७ ; विष्णु० ३० : ३३

† १-५०, ५२ ; याज्ञ० १ । २३ ॥

‡ विष्णु ५५ । १०

परम आकाश में (स्थित) ब्रह्मा ने 'तत्' इत्यादि सावित्री ऋचा के पाद पाद तीनों वेदों से दोहा ॥ * ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इस अक्षर (ओम्) को, और व्याहृतियें पूर्व लगाकर इस (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओं में जपता हुआ वेदवेत्ता ब्राह्मण (आदि) वेद के पुण्य से युक्त होता है † ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

इस त्रिक (ओम्, व्याहृति, और सावित्री) को (ग्राम से) बाहर (प्रतिदिन) हज़ार बार जपने से द्विज बड़े भारी पाप से भी इसतरह छूट जाता है, जैसे सांप कैंचुली से ‡ ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो इस ऋचा के जप, और समय पर अपने कर्म से (जो उनके लिये बतलाए हैं) अलग रहता है, वह भलों में निन्दा को प्राप्त होता है § ॥ ८० ॥

---

* विष्णु ५५ । २ । सावित्री जिसका देवता सवितृ है । प्रसिद्ध गायत्री मंत्र ऋग्वेद ३ । ६२ । १० ॥

† विष्णु ५५ । १२ बौधा० २ । २ । ६ ‡ वासि० २६ । ४ बौधा० ४ । १ । २९ विष्णु ५५ । १३ ॥

§ ८०-८७ मिलाओ विष्णु ५५ । १४-२१ ॥

ओंङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

ओंकार पूर्वक तीन नाश न होनेवाली महाव्याहृतियें और तीन पादवाली सावित्री यह ब्रह्म का मुख (वेद का आरम्भ, वा परमात्मा का प्राप्ति का द्वार) जानना चाहिये*॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्त्तिमान् ॥८२॥

जो इन तीनों का सावधानी से प्रतिदिन पाठ करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है, वायु की तरह (यथेष्ट विचरता है) और आकाश शरीरी (=शुद्ध निर्लेप) होता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परन्तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यंविशिष्यते ॥८३

एक अक्षर (ओम्) परब्रह्म है, प्राणायाम उत्तम तप है, सावित्री से उत्तम कुछ नहीं है, चुप से सच बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापातिः ॥ ८४ ॥

वेद में कहे सब होम यज्ञ कर्म नाशवान् हैं (उनका फल नाश वाला है) पर अक्षर (ओम्) अविनाशी ब्रह्म जानना चाहिए, जो कि प्रजा का पति है ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुःस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसःस्मृतः॥८५॥

* आश्व० ३ । २ । ३ आप० १ । १३ । ६ ॥

(ओम् व्याहृति और सावित्री के) जप का कर्म विधियज्ञ =ज्योतिष्टोम आदि) से दसगुना उत्तम होता है, वही फिर सौगुना (उत्तम होता है) जब धीमी आवाज़ से किया जाए, और हजार गुणा (उत्तम होता है) जब मन में किया जाए ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८६॥

चारों पाकयज्ञ, विधि यज्ञों के समेत, यह सब मिलकर जप यज्ञ की सोलहवींकला (सोलहवें भाग) के बराबर नहीं होते* ॥८६॥

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मणउच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि पाता है, इसमें संशय नहीं और कुछ करे चाहे न करे । क्योंकि जो सूर्य तुल्य है, वह सच्चा ब्राह्मण कहलाता है † ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

---

* ८५-८६ वासि० २६ । ९-१० । चार पाकयज्ञ जो आगे (३ । ७० में) कहे पांच महायज्ञों में से देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्व और नृयज्ञ हैं। पाकयज्ञ और विधियज्ञ अर्थात् गृह्य और श्रौतयज्ञ ॥

† वासि० २६।११। मैत्रः=मित्र=सूर्य,मैत्रः सूर्य तुल्य । जो सूर्यवत् ब्रह्मवर्चस से चमकता है । ब्रह्मवर्चस सावित्री जप से बढ़ता है । 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री' (सम्पादक) मैत्र-मित्र । जो सब का मित्र है। वह ब्रह्म में लीन होता है ॥ (कुल्लूक)

खींचनेवाले विषयों में विचरते हुए इन्द्रियों के रोकने में विद्वान् यत्न करे, जैसे सारथि घोड़ों के (रोकने में) * ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

ग्यारह इन्द्रिय जो पहले विद्वानों ने कहे हैं, उनको ठीक उसी तरह अनुक्रम से कहूंगा ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥९०॥

कान, त्वचा, आंखें, जीभ और पांचवां नाक । और गुदा उपस्थ, हाथ और पाओं और दसवीं वाणी कही है ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

इनमें से क्रमवार कान आदि पांच को ज्ञानेन्द्रिय (ज्ञान के इन्द्रिय) और गुदा आदि पांच को कर्मेन्द्रिय (कर्म करने के इन्द्रिय) कहते हैं ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥९२॥

ग्यारहवां मन जानो, जो अपने गुण (संकल्प) से दोनों शक्तियोंवाला (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक) है, जिसके जीते जाने पर यह दोनों पांच२ के समूह जीते जाते हैं॥९२॥

---

* विषय इन्द्रियों को अपनी ओर खींचते हैं और इन्द्रिय उन की ओर भागते हैं। इसलिए रोकने में सावधान रहे॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यऽसंशयम् ।
सन्नियस्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३॥

इन्द्रियों के लगाव से पुरुष निःसन्देह दोष को प्राप्त होताहै। हां यही हैं, जिनको फिर वशमें करके सिद्धि को प्राप्त होता है॥९३॥

न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

कामना कभी विषयों के उपभोग से शान्त नहीं होती है, (उलटा) घी से अग्नि की तरह अधिक ही बढ़ती है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो इन सब को पालेवे, और जो इन सब को त्याग देवे, सब कामनाओं की प्राप्ति से उन का त्याग ही बढ़कर होता है ॥९५॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथाज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

यह (इन्द्रिय) जो विषयों में पूरा प्रेम रखते हैं, (विषयों के) असेवन से बस में नहीं किये जासक्के, जैसे कि सदा (सच्चे) ज्ञान(=विचार) से ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

वेद, दान, यज्ञ नियम और तप यह दोषों से भरी हुई वासना वाले के कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

जो पुरुष सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर वा सूंघकर न हर्ष करता है, न ग्लानि करता है, उसको जितेन्द्रिय जानो ॥९८॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

पर सारे इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय बह निकलता है, तो उससे इसकी (इन्द्रियों पर काबू रखने की) समझ बह जाती है, जैसे (छेद द्वारा) चमड़े के पात्र से पानी ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

इन्द्रियों के गण को बस में करके, तथा मनको बस में करके शरीरको बिना पीड़ा दिए युक्तिसे सारे कार्योंको साधे ॥१००॥

पूर्वां सन्ध्यां जपं स्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

पहली (=प्रातः) सन्ध्या में (सावित्री को) जपता हुआ सूर्य के दर्शन होने तक खड़ा रहे, और पिछली में भली भान्ति तारों के स्पष्ट दीखने तक बैठकर (जप करे) * ॥ १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनोऽव्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

* वासि० ७।१६; गौतम २।१०-११; विष्णु २८।२-३; याज्ञ० १।२४-२५॥

पहली सन्ध्या में खड़ा होकर जप करता हुआ रात्रि के पाप को दूर करता है, और पिछली में बैठा हुआ दिन के किये पाप को नष्ट करता है * ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥१०३॥

जो पहली सन्ध्या में नहीं खड़ा होता है, और जो पिछली सन्ध्या को नहीं उपासता है, उसको शूद्र की तरह द्विजों के सारे कर्त्तव्य से अलग कर देना चाहिये ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥ १०४॥

वह जो नित्य (के स्वाध्याय) की विधि को पूरा करना चाहता है, जंगल में जाकर जल के समीप इन्द्रियों को बस में करके एकाग्र (चित्त) होकर चाहे † गायत्री का ही पाठकरे ॥१०४॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

वेद के उपसाधन (अङ्ग उपाङ्ग) में, और नैत्यक स्वाध्याय और होम के मन्त्रों में अनध्याय की रुकावट नहीं है ॥ १०५ ॥

---

* वासि० २६ । २-३ ; यहां अज्ञात पाप से अभिप्राय है । अन्यथा प्रायश्चित्ताध्याय व्यर्थ ठहरता है । (मेधा० गोवि०) ॥

† चाहे=यदि और वेदमन्त्रों का स्वाध्याय करने के असमर्थ है, तो गायत्रीमात्र का ही स्वाध्यायकरे, पर करे अवश्य, इससे ही उसका नैत्यक ब्रह्मयज्ञ पूरा होजाएगा ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

नैत्यक (स्वाध्याय) में अनध्याय नहीं होता, क्योंकि (लगातार चलने से) वह ब्रह्म सत्र माना गया है, जिसमें वेदमन्त्र रूपी आहुति होमी जारही है, और अनध्यायही वषट् किया जारहा है*॥१०६

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतःशुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

वह जो इन्द्रियों को बस में करके पवित्र हो विधि अनुसार एक वर्ष (भी) स्वाध्याय पढ़ता है, वह (स्वाध्याय) उसके (घर) दूध, दही, घी, शहद को नित्य बहाता† है ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः ॥ १०८ ॥

---

* अनध्याय वह दिन वा काल जिनमें वेद नहीं पढ़ा जाता, यह आगे चौथे अध्याय में कहेंगे । पर वह अनध्याय नित्य के स्वाध्याय को नहीं रोक सके, क्योंकि नित्य का स्वाध्याय शतपथ में ब्रह्मसत्र कहा है । सत्र लम्बा यज्ञ लगातार प्रतिदिन होता है, यदि उसमें अनध्याय मानें, तो उसकी अखिण्डता खण्डित होजाए, इस लिये उसमें अनध्याय का अनुरोध नहीं होता, सत्र में जो आहुतियां होती हैं, उसके स्थान यहां ब्रह्मसत्र में मन्त्र ही आहुतियां हैं, और आहुति देते समय जो 'वौ३षट्' कहाजाता है । उसका वह वौषट् यहां अनध्याय में अध्ययन ही है । पञ्च महायज्ञों को महा सत्र शत० ब्रा०११।३।८।१-२ में कहा है ॥

† विष्णु ३५।३४—३८, याज्ञ० १।४१-४६ ॥

उपनयन किया द्विज समावर्त्तन (संस्कार) * पर्यन्त, अग्नि में समिधा होम, भीख का मांगना, नीचे सोना, और गुरु की भलाई करता रहे † ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकःशुचिः ।
आप्तःशक्तोऽर्थदःसाधुःस्वोऽध्याप्यादशधर्मतः॥१०९॥

आचार्य का पुत्र, सेवा करनेवाला, (पलटे में) ज्ञान देने वाला, धर्मात्मा, शुद्ध, आप्त (सम्बन्धी वा मित्र), (ग्रहण धारण में) समर्थ, धन देनेवाला, परोपकारी, ज्ञाति यह दस धर्म से (वेद) पढाने योग्य हैं ‡ ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपिहि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ११० ॥
अधर्म्मेण चयः प्राह यश्चाधर्म्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषंवाधिगच्छति ॥ १११ ॥

बिना पूछे किसी को (उसके पाठकी अशुद्धि) न कहे, (पर शिष्य को बिना पूछे भी कहे) और न ही अविधि से (श्रद्धादि न रख कर) पूछते हुए को कहे, जानता हुआ भी बुद्धिमान् लोक में अनजान सा रहे § ॥ ११० ॥ जो अधर्म से बतलाता

* समावर्त्तन देखो आगे ३ । ३-४ † वासि० ७ । ९-१५ । विष्णु २८ । ४ ; ७; ९ ; १२ । याज्ञ० १ । २५ ॥

‡ याज्ञ० १ । २८ धर्म से = इन को अवश्य पढाया जाए, इनका पढाना धर्म है, (मेधा, गोविन्द, नारा०) ॥ § वासि० २ । १२

है, और जो अधर्म से पूछता है, उन में से एक मरजाता है, वा विद्वेष को प्राप्त होता है * ॥ १११ ॥

धर्म्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

जहां धर्म्म और अर्थ (=लौकिक लाभ) न हो, वा (जैसी श्रद्धा से चाहिए) वैसी सेवा न हो, वहां (वेद) विद्या नहीं बोनी चाहिए, जैसे अच्छा बीज ऊसर (कालर) में † ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेद पढ़ानेवाला विद्या को साथ ही लेकर बेशक मर जाए, पर घोर आपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोए ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ‡ ॥ ११४ ॥

विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहा 'मैं तेरी निधि हूं' मेरी रक्षा कर, असूया (मेरी हकारत) करनेवाले को मुझे मत दे, इस प्रकार (रक्षित हुई) मैं शक्तिवाली हूंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्या नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मा ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने ॥ ११५ ॥

---

* यदि बतलाने वाला अधर्म से बतलाता है, तो वह, और यदि पूछनेवाला अधर्म से पूछता है, तो वह मरता है, वा दूसरे के द्वेष का पात्र बनता है, यदि दोनों ही अधर्म पर हैं, तो दोनों ही मरते वा एक दूसरे के विद्वेष के पात्र बनते हैं।

† विष्णु २९ । ८ ॥

‡ ११४-११५ वासि० २ । ८-१० निरु० २ । ४; विष्णु २९ । ९-१०

हां (तेरे) निधि के रक्षक, प्रमाद से बचे हुए ऐसे ब्राह्मण को निःसन्देह मेरा उपदेश दे, जिसको तू शुद्ध जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी समझे।

ब्रह्मयस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

जो (कोई किसी) पढ़ते हुए से उसकी अनुज्ञा के बिना वेद को पालेवे, वह वेद की चोरी (के पाप) से युक्त हुआ नरक को प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेवच।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

जिससे लौकिक, वैदिक, वा आत्मा का ज्ञान लेवे, उसको (बहुत मान्यों के मेल में) पहले प्रणाम करे, (तीनों के मेल में अगला २ वन्दनीय है) ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रित स्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

वह ब्राह्मण जो अपने ऊपर पूरा बस रखता है, वह सावित्री मात्र जानने जपनेवाला भी अच्छा है, न कि तीनों वेदों का जानने वाला भी, जो अपने ऊपर बस नहीं रखता, सब कुछ खाता है, और सब कुछ बेचता है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

अपने से अधिक (विद्यावाला वा गुरु) जिस शय्या और आसन पर बैठे हों, उस पर न बैठे, और (आप) शय्या वा आसन पर बैठा हो, तो उठकर उसे प्रणाम करे ॥ ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यांपुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

क्योंकि जब कोई बड़ा आता है, तो युवा के प्राण ऊपर को उभरते हैं, वह आगे जाकर मिलने और नमस्कार करने से उन (प्राणों) को फिर ठीक करता है ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

जो बड़ों को नमस्कार करने के स्वभाववाला है और प्रतिदिन उनके पास उठने बैठनेवाला है, उसकी चार (वस्तुएं) बढ़ती हैं। आयु, विद्या, यश और बल ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥१२२॥

बड़े को अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण (आदि) अभिवादनसे परे 'मैं अमुक नाम वाला हूं' इसप्रकार अपना नाम उचारे* ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोहमितिब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च॥१२३॥

---

* वासि० १३ । ४४ ; गौतम० ६ । ५ ; विष्णु २८ १७ याज्ञ० १ । २६ । अभिवादन से परे अर्थात् 'आभिवादय' शब्द से परे ॥

जो कोई (बड़े) नाम (उचार कर) के अभिवादन को नहीं समझते हैं, उनको बुद्धिमान् 'मैं' यह कहे, तथा सब स्त्रियों को भी

भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नांस्वरूपभावोहिभोभाव ऋषिभिःस्मृतः ॥१२४॥

अभिवादन में अपने नाम के अन्त में 'भोः' शब्द उचारे, क्योंकि ऋषियों ने 'भोः'को सारे विशेष नामों का स्वरूप माना है*।१२४।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यःपूर्वाक्षरःप्लुतः ॥१२५॥

अभिवादन करने पर ब्राह्मणको 'दीर्घ आयुवाला हो हे सौम्य' यह उत्तर में कहे और इसके नाम के अन्त में (व्यञ्जन से) पूर्व "अ" प्लुत कहे (आयुष्मान् भव सौम्य शुभ शर्म इन्) ॥१२४॥

यो न वेत्त्याभिवादस्य विप्रः प्रत्याभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथाशूद्रस्तथैव सः ॥१२६॥

जो ब्राह्मण अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देने का पूर्वोक्त प्रकार नहीं जानता है, उसे विद्वान् नमस्कार न करे, जैसा शूद्र है, वैसा वह है (इससे सिद्ध है, कि शूद्र को पूर्वोक्त अभिवादन नहीं किया जाता था) ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेम समागम्य शूद्रमारोग्यमेवच ॥ १२७ ॥

---

* बड़ों के नाम की जगह 'भोः' (Honourable Sir) कहे 'अभिवादये यज्ञ शर्मा हं भोः' मिलाओ विष्णु २८ । १७ ॥

ब्राह्मण को मिलकर (उसकी अरोगता के लिये) कुशल पूछे, क्षत्रियको अनामय वैश्यको क्षेम और शूद्रको आरोग्य ॥१२७

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

सोम (यज्ञ में) जो दीक्षित है,वह चाहे छोटा भी हो उसे नाम लेकर न बुलाए, किन्तु धर्म को जानने वाला, उसे भोः वा 'भवत्' कह कर बुलाए * ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो स्त्री दूसरे की पत्नी है, और योनि सम्बन्ध (लहू के रिश्ते) वाली नहीं है, उसको ' भवति ! सुभगे वा भगिनि कहना चाहिये ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

मामे, चाचे, श्वशुर ऋत्विज् और गुरु †(दूसरे माननीय) अपने से छोटे भी हों, तो (आने पर) आगे से उठकर 'मैं अमुक' इसप्रकार कहे ‡ ॥ १३० ॥

---

* सोमयज्ञ के आरम्भ में दीक्षा के लिए दीक्षणीयेष्टि की जाती है (देखो० गौतम० ६ । १९) उस इष्टि के आरम्भ से लेकर अवभृथ स्नान तक यजमान को प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद देने) में वा कोई कार्य बतलाने में उसका नाम न लेवे, किन्तु आयुष्मान् भव भो: दीक्षित,और भवता यजमानेनेदं क्रियताम, इसप्रकार आदर से कहे

† विष्णु० ३२ । ७ ‡ वासि० १३ । ४१ गौतं० ६ । ९ ; आप० १ । १४ । ११ ; विष्णु० ३२ । ५ । मैं अमुक" अर्थात् अपना नाम ही लेवे, अभिवादन न करे ॥ (कुल्लूक)

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्याः गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

माता की बहिन, मामी, सास और पिता की बहिन, यह गुरुपत्नी के तुल्य पूजा (अभिवादन) के योग्य होती हैं, क्योंकि यह गुरु पत्नी के तुल्य हैं ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाऽहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥१३२॥

(बड़े) भाई की पत्नी जो अपने वर्ण की है, उसके प्रतिदिन (पांओं) पकड़े, पर ज्ञाति और सम्बन्धियों की स्त्रियों के परदेश से आकर (पाओं) पकड़े * ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥१३३॥

पिता की और माता की बहिन और अपनी बड़ी बहिन से मातृवत् बर्ताव करे, पर माता उनसे बढ़कर पूजनीय है ॥१३३॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥१३४॥

एक पुरवासियों की दस बरस (के आपस के अन्तर तक) मित्रता कहलाती है (बराबरी का व्यवहार होता है) कला कौशल वालों की पांच बरस तक, वेदपाठियों की तीन बरस तक, और अपने सपिण्डों में बहुत थोड़े ही अन्तर तक (बराबरी होती है, इस

* गौतम० ६ । ७ ;

के पीछे उनमें छोटे बड़े का व्यवहार होजाता है *)॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयात् ब्राह्मणस्तु तयोःपिता॥१३५॥

दस बरस के ब्राह्मण और सौ बरस के क्षत्रिय को पिता पुत्र जाने, ब्राह्मण उनमें से पिता है † ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ १३६॥

धन, बन्धु, आयु, कर्म (-श्रौतस्मार्त) और पाचवीं (वेद-) विद्या, यह मान के स्थान हैं (इनमें से) अगला२ अधिक पूजनीय है‡

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोपि दशमीं गतः॥१३७॥

तीनों वर्णों के अन्दर इन पांचों में से जिसमें अधिक हों वा गुणवाले हों, वह यहां मान के योग्य है, और शूद्र भी दसवीं (अवस्था नव्वे बरस से ऊपर) को प्राप्त हुआ (माननीय) § है॥१३७॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणःस्त्रियः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥१३८॥

---

* गौतम०६।१४-१७ आप०१।१४।१३ † आप० १।१४।२५ विष्णु०३२।१७ ‡ वासि० १३।५६-५७; गौतम ६।२०; विष्णु ३२।१६; याज्ञ०१।११६ § वासि० ६।१० या० १।११६॥ धन, बन्धु, आयु, कर्म और वेद विद्यावाले माननीय हैं। इनमें से अगला २ अधिक माननीय है, पर जब एक में पहले गुण दो तीन वा चार हों, और दूसरे में अगले गुण संख्या में घट हों, तो बहुत गुणोंवाला पहला ही दूसरे से अधिक माननीय है, वा एक में वही गुण उत्कृष्ट हों, दूसरे में निकृष्ट हों, तो उत्कृष्ट गुणवाला दूसरे से माननीय होता है॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥

पहियेवाले (–गाड़ी पर सवार), नव्वे बरस से ऊपर आयुवाले, रोगी, भार उठाए हुए, स्त्री, स्नातक, राजा और वर के लिए रस्ता छोड़ देना चाहिए ॥१३८॥ यही जब आपस में मिलें, तो इनमें से स्नातक और राजा मान के योग्य हैं, और राजा और स्नातक में से स्नातक राजा से मान का लेने वाला है * ॥ १३९ ॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेद मध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥
एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थ मुपाध्यायः स उच्यते ॥१४१॥

उपनयन करके शिष्य को जो ब्राह्मण कल्प (यज्ञविधि) और उपनिषद् समेत वेद पढ़ाए, उसे आचार्य कहते हैं ॥ १४० ॥ पर जो जीविका के लिये वेद का कोई एक भाग वा वेद के अङ्ग पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है † ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

---

* १३८–१३९ वासि० १३ । ५८–६० । गौत० ६ । २४–२५ ; आप० २ । ११।५–७ । बौधा० २ । ६ । ३० । विष्णु ६५ । ५१ याज्ञ० १ । ११७ । स्नातक पर देखो ४ । ३१ ।

† १४०–१४१ वासि० ३ । २१–२३ ; आप० १ । १ । १३ । विष्णु २९ । १–२ ; याज्ञ० १ । ३४–३५ ।

वह ब्राह्मण जो यथाविधि गर्भाधानादि कर्मों को करता है * और अन्न से बढ़ाता है, वह गुरु कहलाता है † ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

जो चुना जाकर जिसके अग्न्याधान, पाकयज्ञ, और (श्रौत) अग्निष्टोमादि यज्ञोंको पूरा करता है, वह यहां ऋत्विज् कहलाता है ‡ ।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

जो वेद से दोनों कान (स्वरादि की) भूल बिना भरता है, (शिष्य) उसको माता और पिता जाने, उससे कभी द्रोह न करे § ।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥१४५ ॥

आचार्य उपाध्याय से दसगुणा, पिता आचार्य से सौगुणा और माता पितासे हजार गुणा बढ़कर पूजाके योग्य होती है ¶ ।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१४६॥

जन्म देनेवाला और वेद देने वाला, इनमें से वेद देने वाला पिता अधिक पूजनीय है, क्योंकि वेदका जन्म (उपनयन) ब्राह्मण का

---

* अभिप्राय पिता से है † याज्ञ० १।३४; ‡ विष्णु २९।२; याज्ञ० १।३५
§ वासि० २ । १० ; आप० १ । १ । १४ ; विष्णु ३० । ४७ ।
¶ वासि० १३ । ४८; याज्ञ० १ । ३५

इस(जीवन)में और मरने के पीछे भी नित्य (फलवाला) है*॥१४६

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥१४७॥

माता पिता काम वश होकर जो आपस में इसकी उत्पत्ति का आरम्भ करते हैं, और जो उसका (माता की) योनि से उत्पन्न होना है, यह उसका (पश्वादि के तुल्य)जन्ममात्र है ॥१४७॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयतिसावित्र्यासासत्यासाऽजराऽमरा ॥१४८॥

पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो सावित्री से इसे यथाविधि जन्म देता है। वह सच्चा (जन्म) है, वह अजर अमर है

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥
ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१५०॥

जो जिस का थोड़ा वा बहुत पढ़ाने का उपकार करता है, उसे भी उस पढाने के उपकार के हेतु यहां गुरु जानें ॥ १४९ ॥

---

*यहां जो पिता से आचार्य को, पर पूर्व आचार्य से पिता को अधिक पूजनीय कहा है,इस में विरोध इसलिए नहीं,कि पूर्व उपनयन करके सावित्री मात्र का उपदेश करनेवाला आचार्य अभिप्रेत है,और यहां समग्र वेद का पढ़ानेवाला(मेधा०कुल्लू०)अथवा गौतम२।५०-५१।पूजनीयता में आचार्योंका मत भेद दिखलाया है,माता गौरव में सब से बढ़ कर है, पर कई लोग आचार्य को सब से बढकर मानते हैं” यही मत भेद यहां १४५-१४६ में दिखलाना अभिप्रेत होसका है ॥

ब्राह्मजन्म (वेदद्वारा जन्म) का देनेवाला, और अपने कर्त्तव्य का सिखलाने वाला बालक भी ब्राह्मण वृद्धका धर्म से पिता है ॥१५०

अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः ।
पुत्रकाइतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥
तेतमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

अङ्गिरस के पुत्र (अवस्था में) बच्चे कवि ने पितरों (पितृ तुल्य चाचे आदिकों) को पढ़ाया, और इसप्रकार ज्ञान से उन को शिष्य बनाकर उन्हें छोटे बच्चो कहा ॥ १५१ ॥ उनको क्रोध आया, और उन्होंने देवताओं से जाकर यह बात पूछी, देवताओं ने सब ने मिलकर उन्हें कहा, बच्चे ने तुम्हें न्याय युक्त कहा है ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥

(मन्त्र का) न जाननेवाला, निःसन्देह बालक होता है, और मन्त्र का देनेवाला पिता होता है, क्योंकि (ऋषि) अनजान को बालक, और वेद देनेवालेको सदा पिता कहते आए हैं॥१५३॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः सनो महान् ॥१५४॥

न वर्षों से, नहीं श्वेत (बालों) से, न धन से, न (शक्तिवाले बन्धुओं से बडाई आती है, ऋषियों ने यह मर्यादा स्थिर की है किजो अङ्गों समेत वेदका जाननेवाला है, वह हममें बड़ा है १५४

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥१५५॥

ब्राह्मणों की बड़ाई (वेद के) ज्ञान से होती है, क्षत्रियों की वीरता से, वैश्यों की अनाज और धन से, जन्म से केवल शूद्रों की॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥१५६॥

इससे कोई पूजनीय नहीं होता है, कि इसका सिर श्वेत होगया है जो युवा भी (वेदका) विद्वान् है, उसको देवता पूजनीय जानते हैं।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्चविप्रोनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१५७ ॥

जैसे काठ का हाथी, जैसे चमड़े का हिरण, और जो अनपढ़ ब्राह्मण है, वह तीनों नाममात्र धारते हैं * ॥ १५७ ॥

यथाषण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गविचाफला ।
यथाचाज्ञेऽफलं दानं तथाविप्रोऽनृचोऽफलः॥१५८॥

जैसे नपुंसक स्त्रियों में निष्फल होता है, जैसे गौ गौ में निष्फल है, जैसे ज्ञानहीन में दान निष्फल है । वैसे वह ब्राह्मण निष्फल है, जो ऋचाओं (वेद) को नहीं जानता है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१५९॥

---

* वासि० ३ । ११ ; बोधा० १ । १ । १० ॥

धर्म (पालना) चाहते हुए आचार्य ने शिष्यों को पीड़ा दिये विनाही भलाई की शिक्षा देनी चाहिए, और बाणी मधुर और सभ्य बर्तनी चाहिए * ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिसके मन और बाणी शुद्ध हैं, और सदा सुरक्षित हैं, वह उस सारे फल को प्राप्त होता है, जो वेदान्त में जाना गया है ॥

नारुन्तुदः स्यदार्तोपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥१६१॥

पीड़त भी हो, तो भी (दूसरे के) मर्म को पीडा देने वाला न हो (मर्म को पीडा देने वाला शब्द न बोले) किसी की हानि के लिये न कोई कर्म करे न (मन में) विचार आन दे,इसकी जिस बाणी से (दूसरा) पीड़त हो, ऐसी स्वर्ग की विरोधनी (बाणी) न कहे । १६१ ॥

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१६२॥

ब्राह्मण संमान से सदा इस तरह डरे, कि मानो विष है, और अपमान को अमृत की तरह सदा चाहे ।। १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्धयते ।
सुखं चरति लोकेस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

* गौत० २ । ४२ आप० १ । ८ । २५-३० ॥

क्योंकि अपमान सह जाने वाला सुख से सोता है, सुख से जागता है, और सुख से इस लोक में विचरता है, (हां)अपमान करने वाला (उस पाप से) अवश्य नष्ट होता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्सं चिनुयाद् ब्रह्माधिगामिकं तपः ॥१६४॥

(गर्भाधान से लेकर उपनयन तक) क्रमशः कहे इस उपाय से संस्कार किया द्विज गुरु के पास रहता हुआ धीरे २ वेद की प्राप्ति कराने वाले तप * का सञ्चय करे । १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदःकृत्स्नोऽधिगन्तव्यःसरहस्योद्विजन्मना ॥१६५॥

अनेक प्रकार के तपों और विधि विहित व्रतों के साथ द्विज को रहस्य समेत सारा वेद जानना चाहिये । १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१६६॥
आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यःस्रग्व्यपिद्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥

ब्राह्मण जो तप तपना चाहता है, वह लगातार वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि वेद का अभ्यास ब्राह्मणका परम तप है † ।१६६। वह द्विज (पाओं के) नखों के अग्र तक परम तप तप रहा है, जो माला पहने हुए भी शक्ति भर प्रति दिन वेद पढ़ता है‡ ।

---

* तप=भिक्षाचरण आदि,जो वेद की प्राप्ति के लिये कहे हैं,देखो आप १ । १२ । १-२ ॥

† आप १ । १२ । १-२ याज्ञ० १ । ४० ‡शत० ब्रा० ११ । ५ । ७-४

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र (दूसरे कार्य वा लौकिक विद्या में) श्रम करता है, वह जल्दी (गिर कर) जीता ही शूद्रता को प्राप्त होता है, और उसके पीछे उसका वंश भी*।१६८

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥
तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिबन्धनचिन्हितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

वेद के विधान से (किसी आर्य का) पहला जन्म माता से होता है, दूसरा मौञ्जीबन्धन (उपनयन) में, तीसरा (वैदिक) यज्ञ की दीक्षा में ।१६९॥ इन तीनों जन्मों में से इसका वेद का जन्म जो मौञ्जीबन्धन के चिन्हवाला है, उसमें सावित्री इसकी माता और आचार्य पिता कहलाता है † । १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
नह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जि बन्धनात्॥१७१

माला पहने हुए भी, इस से वेद पढना ब्रह्मचारी का मुख्य काम और नियम धारने गौण काम जितलाया है । अतएव वेदाभ्यास को ही पूरा तप कहा है । और भी तप साथ हो, तो अच्छा है ॥

* वासि० । ३ । २ । विष्णु० । २८ । ३६ ।

† १६९-१७० । वासि० २ । ३ याज्ञ० १ । ३९ विष्णु २८ । ३७-३८

वेद के देने से आचार्य को पिता कहते हैं, क्योंकि उपनयन से पूर्व वह किसी कर्म का अधिकारी नहीं होता है * ॥१.७१॥

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

(उस से) वेद का उच्चारण न कराए सिवाय पितृकर्म को पूरा करने के, क्योंकि वह तब तक शूद्र के तुल्य होता है, जब तक वेद में नहीं जन्मता है । १.७२ ।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

जब इसका उपनयन हो चुका है, तब इसके लिये क्रम से विधिपूर्वक वेद पढने और (समिधा होम करने आदि) व्रतों के पालने की आज्ञा है † । १.७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

जिसका जो चर्म, जो सूत्र, (जनेऊ), जो मेखला, जो दण्ड, और जो (निचला) वस्त्र (उपनयन) में बतलाया है, वही उसके व्रतों (केशान्त आदि संस्कारों) में भी (होता है) । १.७४ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

---

* १७१-१७२ वासिं २ । ४, ६-७ गौत० । १।१० आप २ । १५ । १९ बौधा० १ । ३ । ६ । विष्णु २८ । ४० ॥ † १७३-१७४ विष्णु २७ २८ ॥

ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ अपना तप बढ़ाने के लिये इन्द्रियों को बस में रख कर इन नियमों का सेवन करे। १७५।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिधाधानमेव च ॥ १७६ ॥

प्रतिदिन स्नान करे और शुद्ध होकर देवता ऋषि और पितरों का तर्पण करे । देवताओं को पूजे, और (अग्नि में) समिधा डाले (ब्रह्मचारी की हवन सामग्री समिधा ही है)*।१७६

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानियानिसर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥१७७॥

उसे त्यागना चाहिये-शहद,मांस,सुगन्ध वाले (चन्दन आदि) माला, (अन्न को रसिक बनाने के लिये) रस, स्त्रियें, वह सब वस्तुएं जो खट्टी होगई हों,और प्राणियों को पीड़ा देना।१७७।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥१७८॥

उबटना मलना, आंखों में सुरमा लगाना, जूते और छाते का धारणा, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना । १७८।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

जूआ, झगड़ा, चुगली, झूठ, स्त्रियों का देखना और स्पर्श करना और दूसरे की हानि । १७९ ॥

---

* १७६-१८२ वासि ७ । १५-१७ गौत० २ । ८-९, १२-१७ आप १ । २ । १७, २३-३०; ३ । ११-२५; ४ । १३-२३; बौधा० १ । ३ । १९ २०; २३-२४ विष्णु २८ । ४-५; ११, ४८-५१ याज्ञ० १ । ३५, ३३ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतोहिनास्तिव्रतमात्मनः॥१८०॥

सदा अकेला सोवे, वीर्य कहीं न गिराए, क्योंकि इच्छा से जो वीर्य को गिराता है, वह अपने व्रत को तोड़ता है * ।१८०।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचंजपेत् ॥१८१॥

द्विज ब्रह्मचारी का यदि बिना इच्छा स्वप्न में वीर्य गिरजाए, तो वह स्नान कर, सूर्य का उपस्थान करके, 'पुनर्मां' इस ऋचा का जप करे । १८१ †॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

जल का घडा, फूल, गोबर, मट्टी और कुशा जितनी (गुरु को) आवश्यक हो लावे, और प्रतिदिन भिक्षाचरण करे ।१८२।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षंगृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

वेद (के ज्ञान) और यज्ञों से जो हीन नहीं हैं,और अपने कर्मों (पेशों) में जो प्रशंसा पाए हुए हैं, उनके घरों से ब्रह्मचारी शुद्ध होकर प्रतिदिन भिक्षा लावे ‡। १८३ ॥

---

* व्रत को तोडने से अवकीर्णी होता है,उसे आगे ११।११८-१२४ में कहा प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ † विष्णु २८ । ५१ 'पुनर्मां' ऋचा तैत्ति० आ० १ । ३० ॥ ‡ गौत० २।३५ आप० १ । ३ । २५ बौधा० १ । ३ । १८ विष्णु २८ । ९ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥
सर्वंवापिचरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

गुरु के घर, ज्ञातियों के घर, और बन्धुओं (के घरों) से) भिक्षा न मांगे, पर (इनसे) भिन्न घरों के न मिलने पर पहले२ को त्यागे (अर्थात् यदि और घर न हों, तब पहले बन्धुओं से मांगे वह भी न हों,तो ज्ञातियों से,वह भी न हों,तो गुरु के घर से ।१८४। *अथवा पूर्व (१८३ में) कहे घर न हों,तो शुद्ध हो,वाणी को रोककर(चुपचाप) सारे ही ग्राम में जाए, पर अभिशस्तों† को त्याग देवे। १८५।

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूर से‡ समिधा लाकर खुले§ आकाश में रक्खे,और सावधान होकर सायं प्रातः उनसे अग्नि को होमे (होम से प्रदीप्त करे)

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

---

*गौतम २।३७-३८ † अभिशस्त, जिन पर किसी महापातक, पातक वा उपपातक का कलंक लगा हुआ हो ॥

‡ दूरसे= जंगल की शुद्ध भूमि और शुद्ध वायु में पले वृक्षों से § खुले वायुमें छत पर वा किसीदूसरे ऐसे खुलेस्थान पर॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद् व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

रोगी न हो तो हुआ, लगातार सात दिन यदि (ब्रह्मचारी) भिक्षाचरण न करे, और अग्नि को प्रदीप्त न करे, तो अवकीर्णी प्रायश्चित्त करे*॥१८७॥ (ब्रह्मचर्य के) व्रतवाला, प्रतिदिन भिक्षा के अन्न से वृत्ति करे, एक का अन्न न खाए, भिक्षा से व्रतवाले की वृत्ति उपवास (के पुण्य) के तुल्य कही गई है † ॥ १८८ ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥१८९॥

देवताओं के लिये किये कर्म में निमन्त्रण किया हुआ (व्रती) व्रत के अनुसार (अर्थात् शहद मांसादि के त्याग पूर्वक) और पितरों के लिये किये कर्म में मुनियों के तुल्य बेशक (एक का अन्न) खाए, इससे इसका व्रत नहीं लुप्त होता है ‡ ॥१८९॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पर यह कर्म§ निरा ब्राह्मण का ही बुद्धिमानों ने बतलाया है, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य का यह कर्म नहीं विधान किया है॥१९०॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

---

* विष्णु० २८ । ५२ याज्ञ० ३ । २८१ अवकीर्णि प्रायश्चित्त आगे देखो ११ । ११९-१२० ; † याज्ञ० १ । ३२ ॥

‡ याज्ञ १ । ३२ § १८९ में कहा एक का भोजन ।

गुरु से प्रेरा हुआ वा बिन प्रेरे भी पढ़ने में और गुरु के हित (कार्यों) में लगातार यत्न करे *। १९१।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

गुरु के मुख को देखते ही, अपने शरीर, बाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन को वस में रखकर हाथ जोड़ कर खड़ा होजाए।१९२।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंवृतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥१९३॥

सदा (दायां) हाथ (वस्त्र से) बाहर निकाल रहे, उत्तम बर्ताव रक्खे, शरीर को अच्छी तरह ढांपे रक्खे, † और जब कहा जाए 'बैठो' तब गुरु की ओर मुख करके बैठे ‡। १९३॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

गुरु के समीप (गुरु से) सदा घटिया अन्न, वस्त्र और वेष वाला हो, इसके(गुरुके) पहले उठे और पीछे सोवे § १९४

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१९५॥

---

* गौत्तम० १। ५४: २। २९–३० आप० १। ५। २७; ४। २३ विष्णु २८। ६–७ याज्ञ० १। २७॥

† मेधा० कुल्लू, और राघव के अनुसार यह पाठ सुसंवृत; है। नारायण के अनुसार समाहितः, अन्यों के अनुसार सुसंयतः है। ‡ आप १। ६। १८–२० § गौत्त० २। २१ आप १। ४। २२, २८ बौधा० १। २। २१ विष्णु २८। १३॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१९६॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

(गुरु की बात का) उत्तर वा बात चीत लेटा हुआ न करे, न बैठा हुआ, न खाता हुआ, न खडा हुआ, और न मुख मोड कर *। १९५। (किन्तु गुरु) बैठा हो, तो आप आगे खडा होकर, यदि खडा हो,तो आगे उसकी ओर बढकर, यदि आरहा हो, तो आगे जाकर,यदि (गुरु) दौड रहा हो तो पीछे दौडकर । १९६। संमुख होकर, यदि वह मुख दूसरी ओर किये हो, निकट जाकर, यदि वह दूर खडा हो, नीचे झुक कर, यदि वह लेटा हो, वा नीची जगह † खड़ा हो । १९७।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरु के समीप इसका बिस्तरा और आसन सदा नीचा हो, और गुरु की दृष्टि के समीप बेपरवाही से न बैठे ‡ । १९८।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

---

* १९५-१९७ वासि० ७ । १२ गौत० २ । २५-२८ आप १ । ६ । ५-९ बौधा० १ । ३ । ३८ विष्णु २८ । १८-२२ † निकट खड़ा हो (मेधा० गोवि, कुल्लू, राघव) ॥

‡ गौत० २।१४-१५, २१ आप १।२।२१; ६।१३-१७ विष्णु२८।१२-१३ ॥

पीठ पीछे भी इस (गुरु) का निरा (मान सूचक पदवी के बिना) नाम न बोले, और न ही इसकी चाल, बोल वा अन्य किसी चेष्टा की नकल न करे * । १९९ ।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ।२००।
परीवादात्खरोभवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटोभवतिमत्सरी।। २०१ ।।

जहां (किसी शिष्य से) गुरु पर दोष लगाया जाता है वा निन्दा प्रवृत्त है, वहां कान ढांप लेने चाहियें, वा वहां से दूसरी जगह चले जाना चाहिये † । २०० । (गुरु पर) जो दोष (तोहमत) लगाता है, वह (अगले जन्म में) गधा बनता है, जो निन्दा करता है, वह कुत्ता बनता है, जो उसकी वस्तुओं को भोगता है, वह कृमि बनता है, जो डाह करता है, (उसकी बड़ाई सुनकर जलता है) वह कीट होता है ।२०१।

दूरस्थो नार्चयेदेनं नक्रुद्धो नान्तिके स्त्रियः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ।। २०२ ।।

दूर खड़ा रह कर इसको (गुरु को) न पूजे, न जब स्वयं क्रोध युक्त हो, न (जब गुरु, अपनी) स्त्री के निकट (हो), और जब स्वयं यान वा आसन पर बैठा हो, तब पहले उतर खड़ा हो, फिर अभिवादन करे । २०२ ।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।

---

* गौत० २ । २३ विष्णु २८ । २४-२५ ।। † विष्णु० २८ । २६ ।।

असंश्रवे चैवगुरोर्नकिञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

(अपनी ओर से गुरु की ओर जाते) उलटे वायु वा (उनकी ओर से अपनी ओर आते) सीधे वायु में गुरु के साथ न बैठे, और वहां से कुछ न कहे, जहां गुरु को ठीक सुनाई न दे *।२०३।

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

बैल घोड़े वा ऊंट की गाडी पर, चबूतरे वा छात पर, सत्थर पर, चटाई पर, सिला पर, पटडे पर वा नौका में (शिष्य) गुरु के साथ बैठ जावे † । २०४ ।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ।
नचानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५॥
विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

गुरु का गुरु निकट हो, तो अपने गुरुतुल्य बर्ताव करे, पर (गुरुकुल में रहता हुआ) गुरुकी अनुमति लिये बिना अपने (घर के) पूजनीयों को अभिवादन न करे ‡ । २०५ । जो किसी भी विद्या के गुरु हैं, उन सब में सदा यही बर्ताव (पूर्वोक्त रीति से अभिवादन आदि का) रक्खे, तथा अपने ज्ञातियों (चाचा आदि) में, अधर्म से रोकने वालों में और भले का उपदेश करने वालों में भी § (यही बर्ताव करे) ॥ २०६ ॥

---

* आप०१।६।१५। † आप० १। १। ७, १२-१६ विष्णु २८।२७-२८ ॥
‡ आप१। ७।२९-३०, ८।१९-०; विष्णु २८।२९-३० § आप१।८।२८॥

श्रेयः सु गुरुवद् वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

जितने श्रेष्ठ पुरुष हैं उन सब में नित्य गुरु के तुल्य बर्ताव करे, और गुरु के पुत्र जो आर्य हैं, तथा गुरु के अपने जो बन्धु हैं*

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरु पुत्र चाहे छोटा हो वा बराबर की आयु का हो वा यज्ञ कर्म में (अभी) शिक्षा पा रहा हो, पर जब वह (पिता की जगह) पढ़ा रहा है, तो गुरु के तुल्य मान के योग्य होता है †

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९॥

---

* आप १ । ७ । २९-३० बौधा० १ । ३ । ४४ । गुरु के पुत्र जो आर्य हैं ब्राह्मणी क्षत्रिया वा वैश्या से हैं; "आर्य=समान जाति अर्थात् ब्राह्मणी पुत्र (मेधा० गोवि, कुल्लू) आर्य=श्रेष्ठ (नारा० नन्द)। मेधातिथि 'गुरु पुत्रे तथाचार्ये' इस पाठान्तर को अधिक अच्छा समझता है, जिसके अर्थ होते हैं गुरु का पुत्र जो (अपने पिता के स्थान अब) आचार्य है। राघव ने यही पाठ पढ़ा है ॥

† आप० १ । ७ । ३० विष्णु २८ । ३१ इसके अर्थ में टीकाकारों का मतभेद है गुरु का पुत्र जो अपने पिता की जगह पढ़ा रहा है, जब उसका पिता यज्ञ कर्म वा किसी और कर्म में व्यापृत हैं, तो वह चाहे बाल हो वा बराबर का हो वा अभी विद्यार्थी हो, पर गुरु तुल्य मान के योग्य होता है, (नन्द०) गुरु का पुत्र चाहे छोटा हो वा बराबर का हो वा अभी विद्यार्थी हो, पर जब वह वेद पढाने के योग्य होगया है, तो वह गुरु के तुल्य मान के योग्य होता है, जब किसी यज्ञ में आया हो (कुल्लू०, राघ०) ॥

पर अङ्गों का मलना (उबटना मलना), न्हलाना, उच्छिष्ट खाना, और चरण धोना यह सेवा गुरु पुत्र की न करे * ।२०९।

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥२१०॥

गुरु की स्त्रियें जो उसी वर्ण की हैं, वह गुरु के तुल्य पूजनी चाहियें, पर जो उसी वर्ण की नहीं हैं, वह आगे से खड़ा होजाने और अभिवादन करने से पूजनी चाहियें ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां चप्रसाधनम्॥२११॥

मालिश, न्हलाना, अङ्गों पर उबटना मलना, और बालों का संवारना यह गुरुपत्नीके न करे ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

पूरे बीस बरस का, उचित अनुचितका जाननेवाला (शिष्य) युवति गुरुपत्नी के चरणों पर अभिवादन न करे ॥ २१२ ॥

स्वभावएष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥ २१३ ॥

यहां पुरुषों का बिगाड़ना, स्त्रियों का स्वभाव है; इस हेतु से बुद्धिमान् स्त्रियों में प्रमादी नहीं होते (सावधान रहते हैं) ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।

---

* २०९-२१२ गौत० २ । ३१-३४; आप० १ । ७ । २७ बौधा० १ । २ । ३३-३७ विष्णु २८ । ३२-३३; ३२ । २ । ५-७ ॥

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥ २१४ ॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनोभवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

क्योंकि स्त्रियें इस लोक में (देह-धर्म से) काम क्रोध के वशवर्त्ती न केवल मूर्खको अपितु विद्वान् को भी कुमार्ग में ले जाने के समर्थ होती हैं॥२१४॥(अतएव) अपनी माता, बहिन वा कन्या के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि बलवान् इन्द्रिय समूह खींच लेजाता है ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥
विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतांधर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

पर हां एक युवा (विद्यार्थी) युवति गुरुपत्नियों को अमुक मैं (अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः) कहता हुआ भूमि पर (न कि चरणों पर) बन्दना बेशक कर सक्ता है * ॥ २१६ ॥ भलों की मर्यादा को स्मरण करता हुआ (शिष्य) परदेश से आकर गुरुपत्नी के चरण पकड़े, और प्रतिदिन उसे नमस्कार करे॥२१७॥

यथाखनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जैसे कुदाल से खोदता हुआ पुरुष (भूमि के अन्दर छिपे) पानी को पालेता है, इसीप्रकार आज्ञाकारी (विद्यार्थी) अपने गुरु के अन्दर छिपी विद्या को पा लेता है ॥ २१८ ॥

* २१६ । २१७ विष्णु ३२ । १३-१५ ॥

मुण्डो वा जटिलो वास्यादथवास्याच्छिखाजटः ।
नैनंग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्योनाभ्युदियात्क्वचित्।२१९।
तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

(ब्रह्मचारी सारे सिर से) मूंडा हुआ वा जटावाला अथवा (निरी) चोटी की ही जटावाला (बाकी सिर से मूंड़ा हुआ) हो, सूर्य इसे ग्राम में न कभी अस्त हो, न उदय हो * ॥२१९॥ यदि जान बूझकर वा भूल से (ग्राम में) सोए हुए उसे सूर्य उदय हो जाए, वा अस्त होजाए, तो (गायत्री का) जप करता हुआ दिन भर उपवास करे, (सायंकाल की भूल में दूसरे दिन करे)†॥२२०॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तःशयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा २२१ ॥

क्योंकि जो लेटा रहा है, जब सूर्य अस्त वा उदय हुआ है, यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करता है, तो बडे पाप से युक्त होता है ‡ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभेसन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥२२२॥

पवित्र हो एकाग्र (चित्त) हुआ आचमन करके यथाविधि जप करता हुआ नित्य प्रति दोनों सन्ध्याएं उपासे ॥ २२२ ॥

---

* वासि० ७ । २ गौत० १ । २७ आप० १ । ३० । ८ विष्णु० २८ । ४१ † वासि० २० । ४ गौत० २३ । २१ आप० २ । १२-१३-१४ बौधा० २ । ७ । १६ विष्णु २८ । ५३ ॥

‡ वासि० १ । १८ आप० २ । १२ । २२ ॥

यदिस्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

यदि कोई स्त्री वा कोई छोटी जाति का पुरुष श्रेय (लोक वा परलोक के कल्याण का काम) करे, वह सब सवाधान होकर करे, वा जिसमें इसका मन सन्तुष्ट हो ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थएवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

कई (परलोक और लोक के सुख का हेतु होने से) धर्म और अर्थ को श्रेय कहते हैं, (दूसरे) काम और अर्थ को, कई निरे धर्म को ही, कई निरे अर्थ को श्रेय कहते हैं, पर निश्चय यह है, कि इन तीनों का समुदाय श्रेय है ॥ २२४ ॥

आचार्योब्रह्मणोमूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः ।
मातापृथिव्यामूर्तिस्तुभ्रातास्वोमूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥
आचार्यश्च पिताचैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

आचार्य, पिता, माता, और बड़ा भाई इन से चाहे तंग भी किया गया हो, पर इनका अपमान न करना चाहिये विशेष करके ब्राह्मण ने ‡ । २२६ । आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है, पिता

---

* गौत २ । १२ आप १ । ३० । ८ बौधा० २ । ७ विष्णु २८ । २ † आप २ । २९ । ११ ॥

‡ इन दो श्लोकों को कुल्लूक ने इसी क्रम से लिखा है, दूसरे टीकाकारों ने इसकी जगह अगले श्लोक को और उसकी जगह इसश्लोक को लिखा है,

प्रजापति (सृष्ट जीवों के मालिक) की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है, और अपना भाई अपनी ही मूर्ति है (इसलिये इन देवताओं का अपमान न करे) । २२६ ।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्यनिष्कृतिःशक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषुतुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपउच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

जो क्लेश माता पिता बच्चों की उत्पत्ति में सहते हैं, उसका पलटा सैंकडे बरसों (कई जन्मों) से भी नहीं चुकाया जासक्ता है।२२७। सदा इन दोनों का, और सदा आचार्य का प्रिय करे, जब यह तीनों प्रसन्न हैं, तो सारा तप समाप्त है (तप का सारा फल मिल जाता है) । २२८ । उन तीनों का आज्ञाकारी होना परम तप कहलाता है, उनकी अनुमति बिना कोई और धर्म न करे †॥२२९॥

त एवहि त्रयो लोकास्तएव त्रयआश्रमाः ।
तएव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रियोऽग्नयः॥२३०॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

यही (तीन) तीनों लोक, यही तीनों आश्रम, यही तीनों

* २२५=आप १ । १४ । ६ विष्णु ३१ । १-३ ॥ †विष्णु । ३१।६ ॥

वेद, यही तीनों (यज्ञ की) अग्नियें कहे हैं * । २३० । पिता गार्हपत्य अग्नि के (समान) है, माता दक्षिणाग्नि है, और गुरु आहवनीय अग्नि है, यह तीन अग्नियें (श्रौत अग्नियों से) पूज्यतर हैं † ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेदगृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिविमोदते ॥ २३२ ॥
इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषयात्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३॥

इन तीनों में गृहस्थ (बनने के पीछे भी) प्रमाद न करता हुआ तीनों लोकों को जीत लेता है, और देवता की तरह अपने शरीर से चमकता हुआ द्यौ लोक में आनन्द भोगता है ‡ ।२३२। माता की भक्ति से इस (भू-) लोक को, पिता की भक्ति से मध्यम (अन्तरिक्ष) को और गुरु की आज्ञाकारिता से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है § ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आहृता ।
अनादृतास्तुयस्यैतेसर्वास्तस्याऽफलाःक्रियाः॥२३४॥
यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥

* विष्णु । ३१ । ७ तीन लोक=पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौलोक; तीन आश्रम=पहले तीन आश्रम (कुल्लू० नारा० नन्द०) अन्तिम तीन आश्रम (मेधा० गोवि) इन तीनों की सेवा से तीनों लोक जीत लिये जाते हैं, तीनों आश्रमों, तीनों वेदों और तीनों अग्नियों का फल प्राप्त होता है । † आप १ । ३ । ४४ विष्णु ३१ । ८ ॥
‡ विष्णु ३१ । ९ § विष्णु ३१ । १० ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥
त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

उसने सारे धर्मों का आदर किया, जिसने इन तीनों का आदर किया, और जिसने इनका अनादर किया, उसके सारे कर्म निष्फल जाते हैं।२३४। जब तक यह तीनों जीते हैं, तब तक (स्वतन्त्रता से) कोई और (धर्म) न करे, उन्हीं के प्रिय और हित में लगा हुआ सदा उनकी सेवा करे।२३५।उनकी अनुकूलता से जो२ (काम) मन वचन कर्म से परलोक के लिये करे, वह २ उन्हें निवेदन करदे । २३६ । इन तीनों (की पूजा) से पुरुष की (श्रौत स्मार्त) सारी कर्तव्यता समाप्त होती है, (सारे फल इन तीनों की सेवा से मिलते हैं) यह साक्षात् परम धर्म है, और (कर्तव्य) उपधर्म कहलाता है ॥ २३७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२३९॥

श्रद्धा युक्त हुआ शुभ विद्या को शूद्र से भी लेलेवे, चण्डाल से भी श्रेष्ठ धर्म को, और स्त्री रत्न को दुष्कुल से भी लेलेवे*।२३८।

---

* आप २ । २९ । ११ श्रेष्ट धर्म=मुक्ति पाने का उपाय (कुल्लू) लौकिक कामों में श्रेष्ठ मर्यादा (मेधा, गोवि, राघ) दुष्कुल=पतित कुल (मिलाओ वासिष्ठ १३ । ५१-५३); अपनी अपेक्षा से निकृष्ट कुल (कुल्लू) जिस कुल में वैदिक कर्म छूटे हुए हैं (मेधा०) कुम्हारादि छोटी जातियें (गोवि) ॥

बिष से भी अमृत लेलेना चाहिये, बालक से भी अच्छी सलाह, शत्रु से भी भला आचरण, और अपवित्र (स्थान वा वस्तु) से भी सोना (लेलेना चाहिये) ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२४०॥
अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

स्त्रियें जो रत्न* हैं, विद्या, धर्म (का ज्ञान), अच्छी सलाह और अनेक प्रकार के शिल्प (हुनर) हरएक से लेलेने चाहियें, ।२४०। पर (वेद का) पढ़ना अब्राह्मण (क्षत्रिय और वैश्य) से आपत्काल में ही विधान किया है, गुरु के पीछे चलना और सेवा जब तक पढ़ता है (तब तक करे) † ॥ २४१ ॥

नाऽब्राह्मणे गुरौ शिष्योवासमात्यान्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२४२॥

सर्वोत्तम गति (मोक्ष) को चाहता हुआ शिष्य अब्राह्मण गुरु के पास सदा का वास न करे, और न ऐसे ब्राह्मण के पास जो सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग नहीं जानता है ‡ ॥ २४२ ॥

---

* स्त्रियें और रत्न (मेधा० गोवि०) † गौत० ७ । १-३ ; आप० २ । ४ । २५ ; बौधा० १ । ३ । ४१-४३ ॥

‡ ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं, उपकुर्वाणक और नैष्ठिक । उपकुर्वाणक जो गुरु दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करते हैं, और नैष्ठिक जो सारी आयु गुरु के पास बिताते हैं । यह नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अब्राह्मण गुरु के पास वा विद्या में अधूरे ब्राह्मण के पास न धारे । किन्तु पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण गुरु के पास ही धारे ।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥
आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥२४४॥

पर यदि (शिष्य) गुरुकुल में सदा का वास पसन्द करता है, तो उसे सावधान होकर शरीर के छूटने तक इस (गुरु) की सेवा करनी चाहिये * । २४३ । शरीर की समाप्ति तक जो गुरु की सेवा करता है,वह विद्वान् ब्राह्मण सीधा ब्रह्म के अविनाशी स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥
क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२४६॥

धर्मज्ञ (शिष्य समावर्तन से) पहले गुरु की कुछ भेंट न करे, पर जब गुरु से आज्ञा पाकर (समावर्तन) स्नान करने लगे, तब यथाशक्ति गुरु के लिये (भेंट) लावे † । २४५ । (अर्थात) क्षेत्र सोना, गौ, घोडा, छाता, जूता, आसन, वस्त्र, अनाज, शाक (जो कुछ भी बने सरे) गुरु की प्रीति के लिये लावे ‡ ॥२४६॥

---

* वासि० ७।४ गौत० ३।५६ आप २।२१।६ बौधा० २।११।११-१३॥

† गौत २ । ४ । ८-४९ आप १ । ७ । १९ विष्णु २८ । ४२ याज्ञ १ । ५८ ‡ यह दक्षिण का नियम उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी के लिये है, उसी का समावर्तन होता है, नैष्ठिक का नहीं ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥
एतेष्वविद्यामानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्नि शुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥
एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२४९॥

(नैष्ठिकब्रह्मचारी को) चाहिये, कि जब गुरु मरजाए, तो गुणों वाले गुरु के पुत्र की, वा गुरु की विधवा की, वा गुरुके सपिण्ड * की गुरु तुल्य सेवा करे † ।२४७। यह सभी न हों, तो नित्य स्नान करे (अग्नि के पास) बैठ कर वा खड़ा रह कर (समिधा आदि से) अग्नि की सेवा करता हुआ अपने शरीर को साधे (तपस्वी बनाए) ‡ । २४८ । इस प्रकार जो ब्राह्मण अखण्डित ब्रह्मचर्य करता है, वह (मरने के पीछे) उत्तम स्थान को जाता है, और फिर यहां आकर नहीं उत्पन्न होता हैं §२४९

---

* सपिण्ड के लिये देखो आगे ५ । ६० † गौतम २ । ७ । विष्णु २८ । ४४-४५ । याज्ञ० १ । ४९ ‡ वासि० ७ । ५-६ । गौतम ३ । ८ । विष्णु २८ । ४६ । याज्ञ० १ । ४९ § विष्णु २८ । ४९ याज्ञ० १ ।५०। अखण्डित ब्रह्मचर्य तो प्रशंसनीय है, पर सारी आयु गुरु वा अग्नियोंकी सेवा में ही बितादे, यह वैदिक उत्साही जीवन से गिरा हुआ भाव है ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥
वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥ २ ॥

तीनों वेदों के पढने का व्रत * गुरु के अधीन छत्तीस वर्ष तक, वा इस से आधे समय तक वा चौथाई समय तक, वा पूरी तरह सीख लेने तक पूरा करना चाहिये ॥१॥ अखण्डित ब्रह्मचर्य के साथ यथाक्रम तीनों वेदों को, वा दो वेदों को वा एक ही वेद को पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे † ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥४॥

वह जो अपने धर्म (के पालन) से विख्यात हुआ है, और पिता से ‡ वेद का दाय (विरसा) लेलिया है, माला पहने हुए

---

* यज्ञ कर्म में तीनों वेदों का उपयोग होने से तीनों के लिये व्रत कहा है † याज्ञ०१।५२ ॥

‡ 'पिता से, कहने से यह पाया जाता है, कि पिता से वेद का पढ़ना मुख्य है, पिता के अभाव में आचार्यादि से पढ़े, (टीकाकार) पर वस्तुतः यहां वेद में जन्म देनेवाले पितासे अभिप्राय है ॥

शय्या के ऊपर बैठा है, उसे पहले गौ से पूजन करे ॥ ३ ॥ गुरु की अनुज्ञा से स्नान करके (समावर्त्तन की) विधि के अनुसार घर वापिस आया द्विज अपने वर्णकी शुभ लक्षणोंवाली स्त्रीको व्याहे*४

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

जो माता की (ओर से) सपिण्डा न हो, और पिता की (ओर से) सगोत्रा न हो, वह द्विजों को पत्नी बनाने और दोनों से किये जाने वाले कार्य (अग्न्यधानादि और सन्तानोत्पादन) में श्रेष्ठ है † ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्री सम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ठिकुलानिच ॥ ७ ॥

स्त्री के सम्बन्ध में यह दस कुलें—चाहे गौ, बकरी, भेड़, धन और अनाज से भरपूर भी हों, तभी छोड देवें ।६। (अर्थात् वह कुल) जो कर्मों (संस्कारों और वैदिक कर्मों) से हीन हो रही है, जिस में नर सन्तान उत्पन्न नहीं होती है, जिस में वेद का अध्ययन नहीं है, जिस में उत्पन्न होने वालों के शरीर पर बड़े लोम होते हैं, जिस में बवासीर है, जिस में क्षयी रोग (तप-

---

* वासि० ८ । १ गौत० ४ । १ ; याज्ञ० १ । ५२ । शुभ लक्षणों वाली देखो आगे ७।१० और शाङ्खायन गृह्य १।५।१० ॥ † सपिण्ड पर देखो ५ । ६० मनु के इस वचन के अनुसार माता का गोत्र छोड़ना आवश्यक नहीं, केवल सात पीढी में से न मिलती हो ॥

दिक वा सिल) हो, जिस में मन्दाग्नि रोग (हाज़मे की बीमारी) हो, जिसमें मिरगी का रोग हो, जिसमें फुलबहरी (श्वेत कुष्ठ) का रोग हो, जिसमें कुष्ठ का रोग हो * ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम्॥८॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

कपिला (कैरे बालों वाली) कन्या न विवाहे, न अधिक (फजूल बड़े २) अंगोंवाली, न रोगिणी, न जिसके (शरीर पर) लोम नहीं, न जिसके बड़े २ लोम हैं, न बडबोली, न भूरी आंखोंवाली † ॥ ८ ॥ न नक्षत्र, वृक्ष और नदी के नामवाली, न नीचजाति के नामवाली, न पर्वत के नामवाली, न पक्षी, सर्प और दासी के नामवाली, न डरावने नामवाली ॥ ९ ॥

अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥
यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए, जो किसी अंग से व्यंग हो, सौम्य नामवाली हो, हंस और हाथी की चालवाली हो,

---

* विष्णु २४ । २ याज्ञ० १ । ५४ ॥

† याज्ञ० १ । ५३ विष्णु २४ । १२–१६ ॥

सूक्ष्म लोम बाल और दांतोंवाली हो ॥१०॥ पर जिसका भाई न हो, वा पिता नामालूम हो, उसे बुद्धिमान् पुत्रिका और अधर्म की शंका से न विवाहे * ॥ ११ ॥

सवर्णाऽग्रेद्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तुप्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥१२॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्चस्वाचाग्रजन्मनः ॥१३॥

द्विजों को पहले विवाह में अपने वर्ण की (कन्या) श्रेष्ठ है किन्तु काम से प्रवृत्त हुओं के लिये यह (अनुलोम) क्रम से श्रेष्ठ हैं † । १२ । केवल शूद्राही शूद्र की स्त्री होती है, वह और अपने वर्ण की वैश्यकी होती हैं, वह दोनों और अपने वर्ण की क्षत्रिय की, वह तीनों और अपने वर्ण की ब्राह्मण की मानी गई हैं ‡ । १३ ।

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।

---

* याज्ञ० १ । ५३ पुत्रिका=पुत्र बनाई हुई । जिस कन्या का भाई न हो, उसको पिता अपनी पुत्रिका जब चाहे बना सक्ता है और पुत्रिका बनाई हुई का पहला पुत्र नाना लेलेता है, इस डर से तो जिसका भाई नहीं, उसे न विवाहे, और अधर्म के डर से, जिस का पिता ज्ञात नहीं। क्या जाने सगोत्रा ही हो वा कोई और दोष हो, "जिसका भाई न हो, और पिता का पता न हो, उसको पुत्रिकाधर्म (पुत्र की जगह मान लेने की मर्यादा) की शंका से न विवाहे, यदि पिता का पता हो, तो उससे पूछकर निर्णय कर लेवे, कि पुत्रिका तो नहीं बनाएगा, फिर विवाह लेवे ॥ (मेधातिथि)

† बौधा १ । १६ । २-५ विष्णु २४ । १-४ ‡ वासि १ । २५-२६ याज्ञ० १ । ५६ ॥

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपादिश्यते ॥१४॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्॥१५॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय की किसी भी इतिहास में (पहली) स्त्री शूद्रा नहीं बतलाई है, चाहे वह कितनी आपत्ति में भी हों *। १४। जो द्विज भूल से (पहले) शूद्रा को विवाह लेते हैं, वह सन्तान समेत अपने कुलों को जल्दी शूद्रभाव में ले जाते हैं † ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अत्रि और उतथ्य के पुत्र (गौतम) के अनुसार शूद्रा का विवाहने वाला पतित (जातिबाह्य) होजाता है, शौनक के अनुसार पुत्र की उत्पत्ति से, और भृगु के अनुसार उसी सन्तान वाला होने से (पतित होता है) ‡ ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥
दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥१८॥

---

* वसि १।२७ गौत १५। १८ आप १। १८। ३३ † विष्णु २५।६

‡ इस श्लोक के समय अत्रि और गौतम वंश वालों ने अपने वंशके लिये यह मर्यादा बना ली थी, कि शूद्रा के विवाहने वाले को अपने में से अलग करदेते थे, शौनक वंश वाले यदि उसमें से सन्तान उसके घर में होजाए, तब अलग करदेते थे, और भृगुके वंश वाले यदि निरी उसीकी सन्तान हो, तब करते थे ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

शूद्रा को शय्या पर चढ़ाकर ब्राह्मण नीचगति (नरक) को प्राप्त होता है, उसमें पुत्र को उत्पन्न करके ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है ।१७। जिसके देवताओं पितरों और अतिथियों के लिये कर्म शूद्रा (स्त्री) की मुख्य सहायता से होते हैं (न कि आर्या स्त्री की सहाता से) उसके उस (दिये) को पितर और देवता नहीं खाते हैं, और वह (पुरुष) स्वर्ग को नहीं जाता है * । १८। शूद्रा के होंट की थूक जिसने पी है, और उसके सांस से दूषित हुआ है, और उसमें पुत्र को उत्पन्न किया है, उसका प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताऽहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

अब चारों वर्णों के इन आठ स्त्री विवाहों को जानो (जिन में से कई एक) मरने के पीछे और इस लोक में हितकारी हैं (और कई) अहितकारी हैं ॥ २० ॥ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और आठवां पैशाच जो बहुत निकृष्ट है † ॥ २१ ॥

---

* वासि० १४। १९ विष्णु २५। ७॥

† २१-३४ वासि०१।१७-३५ गौतम०४।६-१५ आप०२।११।१७-२१ बौधा० १। २०। १-२१, २३ विष्णु० २४। १८-२८ याज्ञ० १। ५८-६१॥

यो यस्यधर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौच यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवेचगुणाऽगुणान् ॥ २२ ॥
षडानुपूर्व्याविप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तुतानेव विद्याद्धर्म्यानऽराक्षसान् ॥२३॥

(इनमें से) जो विवाह जिस वर्ण के लिये धर्मयुक्त है, और जिस विवाह के जो गुण दोष हैं, और जो आगे (उनकी) संतान से भलाई बुराई (की आशा) है, यह सब तुम्हें बतलाउंगा ॥ २२ ॥ इनमें से छः अनुक्रम से ब्राह्मण के लिये, अन्त के चार क्षत्रिय के लिये, वही फिर राक्षस के बिना वैश्य और शूद्र के लिये धर्मयुक्त जाने * ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥
पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥२६॥

बुद्धिमान् पुरुष पहले चारों (ब्राह्म,दैव,आर्ष,प्राज्यापत्य) को ब्राह्मण के लिये उत्तम कहते हैं, क्षत्रिय को एक राक्षस और शूद्र को आसुर ॥ २४ ॥ इनके मध्य में (अन्त के) पांचों में से तीन धर्मवाले और दो अधर्मवाले कहे गए हैं, पैशाच और आसुर

---

* २३से२६ तक विवाहों के विषय में भिन्न२ लोगों की सम्मतियां कही प्रतीत होती हैं। जो कि आपसमें एक दूसरे के विरुद्ध हैं। स्मृतिकार की अपनी सम्मति आगे श्लोक ३९ में स्पष्ट है ॥

(विवाह) कभी नहीं करने चाहियें ॥ २५ ॥ पूर्व कहे गान्धर्व और राक्षस यह दो विवाह अलग २ वा मिले हुए * क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त माने गए हैं ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥२७॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

(कन्या को बहुमूल्य) वस्त्र पहनाकर और (भूषणों से) पूजा करके*किसी वेद पढ़े सदाचारी वर को जो आप बुलाकर देना है, यह ब्राह्म (ब्राह्मणों की) मर्यादा कही गई है ॥ २७ ॥ प्रवृत्त हुए (ज्योतिष्टोमादि) यज्ञ में यथाविधि कर्म करते हुए ऋत्विज् को, (वस्त्र भूषणादि से–) सजाकर जो कन्या का देना है, उसे दैव, (देवताओं की) मर्यादा कहते हैं ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥
सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिःस्मृतः ॥३०॥

एक वा दो गौ मिथुन (गौ बैल का जोड़ा) वर से धर्मार्थ

---

* जब एक कन्या का किसी वीर पर पहले ही अनुराग है, तो उसका अनुराग जानकर वर जब युद्ध में जीतकर उसे पिता के घर से लावे, तब गान्धर्व और राक्षस दोनों विवाह मिले हुए हैं

* वर को मधुपर्क से पूजकर (नारा०) ॥

* लेकर जो यथाविधि कन्या का देना है, यह आर्ष (ऋषियों की) मर्य्यादा कही जाती है ॥२९॥ "तुम दोनों मिलकर अपने कर्त्तव्य को पूरा करो" यह वाणी से कहकर (वस्त्र भूषणादि) से पूज कर † जो कन्या का देना है, यह प्राजापत्य (प्रजापतियों की) मर्य्यादा कही गई है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥
इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥३२॥

(कन्या के) ज्ञातियों (पिता आदि) को और कन्या को यथाशक्ति धन देकर अपनी इच्छा से * कन्या का लेना आसुर (असुरों की) मर्यादा कही जाती है ॥ ३१ ॥ कन्या और वर का (दोनों की अपनी) इच्छा से संयोग, जोकि काम से उत्पन्न हुआ मैथुन सम्बन्धी है, वह गान्धर्व (गन्धर्वों की मर्य्यादा) जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधि रुच्यते ॥ ३३ ॥

(कन्या के रक्षकों को) मार काटकर और (किले को)

---

* नित्य के अग्निहोत्रादि धर्म कार्यों को पूरा करने के अर्थ कन्या को ही देने के लिए, न कि अपने पास रखने के लिये (देखो आगे ५१-५४) † वर को मधुपर्क से पूजकर, (नारा०, नन्द) ।

* अपनी इच्छा से न कि आर्ष की तरह धर्मार्थ (मेधा०, गो, कुल्लू, नारायण, नन्द) ॥

तोड़कर पुकारती और रोती हुई कन्या को बलात्कार घर से ले जाना राक्षस (राक्षसों की) मर्यादा कही जाती है *॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥३४॥

जब कोई पुरुष एकान्त सोई हुई वा नशा पी हुई वा प्रमत्त हुई (पागल हुई, घबराई हुई, वा और किसी तरह अपना शील बचाने से रहित हुई) के पास जाता है, तो वह विवाहों में से पाप का भरा हुआ अधम पैशाच (पिशाचों का विवाह) है ॥३४॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥
यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्त्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥३६॥
दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥
दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षिट्षट कायोढजःसुतः॥३८॥

---

* बलात्कार कन्या का हरना इतना ही राक्षस विवाह का लक्षण है, उसके रक्षकों को मारना काटना लक्षण का अङ्ग नहीं यदि वह अपनी निर्बलता देख कर न लड़ें,तो फिर मारना काटना नहीं होता है । यहां पुकारती रोती कहने से गान्धर्व विवाह से इसका भेद किया है ॥

जल से ही ब्राह्मणों का कन्यादान उत्तम होता है, और दूसरे वर्णों का आपस की इच्छा से होता है (नारियल आदि के भेज देने से भी होता है)॥ ३५ ॥इन विवाहों में से जिसका जो गुण मनुने बतलाया है, वह अब हेब्राह्मणो ! सुनो मैं सारा कहता हूं ॥ ३६ ॥ ब्राह्म मर्यादा से विवाही का पुत्र पुण्यकर्मा होकर अपने वंश के (दस पीढ़ी तक) पूर्व पितरों को और दस (पीढ़ी तक) छोटों को और इक्कीसवें अपने आपको पाप से छुड़ाता * है ॥ ३७ ॥ दैव मर्यादा से विवाही का पुत्र सात २ बड़ों छोटों को (और पन्द्रहवें अपने आपको) आर्ष मर्य्यादा से विवाही का पुत्र तीन २ को, और प्राजापत्य मर्यादा से विवाही का पुत्र छः छः को (और अपने आपको) पाप से बचाता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥३९॥
रूपसत्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥४०॥

क्रम से कहे ब्राह्मादि चार विवाहों में ही ब्रह्मवर्चस (धर्म के तेज) वाले और शिष्टों के प्यारे पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

---

* ३७-४२ गौत० ४ । २९-३३ आप० २ । १२ । ४ बौधा० १ । २१ । १ विष्णु० १४ । २९-३२ याज्ञ० १ । ५८-६०, ९० । इन विवाहों से उत्पन्न हुए पुत्रों का पुण्यकर्मा होना अधिक सम्भावित है । इस लिये (३७में) पुण्यकर्मा होकर कहा है । ऐसा पुण्यात्मा होता है, कि उसके पुण्य के प्रभाव से उसके पूर्व पितर नरक से बचते हैं, और उस के पुत्रादि निष्पाप होते है, यह इस का अभिप्राय है ।

सुन्दर रूप से और सत्वगुण से * युक्त, धनवाले, यशवाले, बहुत बड़े भोगोंवाले, बड़े धर्मात्मा होते हैं, और सौ वर्ष जीते हैं ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥
अनन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

दूसरे कहे चार दुष्ट (आसुरादि) विवाहों में, क्रूर, झूठ बोलने वाले, वेद से और धर्म से द्वेष करनेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥४१॥ उत्तम स्त्री विवाहों से मनुष्यों की उत्तम सन्तान और निन्दितों से निन्दित होती है, इसलिये निन्दितों को छोड़ देवे ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥
शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

पाणिग्रहण (हाथ पकड़ने) का संस्कार अपने वर्ण की स्त्रियों में बतलाया है, जो अपने वर्ण की नहीं है, उन स्त्रियों के साथ विवाह में यह मर्यादा जानो † ॥ ४३ ॥ ‡ कि ऊंचे वर्णवाले

---

* सत्वगुण पर देखो आगे १२ । ३१ ; रूप सत्व और दूसरे गुण दया आदि से युक्त (राघव, कुल्लू) ॥

† विष्णु १४ । ५-८ याज्ञ० १ । ६२ ‡ क्षत्रिय और वैश्य की कन्या तीर और सांटे का एक सिरा पकड़ती है, और दूसरा सिरा वर पकड़ता है, उन्हीं मन्त्रों को पढ़ता हुआ, जो कि सवर्णा के विवाह में पढ़े जाते हैं (नारा०) ॥

पुरुष के विवाह में क्षत्रिया को तीर, वैश्य कन्या को सांटा और शूद्रा को वस्त्र का किनारा पकड़ना चाहिये ॥४४॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदार निरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥
ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

ऋतुकाल में (अपनी स्त्री के पास) जाए, सदा अपनी स्त्री में प्रीतिवाला हो। स्त्रीव्रती हुआ * रति की इच्छा से † पर्व ‡ छोड़कर इसके पास जाए ॥ ४५ ॥ (पहले) चार दिन जो शिष्टों से निन्दित हैं, § उनके समेत सोलह (दिन) रातें (हरएक महीने में) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतु कहागया है¶॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥४७॥
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्मादयुग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥४८॥

---

* अपनी पत्नी से अतिरिक्त किसी को मन में भी न लाता हुआ † मेधातिथि और कुल्लूक इसका यह आशय लेते हैं, कि बिना भी ऋतुकाल के स्त्री की प्रीति के लिये रति की इच्छा से जावे। ‡ पर्व=अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी, चतुर्दशी (देखो आगे ४।१२८) वासि० १२ । २१-२४ गौत० ५ । १-२ आप० २ । १ । १७-१८ बौधा० ४ । १७—१९ याज्ञ० १।८०-८१ विष्णु ६९।१। § पहले चार दिन वर्जित हैं॥ ¶ याज्ञ० १ । ७९ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥४९॥

इनमें से पहली चार और ग्यारहवीं और तेरहवीं (रातें) निन्दित हैं, शेष दस रातें उत्तम हैं ॥ ४७ ॥ (उन दसों में) जो युग्म हैं, उनमें पुत्र उत्पन्न होते हैं, और अयुग्म रात्रियों में कन्याएं होती हैं, इसलिए पुत्र चाहनेवाला ऋतु समय पर युग्मों में स्त्री के पास जाए * ॥४८॥ पुरुष का बीज अधिक हो, तो पुरुष उत्पन्न होता है, स्त्री का अधिक हो, तो स्त्री होती है, यदि (दोनों) बराबर हों तो नपुंसक (हीजड़ा) अथवा एक लड़का और एक लड़की होते हैं, यदि दोनों का बीज दुर्बल हो, वा अल्प हो, तो व्यर्थ जाता है ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥ ५० ॥

निन्दित (छः) रात्रियों में और आठ और रात्रियों में स्त्रियों को छोड़ता हुआ चाहे जिस आश्रम में हो† ब्रह्मचारी ही है॥५०॥

---

* याज्ञ० १।७८

† इससे एक ऋतुकाल में एक ही बार जाने वाले की प्रशंसा की है। पहली चार ग्यारहवीं और तेरहवीं यह छह रातें तो सब के लिए निन्दित हैं। इनके सिवाय आठ और त्याग देवे। तब सोलह में से शेष दो रातें एक युग्म एक अयुग्म रही। उनमें से पुत्र चाहनेवाला युग्म में और कन्या चाहनेवाला अयुग्म रात में एक ही ऋतु में एक ही बार जाए, तो वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के तुल्य है। यह प्रशंसा है। गोविन्दराज ने यह आशय लिया है, कि जिसका पुत्र मर गया है, वह यदि किसी और आश्रम में भी हो

नकन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥५१॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥५२

(मर्यादा का) जाननेवाला कन्या का पिता थोड़ा भी शुल्क (मूल्य) न लेवे, क्योंकि जो लोभ से शुल्क लेता है, वह सन्तान का बेचनेवाला है * ॥ ५१ ॥ जो बान्धव (रिश्तेदार) अज्ञानता से स्त्रियों के निज के धनों को उपभोग करते हैं, उनकी गाड़ियें वा वस्त्र (वा कुछ और), वह पापी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥५२॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥५३॥
यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

कई लोग आर्ष विवाह में गौ के जोड़े को शुल्क बतलाते हैं, पर यह झूठ ही है, इसतरह (शुल्क लेना) चाहे थोडा वा बहुत हो, वह (कन्या का) बेचनाही है † ॥ ५३ ॥ हां जिन कन्याओं

तो उसको पुत्र के लिए निरी दो रातें जाने में दोष नहीं है। कुल्लूक यह आशय लेता है, कि वानप्रस्थ में स्त्री साथ भी होसक्ती है, इसलिए स्त्री के संग होने में वानप्रस्थ को इतनी अनुज्ञा दी है, कि यदि वह ऋतुकाल में दो ही रातों में जाए, तो पापी नहीं होता॥

* वासि० १। ३७-३८ आप० २। १३। ११ बौधा० १। २१। २-३

† वासि० १। ३६ आप० २। १३। १२

का शुल्क उनके बन्धु नहीं लेते, वह बेचना नहीं है, वह कुमारियों की पूजा है और निरी अनुकम्पा है * ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्याभूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्तेसर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥५६॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु तत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

(न केवल विवाहकाल में ही, किन्तु सर्वदा ही) पिता, भाई, पति और देवर जो अपना कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिए, कि स्त्रियों का मान करें, और उन्हें भूषित करें, † ॥५५॥ जहां स्त्रियों का मान होता है, वहां देवता आनन्द मनाते हैं, और जहां इनका

---

* ५३-५४ का तात्पर्य यह है, कि आर्ष विवाह में गौओं का जोड़ा जो वर देता है, वह पिता अपने लिए नहीं लेता, किन्तु वह कन्या को ही देने के लिए लेता है जिस से कि उनके यज्ञादि धर्मकार्य न रुकें । क्योंकि यह स्त्रीधन हो जाता है, उसे कोई ले नहीं सकता, पति भी नहीं । और उस गौ जोड़े से जो आगे सन्तति बढ़ती है, वह भी स्त्रीधन ही होता है, इनको पति तंगी में भी बेच नहीं सकता । अतएव तंगी में भी उन के यज्ञादि कर्म नहीं रुकते । यही कन्या की पूजा है, और उसके घर में दूध दही सदा बना रहे, यह अनुकम्पा भी है । जो इसको शुल्क समझते हैं, वह भ्रान्त हैं । यह शुल्क नहीं । शुल्क चाहे कितना ही थोड़ा हो, वह बेचना ही है ॥

† ५५—६० याज्ञ० १ । ८२ ॥

मान नहीं होता है वहां सब कर्म निष्फल जाते हैं ॥ ५६ ॥ जहां कुलीन स्त्रियें शोक में रहती हैं, वह कुल जल्दी नष्ट होता है, और जहां यह शोक नहीं करती हैं, वह सदा बढ़ता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

अनादर पाई स्त्रियें जिन घरों को शाप देती हैं, वह जादू (इन्द्रजाल) से नष्ट हुए की तरह बिल्कुल नष्ट होजाते हैं॥५८॥ इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि पर्वों और त्योहारों में वस्त्र भूषण और भोज्य वस्तुओं से सदा इनका मान करें॥५९॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥६०॥
यदिहि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमादयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ ६१ ॥

जिस कुल * में स्त्री से भर्त्ता और भर्त्ता से स्त्री सदा प्रसन्न है, वहां कल्याण अटल है ॥ ६० ॥ क्योंकि यदि स्त्री न चमके, तो वह पति को उत्साह से नहीं भर सक्ती, और पति के उत्साह पूर्ण न होने से सन्तान नहीं होती है ॥६१ ॥

---

* कुल कहने से न केवल पति पत्नी ही, किन्तु पुत्र पौत्रादि सभी कल्याण भागी होते हैं ।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥
कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥६३ ॥

स्त्री के चमकने पर सारा कुल चमकता है, उसके न चमकने पर सारा कुल नहीं चमकता है ॥ ६२ ॥ निन्दित विवाहों से, क्रियाओं (संस्कारों और यज्ञों) के लोप से, वेद के न पढ़ने से, और ब्राह्मणों का अनादर करने से, (ऊंचे) कुल नीच कुल होजाते हैं ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥
अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानिमन्त्रतः ॥६५॥

दस्तकारी से, (रुपये के) व्यवहार से, निरा शूद्रा के पुत्रों से, गौ घोड़े और रथों (की तिजारत) से, खेती से, राजा की सेवा से*॥६४॥ यज्ञ कराने के अयोग्यों (व्रात्य,पतित आदि) को यज्ञ कराने से, कर्मों की नास्तिकता (कर्मों का परलोक में फल मिलने पर अश्रद्धा) से, कुल जल्दी नष्ट होजाते हैं, और जो मन्त्र से हीन हैं † ॥ ६५ ॥

---

* बौधा० १ । १० । २८ † २ । १० । २६ यह विशेषतः ब्राह्मण के लिये है । इससे उस समय की छुटाई बड़ाई का आदर्श ज्ञात होता है, वेद में खेती आदि की प्रशंसा है ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥६६॥

पर जो कुल वेद से समृद्ध (वेद के धन से भरपूर) हैं, वह चाहे थोड़े धनवाले भी हों, वह कुलों की गिनती में आजाते हैं, और बडा यश खींच लेते हैं * ॥ ६६ ॥

संगति-विवाह प्रकरण समाप्त हुआ । अब गृहस्थ के लिये पांच महायज्ञों का विधान बतलाते हैं :-

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥६७॥

गृहस्थ अपने गृह्यकर्म और पञ्चयज्ञों का अनुष्ठान, और प्रति दिन का पाक विवाह के (समय स्थापन किये) अग्निमें किया करे †

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥६८॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

गृहस्थ के लिये पांच सूना (हत्यास्थान) हैं-चूल्हा, चक्की, बुहारी,ऊखल,मूसल, और पानी का घड़ा, जिनको काम में लाने से (पाप के बन्धनों से) बन्धता है ‡ ॥ ६८ ॥ क्रम से इन सब (सूनाओं) का बदला चुकाने के लिये § महर्षियों ने गृहस्थों के लिये पांच महायज्ञ नियत किये हैं ¶ ॥ ६९ ॥

---

*बौधा०१।१०।२९ † गौत० ५।७ बौधा०२।४।२२ विष्णु ५९।१ याज्ञ०१।९७ गृह्यकर्म=वह सारे कर्म जो गृह्यसूत्रों मे कहे गये हैं ॥

‡ विष्णु ५९ । १९ § इन आवश्यक हत्याओं के बदले जीवों को सुख पंहुचाने के लिये ¶ ५९ । २०

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥७०॥
पञ्चैतान्योमहायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥
देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥७२॥

पढ़ाना (और पढ़ना) ब्रह्मयज्ञ (ब्रह्म के लिये यज्ञ),(पितरों को अन्न वा जल से) तर्पण, पितृयज्ञ (पितरों के लिए), होम, दैवयज्ञ (देवताओं के लिये यज्ञ), (भूतों के लिये) बलि, भूतयज्ञ (भूतों=प्राणियों के लिये यज्ञ) और अतिथियों का पूजन मनुष्ययज्ञ (मनुष्यों के लिये यज्ञ) है * ॥७०॥ जो इन पांच महायज्ञों को यथाशक्ति † त्यागता नहीं है, वह सदा घर में रहता हुआ भी सूना के पापों से लिप्त नहीं होता है ॥ ७१ ॥ जो देवता, अतिथि अवश्य भरणीय ‡(वह सब जिनका भरण पोषण उस पर आवश्यक है) पितर, और स्वयं आप इन पांच के लिये (अपनी कमाई में से) नहीं निकालता है, वह सांस लेता हुआ भी नहीं जीता है ॥ ७२ ॥

---

* गौत० ५ । ३ । ९ आप० १ । १२ । १५ बौधा २ । ५ । ११; २ । ११ । १-६ विष्णु ५९ । २१, २२ याज्ञ० १ । १०२ † जब तक कर सकता है वा जैसा थोड़ा बहुत कर सक्ता है, ‡ अवश्य भरणीय=वृद्ध माता पिता आदि (मेधा०, गो० कुल्लू) अथवा पशु जो काम के अयोग्य होगये हैं (मेधा०) भूत (नारा० राघ) नन्द भृत्यानां के स्थान भूतानां पाठ पढ़ता है ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्मयं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥७४॥

इन पांच यज्ञों को अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत और प्राशित भी कहते हैं * ॥ ७३ ॥ अहुत (वेद का) जप है, हुत होम है, प्रहुत भूतों के लिये बलि है, ब्राह्महुत ब्राह्मणों (अतिथियों) की पूजा है, और प्राशित पितृ तर्पण है ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तःस्याद्दैवेचैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्त्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

(यदि और यज्ञ न कर सके, तो भी) स्वाध्याय और दैवकर्म (होम) में यहां नित्य प्रति लगा रहे, क्योंकि दैवकर्म में लगा हुआ, चर अचर दोनों को पालता है ॥ ७५ ॥ अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुंचती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न, उस (अन्न) से सब प्राणधारी होते हैं † ॥ ७६॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८॥

---

* देखो० पार०गृह्य०१।४।१ शांखा०गृ०१।५।१॥ † वासि०११।१३

स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥७९॥

जैसे सब प्राणधारी वायु का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ का सहारा लेकर जीते हैं * ॥ ७७ ॥ जिस कारण तीनों आश्रमी (वेद के—) ज्ञान और अन्न (दान) से गृहस्थ से ही धारण किये जाते हैं, इससे गृहस्थ आश्रम सब से बढ़ कर है ॥ ७८ ॥ यह आश्रम (=इस आश्रम के कर्त्तव्य) जो दुर्बल इन्द्रियवालों से धारण नहीं किया जासक्ता, इसको वह सावधान होकर धारण करे, जो कोई अक्षय स्वर्ग चाहता है, और यहां सदा का सुख चाहता है ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८०॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितृञ्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि यह सब गृहस्थ से आशा रखते हैं (इसलिये धर्म के) जाननेवाले को इनके लिये करना चाहिये, (जो उसका कर्त्तव्य इनकी ओर है †) ॥८०॥ ‡ यथाविधि स्वाध्याय से ऋषियों को पूजे, होम से देवताओं को, श्राद्धों से पितरों को, अन्न से मनुष्यों को, और बलि देने से भूतों को

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

---

* ७७-७८ वासि० ८ । १४-१६ विष्णु ५९ । २७-२८ ॥
† विष्णु ५९ । २९ ‡ याज्ञ० १ । १०४ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत्किंचिद्वैदेश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

(पहले पितृयज्ञ कहते हैं) प्रतिदिन अन्न से वा जल से वा दूध से वा फल मूल से, श्राद्ध करे, इसप्रकार पितरों को प्रसन्न करे * ॥ ८२ ॥ पांच यज्ञों के सम्बन्ध में पितरों के निमित्त एक भी ब्राह्मण को जिमाए, पर इसमें विश्वेदेवों के लिये कोई ब्राह्मण न जिमाए † ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥८४॥
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥८६॥

(देवयज्ञ-)जब वैश्वदेव के लिये अन्न तय्यार होजाए, तो उसमें से ब्राह्मण प्रतिदिन विधिपूर्वक गृह्य अग्नि में इन देवताओं के लिए होम करे ‡ ॥८४॥ पहले अग्नि के लिये फिर सोम के लिए, फिर एक साथ इन्हीं दोनों के लिए, फिर विश्वेदेवों के लिये, और फिर धन्वन्तरि के लिये ॥८५॥ कुहू के लिये, अनुमति के लिए, प्रजापति के लिए, एक साथ

* विष्णु ६७-२३-२५ † पार्वण श्राद्ध में जैसा पितरों के लिए वैसा विश्वेदेवों के लियेभी एक ब्राह्मण जिमाया जाता है, देखो आगे १२५ श्लोक । पर इस नित्य श्राद्ध में विश्वेदेवों के लिये कोई नहीं, केवल पितरों के लिए ही एक ब्राह्मण जिमाए यह अभिप्राय है ॥

‡ गौत० ५ । १० आप० २ । ३ । १६ विष्णु ६७ । ३

द्यौ और पृथिवी के लिए, और अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि के लिए *॥८६॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥८७॥
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

(वैश्वदेव– इसप्रकार विधिपूर्वक होम करके सारी दिशाओं में (पूर्वसे लेकर) दाएं हाथ के क्रम से, अपने पुरुषों समेत–इन्द्र, यम, वरुण, और सोम के लिए बलि देवे † ॥ ८७ ॥ 'मरुतों के लिए' कहकर द्वार में, 'जलों के लिए' कहकर जल में फैंके, 'वनस्पतियों के लिए' कह

---

*हरएक आहुति देवता का नाम चतुर्थी विभक्ति में बोलकर और अन्त में स्वाहा पद कहकर देनी चाहिये। अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा, धन्वन्तरये स्वाहा, कुह्वै स्वाहा, अनुमत्यै स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा, अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा। सोम=चन्द्र, धन्वन्तरि=देव वैद्य, कुहू=अमावस्या, अनुमति=पूर्णिमा। स्विष्टकृत=वह अग्नि जो यज्ञ को उत्तम बनाता है।

† ८७—९२ गौत० ५।११—१७ आप० २।३।१२–१५ विष्णु ६७।४–२२,२६

कर ऊखल मूसल पर देवे॥८८॥(घर के)सिर अर्थात् उत्तर पूर्वदिशा में 'श्री के लिए' पाओं * अर्थात् दक्षिण पश्चिम दिशा में 'भद्रकाली के लिये' घर के मध्य में ब्रह्मा और वास्तोष्पति के लिये बलि देवे ॥ ८९ ॥ विश्वेदेवों के लिए बलि ऊपर आकाश में फैंके, (दिन को) 'दिन में विचरने वाले भूतों के लिए' (रात को) 'रात में विचरनेवाले भूतों के लिये' (बलि देवे) ॥ ९० ॥ दूसरी मनजल वा छत † पर सर्वात्म भूति के लिये‡बलि देवे। इन बलियों से शेष बचा सारा अन्न दक्षिण दिशा में पितरों के लिए देवे § ॥ ९१ ॥

---

* सिर और पाओं = गृहपति की शय्या के सिर और पाओं के निकट (मेधा०) † घर के पीछे (गो०नारा०) घर से बाहिर (नन्द)

‡ सार्वनुभूति (नारा० नंद) सर्वात्मभूति (गो०)

§ बलिकर्म में जिसको बलि दीजाती है, उसका नाम चतुर्थी विभक्ति के साथ कहकर आगे नमः पद दिया जाता है, तदनुसार 'सानुगाय इन्द्राय नमः' इससे पूर्व में, 'सानुगाय यमाय नमः' इससे दक्षिण में 'सानुगाय वरुणायनमः' इससे पश्चिम दिशा में, 'सानुगाय सोमायनमः' इससे उत्तर दिशामें, 'मरुद्भ्यो नमः' इस से द्वार पर 'अद्भ्योनमः' इससे जलों में, 'वनस्पतिभ्यो नमः' इससे ऊखल वा मूसल के स्थान पर 'श्रियैनमः' इससे घर के सिर भाग अर्थात् उत्तर पूर्व दिशा में, (कइयों के अनुसार गृहपतिकी शय्या के सिरहाने के निकट)'भद्रकाल्यैनमः' इससे घर के पाद अर्थात् दक्षिण पश्चिम दिशा में, (कइयों के अनुसार गृहपति की शय्या के पाओं की ओर) 'ब्रह्मणेनमः' 'वास्तोष्पतयेनमः' इन दो से घर के मध्य में दो बलियें, 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः' इससे घर के आकाश की ओर एक बलि फैंके, और दूसरी बलि दिन हो, तो 'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्योनमः' इससे ऊपर फैंके, सांझ हो तो 'नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो-नमः' इससे ऊपर फैंके,'सर्वात्मभूतयेनमः' इससे दूसरी मनजल वा छत पर,(कइयों के अनुसार घरके पिछवाड़े) बलि देवे। यह वैश्वदेव

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥
एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्त्ति पथर्जुना॥ ९३ ॥

कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पाप रोगी (पिछले जन्म के पापों के रोगवाले, कुष्ठी आदि) कौए, और कृमियों के लिए धीरे से भूमि पर (अन्न) रक्खे ॥ ९२ ॥ इसप्रकार जो ब्राह्मण सब भूतों को नित्य पूजता है, वह सीधे मार्ग से सब से ऊंचे तेजोमय धाम (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥

जैसा मनु में लिखा है, वैसा स्पष्ट कर दिया है। आजकल एक पत्तल बना कर उसी को घर कल्पना करके उसी पर अपने २ स्थानों पर बलि रखते जाते हैं। यह बलि वैश्वदेव किसतरह प्रवृत्त हुआ ? प्रतीत होता है कि वनस्पतियों, पशुओं और दीन अनाथों का पालन इससे अभिप्रेत था। 'वनस्पतिभ्योनमः' का अर्थ वनस्पतियों की ओर झुकना= उनके हकमें होना अर्थात् वनस्पतियों को लगाना और उनको उपयुक्त खाद्य से पोषण करना तो मनुष्यों के लिये उपयोगी है। पर ऊखल वा मूसल पर वा उसके निकट बलि रखना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतएव प्रवर्तक का यह आशय होसकता है, कि घर खुले हों, उनमें मरुतों के प्रवेश के लिये खुले और आमने सामने द्वार हो, शुद्ध जल पर्याप्त हो, आस पास फुलवाड़ी और वनस्पति हों, उत्तर पूर्व भाग शोभा से भरे हों, दक्षिण पश्चिम स्वास्थ्य के रक्षक हों, मध्य गृह में वेद की स्थापना हो, और वहां का मुखिया वा सभी लोग वास्तोष्पति सूक्त से परमात्मा की आराधना करें। घर में सूर्य की किरणों का प्रवेश खुला हो, और जब तुम छत पर बैठो, तो नक्षत्र, और तारों से भरा अनन्त आकाश तुम्हें विश्व के अन्तरात्मा की ओर झुकावे ॥

कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥९४॥
यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही॥९५॥

यह बलि कर्म करके, तब वह पहले अतिथि को भोजन खिलाए, और भिक्षु (संन्यासी) और ब्रह्मचारी * को यथाविधि भिक्षा देवे †॥९४॥ गुरु को विधि अनुसार गौ देकर जिस पुण्यफल को प्राप्त होता है ‡ उस पुण्यफल को भिक्षा देने से प्राप्त होता है

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥
नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥
विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

भिक्षा (वा न हो, तो) जलपात्रमात्र ही विधि पूर्वक सत्कार करके उस ब्राह्मण को देवे, जो वेद का सच्चा अर्थ समझता है ॥ ९६ ॥ अनजान लोगों ने भूल से जो हव्य कव्य भस्मीभूत (वेद के तेज से शून्य) ब्राह्मणों को दिये हैं, वह उनके निष्फल

* अथवा भिक्षा मांगते हुए ब्रह्मचारी को (मेधा०)
† वासि०११।५ बौधा० २।५।१५ याज्ञ०१।१०७ विष्णु ५९।१४;६७।२७
‡ नन्द 'ऽगोर्यथाविधि' पाठ पढ़ता है, अर्थ जिसके पास गौ नहीं है, उसको यथाविधि गौ देकर ॥

जाते हैं * ॥९७॥ ब्राह्मणों के मुख जो विद्या और तप से पूर्ण हैं, वह (मानों यज्ञ की) अग्नियें हैं, उनमें जो कुछ होमा जाता है वह बड़ी कठिनाई और बड़े पाप से बचाता है ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥९९॥
शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपिजुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनार्चितो वसन् ॥ १०० ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥१०१॥

(घर में) आए अतिथि को विधिपूर्वक सत्कार करके आसन, जल, और अन्न अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवे † ॥ ९९ ॥ ब्राह्मण बिन पूजे (घर में) रहता है, तो उसके सारे पुण्य को लेजाता है, चाहे वह शिला भी चुनता हो, और पांचों अग्नियें ‡ भी होमता हो ॥ १०० ॥ (अन्न न हो, तो बैठने को) कुशा (रहने को) भूमि, जल और चौथी मीठी वाणी, ये (वस्तुएं) भलों के घरों में कभी दूर नहीं होतीं ॥ १०१ ॥

एकरात्रं तु निवसन्नातिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥१०२॥

---

* वासि० ३ । ८ हव्य कव्य=देवता और पितरों के लिए अन्न ।

† ९९-११८ वासि० ८।४।५; ११।१५ गौत० ५।२५—४५ आप० २ । ४ । ११, १३—२० बौधा० २ । ५ । ११—१८; ६ । ३६—३७ विष्णु० ६७ । २८-४६ याज्ञ० १ । १०४—१०९, ११२—११३ ‡ पांच अग्नियें—आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण, सभ्य और आवसथ्य ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।
उपस्थितं गृहेविद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥१०३॥

केवल एक रात रहनेवाला ब्राह्मण अतिथि कहा गया है, जिसलिये वह लम्बा नहीं ठहरता, इसलिये अतिथि* कहलाता है, ॥ १०२ ॥ जो उसी ग्राममें रहता है, वा संगति से (किसी काम काज से उस ग्राम में) आया है, उसे ऐसे घर में उपस्थित हुए को भी अतिथि न जाने, जहां स्त्री भी है और अग्नियें भी हैं † ॥१०३॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥१०४॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।
कालेप्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहेवसेत् ॥१०५॥

जो मन्द बुद्धि गृहस्थ दूसरे के अन्न पर निर्वाह करते हैं, वह मरकर उस (परान्नभोजन) से अन्नादि देनेवालों के पशु बनते हैं ॥ १०४ ॥ वह अतिथि जो सायं समय सूर्य (के अस्त होने) ने भेजा है, उससे गृहस्थी को इन्कार नहीं करना चाहिए, वह (वैश्व देव के) समय पर आया हो, वा बिन समय (=भोजन कर चुकने के पीछे) पर बिन खाए इसके घर में न रहे ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्नभोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥१०६॥
आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।

* अ—तिथि = नहीं तिथि दूसरी जिसकी । † जहां साथ स्त्री और अग्नियें हैं, अर्थात् वैश्वदेव काल में उपस्थित हुआ है, तौभी ।

उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

वह (वस्तु) स्वयं न खाए, जो अतिथि को न खिलाए, अतिथि का पूजन धन, यश, दीर्घ जीवन और स्वर्ग का देनेवाला है ॥ १०६ ॥ आसन,(ठहरने को) घर, शय्या, पीछे चलना और (ठहरे हुए का) आदरमान उत्तमों (अतिथियों) में उत्तम करे, हीनों में हीन, बराबरों में बराबर * ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥१०८॥
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः॥१०९

जब वैश्वदेव होचुका है, तब यदि और † अतिथि आजाए, तो उसको भी अन्न यथाशक्ति देवे, पर (दुबारा वैश्वदेव) बलि न करे ॥ १०८ ॥ भोजन के अर्थ ब्राह्मण अपना कुल और गोत्र न बतलाए, क्योंकि जो भोजन के अर्थ इनको बतलाता है, वह बुद्धिमानों से कै कियाहुआ खानेवाला कहाजाता है ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥
यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।
भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

---

* गौत० ५ । ३८ आदरमान = उनके साथ बैठना और उनसे बात चीत । यह विधि उस समय वर्तने के लिये है, जब बहुत से अतिथि एक समय इकट्ठे आजाएं । † और कहने से यह अभिप्राय है, कि वैश्वदेव के पीछे जब अतिथि भोजन भी होचुका है, तब ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण के घर में क्षत्रिय, (आता है, तो वह) अतिथि नहीं कहलाता है, न वैश्य और शूद्र, और न ही मित्र, ज्ञाति के लोग, और गुरु * ॥ ११० ॥ पर यदि अतिथि की मर्यादा से † कोई क्षत्रिय, ब्राह्मण (गृहस्थ) के घर में आता है, तो बेशक ब्राह्मणों के खा चुकने पर उसको भी भोजन कराए ॥ १११ ॥ वैश्य और शूद्र भी जो अतिथिमर्यादा से घर में आए हैं, उनको भी दयाभाव का बर्ताव करता हुआ भरने योग्यों ‡ के साथ खिलाए ॥११२॥

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्यागृहमागतान् ।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सहभार्यया ॥११३॥
सुवासिनीःकुमारीश्चरोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्रएवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥
अदत्त्वा तुय एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
सभुञ्जानोनजानातिश्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥११५॥
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥११६॥

---

* अतिथिपूजा का अधिकारी उत्कृष्ट वा सम होता है, इस लिये ब्राह्मण का क्षत्रियादि, क्षत्रिय का वैश्यादि और वैश्य का शूद्र अतिथि नहीं कहलाता है, मित्र और सम्बन्धी,सम्बन्धी होने से और गुरु स्वतःपूजनीय होने से अतिथि धर्म से प्राप्त हुए भी अतिथि नहीं कहलाते हैं † अतिथि की मर्यादा से = यात्रा में चलता हुआ भोजन का समय होजाने पर आया ‡ भरने योग्य = पुत्रादि; नौकर (कुटुम्ब)

और भी जो अपने मित्रादि प्रीति से घर में आए हैं, उनको भी अपनी शक्ति अनुसार अन्न तय्यार करके स्त्री के साथ* भोजन कराए ॥ ११३ ॥ नयी ब्याही स्त्रियों, छोटी कन्याओं, रोगीजन और गर्भवती स्त्रियों को बिन बिचारे अतिथियों से पहले भोजन दे देवे ॥ ११४ ॥ जो अनजान इनको भोजन दिये विना पहले आप खाता है, वह खाता हुआ नहीं जानता, कि (मरने के पीछे) वह आप कुत्ते और गीधों से खाया जाएगा ॥ ११५ ॥ जब ब्राह्मण, अपने ज्ञाति के लोग, और पोष्यवर्ग खाचुकें, तिस के पीछे शेष बचे को स्त्री भर्त्ता खावें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्चदेवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थःशेषभुग्भवेत् ॥११७
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और गृह्य देवताओं† को पूज कर पीछे जो बचा है, वह गृहस्थ खाए ॥११७॥ वह निरा पाप खाता है, जो निरा अपने निमित्त पकाता है, क्योंकि जो यज्ञ से बचा भोजन है, यह भलों का अन्न कहलाता है ॥ ११८ ॥

संगति—अतिथि के सिवाय और जो पूजा विशेष के योग्य हैं उन को बतलाते हैं :-

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसम्वत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

---

* स्त्री के साथ = स्त्री के भोजन का समय वही है, जो गृहपति का है देखो आगे ११६ अर्थात् अपने साथ खिलाए । छन्द की अपेक्षा से 'आत्मना' न कहकर भार्यया, कहा है ॥

† जिनका गृह्यसूत्रों में विधान है, बलि वैश्व के देवता ।

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थिति ॥१२०॥

राजा, ऋत्विज्, स्नातक, गुरु, जामाता *श्वसुर और मामा यह जब फिर बरस के पीछे आवें, तो इनका मधुपर्क से पूजन करे† ११९ राजा और वेद का जाननेवाला जब यज्ञ कर्म में आएं, तो मधुपर्क से पूजा के योग्य हैं, बिना यज्ञ नहीं, यह मर्यादा है ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

सायंकाल तय्यार हुए अन्न में से पत्नी बिना मन्त्र के बलि निकाले, क्योंकि यह वैश्वदेवकर्म सायंप्रातः कियाजाता है॥१२१॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकंश्राद्धंकुर्यान्मासानुमासिकम् ॥१२२
पितॄणां मासिकंश्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेणकर्तव्यं प्रशस्तेन समं ततः॥ १२३ ॥

जो ब्राह्मण अग्निवाला (अग्नि स्थापन किये हुए हैं) वह पहले अमावस्या में (पिण्ड–) पितृयज्ञ करके फिर पिण्डान्वाहार्यक श्राद्ध ‡ हर महीने किया करे § ॥ १२२ ॥ पितरों

* मित्र (नारा० नन्द०) † ११९–१२० वासि० ११ । १–२ गौत० ५।२७–३० आप० २।८।५९ बौधा० २।६।३६–३७ याज्ञ० १।११०

‡ श्रौतसूत्रों में पितरों के लिये पिण्ड पितृयज्ञ कहा है, (देखो आश्व० श्रौ० २।६७) उस पिण्ड पितृयज्ञ के पीछे करने से मासिक श्राद्ध का नाम पिण्डान्वाहार्यक वा अन्वाहार्य है § गौत० १५।२ याज्ञ० १।१२७॥

का जो मासिक श्राद्ध है, उसे बुद्धिमान् अन्वाहार्य जानते हैं, वह उत्तम मांस से पूरी तय्यारी के साथ करे ॥ १२३ ॥

तत्रये भोजनीयाः स्युर्येच वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।
यावन्तश्चैवयैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥
द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि नप्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥
सत्क्रियां देशकालौच शौचं ब्राह्मणसम्पदः ।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥१२६॥

उसमें जैसों और जितने ब्राह्मणों को जैसे अन्नों से भोजन कराना चाहिये, और जिनको न कराना चाहिये, वह सब तुम्हें पूर्णतया बतलाऊंगा ॥ १२४ ॥ दो (ब्राह्मण) दैवकार्य (देवताओं के उद्देश्य से) और तीन पितृकर्म में, वा दोनों में एक २ (ब्राह्मण) जिमाए, चाहे बड़ा धनी भी हो, विस्तार में न लगे * ॥ १२५ ॥ विस्तार इन पांचों को हानि पहुंचाता है-(निमन्त्रितों) का सत्कार, (शास्त्रोक्त) स्थान और समय † शुद्धि और अच्छे ब्राह्मण, इसलिये विस्तार को न चाहे ‡ ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥१२७॥

---

* वासि० ११ । २७ गौत० १५ । ८ । २१ बौधा० २ । १५ । १० विष्णु ७३ । ३—४ याज्ञ० १ । २२८ ॥ यहां दैव श्राद्ध पितृ श्राद्ध का अंग है, स्वतंत्र नहीं, † स्थान दक्षिण को झुकता हुआ और समय दोपहर ढली ‡ वासि० ११ । २६ बौधा० २ । १५ । ११ ॥

यह पितृकर्म जो अमावस्या के दिन कहा है, यह प्रेतकृत्या (मरे हुओं के लिये कर्म) प्रसिद्ध है, उस (पितृकर्म) में युक्त पुरुष को प्रेतकृत्या प्राप्त होती है * जो स्मृति में† कही है॥१२७॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥
एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहूनपि ॥ १२९॥

देनेवालों को चाहिए, कि देवों और पितरों के लिए जो अन्न है,वह श्रोत्रिय को ही देवें, जो पूज्यतम ब्राह्मण को दिया है वह बड़े फलवाला होता है ‡ ॥१२८॥ एक२ भी विद्वान् ब्राह्मण को दैव और पित्र्य (श्राद्ध) में जिमाए, तो बड़ा फल पाता है, पर वेद के न जाननेवाले बहुतोंको भी जिमाकर नहीं ॥१२९॥

दूरादेवपरीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदानेसोऽतिथिःस्मृतः॥१३०॥
सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥१३१॥

वेद के पार पहुंचे ब्राह्मण को दूर से ही (न कि साक्षात उसी से पूछकर) परीक्षा करे, वह दैव पित्र्य अन्नों का पात्र है दान देने में वह अतिथि (के तुल्य बड़ा फल देनेवाला) कहा है

---

* पितृकर्म में युक्त को प्राप्त होती है, अर्थात् पिण्ड पितृयज्ञ करनेवाला ही इसका अधिकारी है। (गुणवाले पुत्र पोते धन आदि फल के साथ यह करनेवाले को प्राप्त होती है-कुल्लू०) †यह प्रेतकृत्या

*॥ १३० ॥ वेद न जाननेवाले दस लक्ष भी जिस (श्राद्ध में) खाते हैं,वहां वेद के जाननेवाला केवल एकही धर्म (के उत्पन्न करने) से उन सब की योग्यता रखता है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
नहि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥१३२॥
यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥१३३॥

(वेद के) ज्ञान में बढ़े हुए को ही दैव और पित्र्य अन्न देने चाहियें, क्योंकि लहू से लिबड़े हुए हाथ लहू से ही शुद्ध नहीं होते हैं (मूर्ख को जिमाने का दोष मूर्ख से ही नहीं मिटता है) ॥१३२॥वेद का न जाननेवाला ब्राह्मण दैव और पित्र्य अन्न मेंसे जितने ग्रास खाता है,उतने जलते हुए सूल और नेज़े के लोहे के गोले (दाता) मरकर खाता है ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाःकेचित् तपोनिष्ठास्तथाऽपरे।
तपः स्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४॥
ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥१३५॥

कई ब्राह्मण ज्ञान (की वृद्धि) में लगे हुए हैं, दूसरे तप में लगे हुए हैं, कई तप और स्वाध्याय में लगे हुए हैं, दूसरे कर्म (यज्ञादि) में लगे हुए हैं ॥ १३४ ॥ पित्र्य अन्न सावधानी से

* विष्णु ८२।२॥

ज्ञान में लगे हुओं को देने चाहिएं, पर दैव अन्न (धर्म की) नीति के अनुसार सभी (पूर्वकहे) चारों को ही (देवे)* ॥१३५॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पितास्याद्वेदपारगः॥१३६॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियःपिता।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

जिसका पिता श्रोत्रिय न हो, और पुत्र वेद के पार पहुंचा हुआ हो, अथवा पुत्र अश्रोत्रिय हो, और पिता वेद के पार पहुंचा हुआ हो † ॥ १३६ ॥ इन दोनों में से उसको बड़ा जाने, जिस का पिता वेद के पार पहुंचा हुआ है, और दूसरा वेद की पूजा के अर्थ आदर का हक रखता है (उसके द्वारा वेद ही पूजा जाता है)

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तंश्राद्धेभोजयेद्द्विजम्॥१३८॥
यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविष्षु च॥१३९॥

---

* वासि० ११ । १७ बौधा० २ । १४ । ३ ॥

† १३६—१३७ अभिप्राय यह है, कि श्रोत्रिय का पुत्र हो, और स्वयं भी श्रोत्रिय हो, तो ढूंढकर भी उसे श्राद्धमें जिमाना चाहिये, न कि श्रोत्रिय के पुत्र को जो स्वयं अश्रोत्रिय ही हो, क्योंकि पूर्व श्लोक १२८ में जो 'श्रोत्रिय को ही' कहा है, उससे विरोध आता है (कुल्लू) (यहां मनुष्य के अपने गुणों की परवाह न करके कुलीनता को अधिक आदर देने का बीज अवश्य बोया हुआ है-अनुवादक) ॥

श्राद्ध में मित्र को न जिमाए, उसकी प्रीति (दूसरी) बहु-मूल्य वस्तुओं से बनानी चाहिये, श्राद्ध में ऐसे ब्राह्मण को जिमाए जिसको न अपना शत्रु समझे, न मित्र * ॥ १३८ ॥ जिसके श्राद्ध और देवान्न प्रधानतया मित्रों के लिए हैं, † उसको मरकर श्राद्धों का और देवान्नों का कोई फल नहीं होता है ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।
स स्वर्गाच्च्यवतेलोकाच्छ्राद्धमित्रोद्विजाधमः॥१४०

संभोजनीसाऽभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥१४१॥

वह द्विजों में अधम पुरुष, जो भूल से श्राद्ध के द्वारा मैत्री बनाता है,वह स्वर्ग से गिर जाता है,क्योंकि वह श्राद्ध को मित्रों के अर्थ करता है ॥ १४० ॥ यह दानक्रिया जो संभोजनी (मित्रों और सम्बन्धियों की ज़ियाफ़त) है, वह द्विजों से पैशाची ‡ कही गई है, वह इसी लोक में रहजाती है, जैसे अन्धी गौ एक ही गोशाला में (ठहरी रहती है) § ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।
तथाऽनृचे हविर्दत्वा न दाता लभते फलम्॥१४२॥

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः ।
विदुषे दक्षिणां दत्वा विधिवत्प्रेत्यचेहच ॥१४३ ॥

---

* १३८-१४८ गौत० १५।१२—१४ आप० २।१७।४—६ बौधा० २ । १४ । ६ याज्ञ० १ । २२० † मित्रों का देता है, वा मैत्री बनाने के लिये देता है ॥ ‡पैशाची = पिशाचों की मर्यादा।मरने के पीछे मित्रों और सम्बन्धियों को सहभोज देने की पिशाचों में मर्यादा थी §२ । १७ । ८—९॥

जैसे ऊसर में बीज बोकर बोनेवाला फल नहीं पाता है, वैसे अश्रोत्रिय को हव्य देकर दाता फल नहीं पाता है ॥१४२॥ विधि के अनुसार विद्वान् को दान देना, देनेवालों और लेनेवालों दोनों को परलोक में और यहां भी फल भागी बनाता है॥१४३॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपित्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥१४४॥

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगन्तु समाप्तिकम्॥१४५॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिःस्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी॥१४६॥

(विद्वान् ब्राह्मण न मिले तो) श्राद्ध में (विद्वान्) मित्र को भले ही पूजे, पर (विद्या आदि से) योग्य भी शत्रु को नहीं, क्योंकि जो अन्न द्वेषी से खाया गया है, वह परलोक में निष्फल होता है ॥ १४४ ॥ श्राद्ध में (ऐसे विद्वानों को) यत्न से भोजन कराए—यदि ऋग्वेदी है, तो वेद के पार पहुंचा हुआ है, यजुर्वेदी है,तो भी अपनी शाखा के अन्त तक पहुंचा हुआ है,सामवेदी है, तो भी समाप्ति तक पहुंचा हुआ है ॥ १४५ ॥ इन तीनों में से कोई एक पूरे मान के साथ जिसके (घर में) खाए, उसके पितरों की सात पुरुषोंतक तृप्ति होती है,और बड़े दीर्घकाल तक रहती है

एष वै प्रथमःकल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥१४७॥

मातामहं मातुलंच स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्।१४८

हव्य और कव्य के देने में यह (असम्बन्धी श्रोत्रिय को देना) मुख्य नियम है, और यह अगला भलों से सदा अनुष्ठान किया हुआ अनुनियम * जानना चाहिये ॥ १४७ ॥ कि नाना, मामा, भानजा, ससुर, आचार्य, दोहता, जामाता, बन्धु † ऋत्विज्, यजमान ‡ (इनमें से किसी) को जिमाए ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्माणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः॥१४९॥
ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान् हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५०॥

धर्म का जाननेवाला दैवकर्म में ब्राह्मण की परीक्षा न करे, पर पित्र्यकर्म जब करने लगे, तो सावधानता से परीक्षा करे ॥ १४९ ॥ मनु ने कहा है, कि जो चोर, पतित, नपुंसक हैं, और जो नास्तिक वृत्ति¶ब्राह्मण हैं,वह हव्यकव्यमें अयोग्य है||॥

---

* मुख्य नियम के अभाव में बर्त्ता जानेवाला † बन्धु=सगोत्र भाई बन्द;सगोत्रादि (सगोत्र और बाहर के रिश्तेदार भी) मेधा० गोविन्द) ‡ भानजे, दोहते, जामाता और ऋत्विज् को जिमाने का प्रचार तो अब भी है, पर इस समय का आचार नाने, मामे, ससुर और बन्धु को श्राद्ध जिमाने के सर्वथा विरुद्ध है, ससुरको जिमाने की विधि से यह भी स्पष्ट है, कि कन्या के घर का जल तक भी अङ्गीकार न करने का आचार इस स्मृति से पीछे का है, इस स्मृति में कन्या देने के बदले कुछ लेने का ही निषेध किया है, परस्पर खाने पीने का नहीं ॥

§ विष्णु ८२।१—२ ¶नास्तिकवृत्ति=स्वयं नास्तिक अथवा नास्तिकों से जीविका पाने वाले ॥ १५०—१८२ वासि० ११ । १९ गौ०

जटिलंचानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च येपूगांस्तांश्चश्राद्धे न भोजयेत्॥१५१
चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याःस्युर्हव्यकव्ययोः॥१५२॥

जो निरा जटावाला वेद न पढ़ा हो (ब्रह्मचारी)*, चमड़े के रोगवाला, जुवारिया और जो समूहों को यज्ञ कराता है, † इन को श्राद्ध में न जिमाए ॥ १५१ ॥ वैद्य, पुजारी, मांस के बेचने वाले, और दूकानदारी से जीविका करनेवाले, यह हव्य कव्य में वर्जित हैं ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वाधुषिस्तथा ॥१५३॥
यक्ष्मीच पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एवच ॥ १५४ ॥

ग्राम वा राजा का नौकर, कुरूप नखोंवाला, काले दांतों वाला, गुरु के प्रतिकूल चलनेवाला, जिसने (यज्ञ की) अग्नियें

---

१५ । १६—१९ ; ३०—३१ आप० २ । १७ । २१ विष्णु ८२ । ३—३० याज्ञ ९ । २२२-२२४ ॥

* मेधा० और नन्द० 'दुर्वाल' पढकर 'गंजा, वा लाल बालों वाला' अर्थ लेते हैं, † जीविका के लिए बहुतों को यज्ञ कराता फिरता है, न कि नियत यजमानों को यजमान की ओर अपने सारे कर्तव्यों का ध्यान रखता हुआ (अहीनसत्र में बहुत से इकट्ठे यजमानों को यज्ञ करानेवाला—नारा०) ¶ श्राद्ध में कहने से दैव में निषेध नहीं, जहां दोनों में निषेध अभिप्रेत होता है, वहां हव्य कव्य वा 'दोनों में' कहते है [कुल्लू०] ॥

त्यागदी हुई हैं, और व्याज लेनेवाला ॥ १५३ ॥ तपदिकका रोगी (जीविका के लिए) पशुओं का पालनेवाला, परिवेत्ता (छोटा भाई जो बड़े से पहले विवाह और अग्नि स्थापन किये है) (पांच यज्ञों का) त्यागनेवाला, * ब्राह्मणों का द्वेषी, परिविंत्ति (बड़ा भाई जिसने छोटे के पीछे विवाह और अग्नि स्थापन किया है) समुदाय के अन्तर्गत † ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेवच ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥
भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥१५६॥

नट, अवकीर्णी ‡ (जिस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य को तोड़ दिया है,), जो निरा शूद्रा का ही पति है, पुनर्भू (दुबारा विवाही) का पुत्र, काना, और जिसके घर में उसकी स्त्री का जार हो ॥ १५५ ॥ वेतन लेकर पढ़ानेवाला, वेतन लेने वाले से पढ़ाया हुआ, शूद्र का शिष्य, वा शूद्र का गुरु, कठोर बोलनेवाला, § कुण्ड और गोलक ‖ ॥ १५६ ॥

---

* वेद का त्यागनेवाला (मो०) स्वाध्याय का त्यागी (नारा० नन्द०) † तिजारती कम्पनीका हिस्सेदार (सौदागरों का मुखिया नारा०) ॥

‡ कुल्लूक अवकीर्णी का अर्थ स्त्री संपर्क से नष्ट ब्रह्मचर्यवाला ब्रह्मचारी और संन्यासी दोनों लेता है, पर यह भूल है । ऐसा संन्यासी आरूढपतित कहलाता है, नकि अवकीर्णी ; § वाग्दुष्ट वाणी से दूषित, जिसपर पातक लगा हो, अभिशस्त । (कई) ‖ कुण्ड और गोलक देखो आगे १७४ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।
ब्राह्मैर्यौनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः॥ १५७॥
अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः॥१५८॥

बिना (पूरे) कारण माता पिता और गुरु का त्यागनेवाला, वेद के (पढ़ने पढ़ाने के) वा रिश्तेदारी के सम्बन्धों द्वारा पतितों के साथ मिला हुआ॥ १५७॥ घर को आग लगाने वाला, विष देनेवाला, कुण्ड का अन्न खाने वाला, सोम का बेचने वाला, समुद्र में जानेवाला, स्तुति पढ़नेवाला, तैल निकालने वाला, झूठ करने वाला, (झूठा साक्षी वा अनाज घृत आदि में मिलावट करके बेचनेवाला)॥ १५८॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी॥१५९॥
धनुः शराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च॥ १६०॥

पिता के साथ झगड़नेवाला, * कितव † शराबी, पापरोगी, (कुष्ठी आदि) जिस पर पातक लगा है, दम्भी, रस बेचने वाला, ‡ ॥ १५९॥ धनुष और बाणों का बनानेवाला, भाई की विधवा

* पिता को जायदाद बांटने के लिए तंग करनेवाला, (मेधा०) मिलाओ गौत० १५। १९; शास्त्रार्थ वा लौकिक वस्तु में व्यर्थ झगड़ने वाला, (कुल्लू०) † कितव=जुए घर का मालिक (मेधा०) अपने लिये दूसरे को जुआ खिलाने वाला, (गोवि० नन्द० कुल्लू) खुशी के लिये जुआ खेलने वाला (नारा०) अथवा धूर्त=शरारती [नन्द०] केकरः इस पाठान्तर में तिरछा देखनेवाला ‡ खांड आदि बेचनेवाला।

का पति * मित्र द्रोही, जूए पर जीविका करनेवाला, पुत्र से वेद पढ़नेवाला ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमालीच श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥१६१
हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैवच ॥ १६२ ॥

मिरगीवाला, गण्डमाला (हंजीरां=गले में गिलटियों) वाला फुलबहरीवाला, चुगलखोर, पागल, अन्धा और वेद का निन्दक, यह त्यागने योग्य हैं ॥ १६१ ॥ हाथी, बैल, कुत्ते, और ऊंटों का सिधानेवाला, नक्षत्रों से जीविका करनेवाला, पक्षियों का पालनेवाला† और युद्ध का आचार्य ‡ ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणेरतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपकएवच ॥ १६३ ॥
श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषकएवच ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानांचैव याजकः ॥१६४॥

(जल के) प्रवाहों का तोड़नेवाला, (तोड़कर अपनी भूमि में डालनेवाला) और उनके रोक देने में प्रीतिवाला, मिस्तरी का

---

* देखो आगे श्लोक १७३ । कई टीकाकारों ने लौगाक्षि के वचन के सहारे १७३ में कहे दिधिषूपति से इस अग्रे दिधिषूपति को भिन्न मानकर यह अर्थ किया है । कि बड़ी बहिन से पहले जो छोटी बहिन विवाही जाए, वह अग्रेदिधिषू उसका पति । पर इन दोनों में भेद करने में श्लोक १७३ निरर्थक होजाता है ॥

† तिजारती पक्षियों तोते, बटेरे, कबूतर बाज आदि का ‡ [illegible] का [illegible] सिखलाने वाला ॥

काम करनेवाला, दूत, (जीविका के लिये) वृक्षों का लगानेवाला, ॥ १६३ ॥ खिलाड़ी कुत्तों का पालनेवाला, बाज़ों से जीविका करनेवाला, कुमारी (लड़की) को दूषित करनेवाला, जीवों को पीड़ा देने में प्रसन्न होनेवाला, शूद्र से जीविका पानेवाला, * गणों का यज्ञ करानेवाला, † ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदीच सद्भिर्निन्दितएवच ॥ १६५ ॥
औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतानिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥
एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

आचार से हीन, नपुंसक (की तरह अपने कर्त्तव्य में निरुत्साही), सदा मांगनेवाला, खेती से जीविका करनेवाला, फील पाओं रोगवाला, और भलों से निन्दित ॥ १६५ ॥ भेड़ों और भैंसों (के पालन) से जीविका वाला, दुबारा विवाहीका पति, मुरदों को उठाकर लेजाने वाला, (धन के अर्थ, न कि धर्मार्थ) यह सब प्रयत्न से छोड़ने चाहिएं ॥ १६६ ॥ इन निन्दित आचारवाले

---

* 'वृषलपुत्रः' इस पाठान्तर का अर्थ यह है, जिसके पुत्र केवल शूद्रा स्त्री से ही हों, † यहां उस गण होम से अभिप्राय प्रतीत होता है, जिसका बौधा० ४ । ८ । १ में दूसरों के लिए निषेध है; नारा० और नन्द० बहुतों वा समुदाय को यज्ञ करानेवाले से अभिप्राय लेते हैं, मेधा० गो० कुल्लू० और राघव विनायकादि गणों का यज्ञ करानेवाले से अभिप्राय लेते हैं । विनायकयज्ञ याज्ञ० १ । २७०-२९४ में है ॥

(भलों की–) पंक्ति के अयोग्य अधम ब्राह्मणों को विद्वान् उत्तम द्विज दोनों (हव्य कव्य) में छोड़ देवे ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥
अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥
अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

(वेद) न पढ़ा ब्राह्मण फूस की आग की तरह बुझ जाता है, * उसको हव्य नहीं देना चाहिये, क्योंकि भस्म में नहीं होमा जाता है ॥ १६८ ॥ पंक्ति के अयोग्यों को देवताओं वा पितरों के उद्देश्य से अन्न दान देने में दाता को मरने के पीछे जो फल होता है, वह तुम्हें पूरा कहूंगा ॥ १६९ ॥ (वेद के) व्रत से रहित † और परिवेत्ता आदि, तथा और भी जो पंक्ति के अयोग्य ब्राह्मण कहे हैं, उन्होंने जो अन्न खाया है, उसको राक्षस खाते हैं ।१७०।

संगति—अप्रसिद्ध होने से पूर्व कहे परिवेत्ता आदि का लक्षण कहते हैं :—

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

---

* फूस की आग जैसे हवि को जलाने के समर्थ नहीं होती, हवि के डालने पर बुझ जाती है, उसमें होम निष्फल है, इसीतरह ब्रह्मतेज से शून्य ब्राह्मण हव्य कव्य खाकर बुझ जाता है । † ब्रह्मचारी (मेधा०) स्नातकादि व्रतों से हीन (नारा०) ॥

परिवित्तिःपरीवेत्ता च यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥
भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

बड़े भाई के रहते हुए, जो (छोटा भाई) स्त्री का और अग्नि-होत्र का सम्बन्ध कर लेता है, उसको परिवेत्ता जानो, और बड़े को परिवित्ति* ॥१७१॥ परिवित्ति, परिवेत्ता, और जिस कन्या ने उस (छोटे) को पाया है, उस कन्या का देनेवाला, और पांचवां विवाह करानेवाला, यह सब नरक को प्राप्त होते हैं † ॥ १७२ ॥ मरे भाई की स्त्री चाहे धर्मानुसार नियुक्त भी हो, पर जो कामवश उससे प्रेम करे † उसे दूषित जानो ॥ १७३ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृतेभर्तरि गोलकः॥१७४॥
तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनां प्रेत्यचेहच ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेतेप्रदायिनाम्॥१७५॥

कुण्ड और गोलक यह दो प्रकार के पुत्र परस्त्री में उत्पन्न होते हैं। पति के जीते जी कुण्ड होता है, मरने पर गोलक ॥१७४॥ यह प्राणी जो परस्त्री में उत्पन्न हुए हैं, यह देनेवालोंके हव्य कव्यों को लोक परलोक दोनों में नष्ट करते हैं (परलोक में फल नहीं होता और लोक में निन्दा होती है) ॥ १७५ ॥

---

* प्रायः बड़े भाई से पहले अग्न्याधान लेने वाला पर्याधाता कहलाता है, और बड़ा भाई पर्याहित † बौधा० २ । १ । ३९ ॥

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥१७६॥
वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्यतु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥१७७॥
यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।
तावतां नभवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥१७८॥

पंक्ति के अयोग्य (ब्राह्मण, श्राद्ध में) जितनों को भोजन करते देखता है, उतनों का फल वह मूर्ख दाता नहीं पाता है ॥१७६॥ अन्धा देखकर * दाता के ९० (ब्राह्मणों के भोजन) के फल को नष्ट करता है, काना ६० के, फुलबहरीवाला १०० के, पाप रोगी हजार के ॥ १७७ ॥ शूद्र को यज्ञ करानेवाला भोजन के समय अपने अङ्गों से जितने ब्राह्मणों को छुए † उतनों के दान का श्राद्ध सम्बन्धी फल दाताको नहीं होता है ॥१७८ ॥

वेदविद्वापिविप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

ब्राह्मण भी लोभ से इसका दान लेवे, तो वह पानी में कच्चे बर्तन की तरह जल्दी नष्ट होजाता है ॥१७९॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

---

* अन्धे का देखना असम्भव है, इसलिए अभिप्राय यह है, कि अन्धा जब ऐसी जगह बैठा है, जहां से देखा जासक्ता है,(कुल्लू) † आसन अलग२ होनेसे मुख्य स्पर्श नहीं बनसक्ता, इसलिए अभिप्राय यह है, जितनों की पंक्ति में बैठा है, उतनों के फल को (कुल्लू) ॥

यत्तुवाणिजके दत्तं नेहनामुत्रतद्भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथापौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

इतरेषुत्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः॥ १८२॥

सोम के बेचनेवाले को दिया (अन्न) विष्टा * होता है, वैद्य को दिया पीब और लहू, पुजारी को दिया नष्ट होता है, व्याज लेनेवाले को दिया प्रतिष्ठा(स्थिति) नहीं पाता है।१८०।व्यापार करने वालेको जो दिया है, वह न इस लोक में (लाभदायक) होता है, न परलोक में, और दुबारा विवाही के पुत्र को जो दिया है वह भस्म में डाली आहुति की तरह (निष्फल) होता है॥ १८१ ॥ इनके सिवाय जो पंक्ति के अयोग्य असाधु पुरुष बतला आए हैं, उनको दिया अन्न विद्वान् कहते हैं, कि चर्बी, लहू, मांस, हड्डी होता है ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान्॥

(अब)-पंक्ति के अयोग्यों से दूषित हुई पंक्ति जिन उत्तम ब्राह्मणों से पवित्र कीजाती है, उन पंक्ति के पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पूरी तरह जानो † ॥१८३॥

अग्र्याःसर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाःपङ्क्तिपावनाः॥१८४॥

---

* ऐसा मैला आहार कि देवता और पितरों के देखने के भी अयोग्य; (मेधा० गो० कुल्लू० और राघव—यह अभिप्राय लेते हैं, कि देनेवाला मरकर विष्टा का कीड़ा बनता है,इसीप्रकार आगे भी)

† १८३-१८६वासि०३। १९ गौत०१५।२८,३१ आप० २।१७।२२ बौधा० २।१४।२—३ याज्ञ० १।२१९—२२१॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥
वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥१८६॥

यह ब्राह्मण पंक्ति को पवित्र करनेवाले जानने चाहियें, सारे वेदों में और सारे अङ्गों में जो श्रेष्ठ हैं, और जो श्रोत्रियों के वंश में उत्पन्न हुए हैं ॥ १८४ ॥ त्रिणाचिकेत * पांच अग्नियोंवाला † त्रिसुपर्ण ‡ छः अङ्गों का व्याख्याता, ब्राह्मी मर्यादा से विवाही का पुत्र, और ज्येष्ठ साम का गानेवाला ॥१८५ ॥ वेद के अर्थ का जाननेवाला, और उपदेश करनेवाला, ब्रह्मचारी §. जिसने सहस्र (गौ) दान दिया है, और सौ बरस की आयु का, यह ब्राह्मण पंक्ति के पवित्र करनेवाले जानने चाहियें ॥ १८६ ॥

* जिसने तीनबार नाचिकेत अग्नि प्रदीप्त की है अथवा जिसने तैत्तिरीयक कठवल्ली और शतपथ इन तीनों से नाचिकेत अग्नि का विषय जान लिया है । † जिसने गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिण, सभ्य आवसथ्य, इन पांच अग्नियों का स्थापन किया हुआ है (गो० कुल्लू० नन्द०राघव०) पञ्चाग्निविद्या का जाननेवाला, जो छांदोग्य उप०-निषद् (४ । १०-) में बतलाई है, (मेधा० नारा०) ‡ त्रिसुपर्ण- मेधा० नारा० नंद० के अनुसार तैत्ति० आर० १० । ३८-४० इन तीन ऋचाओं का जाननेवाला, गो० कुल्लू राघव के अनुसार ऋग् १० । ११४ । ३-५ इन तीन त्रिसुपर्ण ऋचाओं का जाननेवाला,आप० धर्मसूत्र० २ । १७ । २२ की व्याख्या में हरदत्त लिखता है कि त्रिसुपर्ण से अभिप्राय 'चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा' (तैत्ति० ब्राह्म० १ । २ । १ । २७) इत्यादि तीन मन्त्रों के जानने वाले से है वा 'ब्रह्ममेतुमा' इत्यादि तीन अनुवाकों के जाननेवाले से है यह तीन अनुवाक तैत्ति० आर० १० । ४८-५० हैं। § नन्द ब्रह्मचारी से अभिप्राय ब्रह्मात्मा लेता है । (देखो पूर्व० ५०) ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयेतत्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥१८७॥
निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
नच छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्॥१८८॥
निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

श्राद्ध कर्म के प्राप्त होने पर (श्राद्ध से) पहले दिन, वा उसी दिन पूर्व कहे, घटसे घट तीन ब्राह्मणों को सत्कार करके निमन्त्रण देवे * ॥१८७॥ श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण अपने आपको सदा वस में रक्खे और वेद न पढ़े, और जिसके (घर) वह श्राद्ध हो (वह भी वैसा हो) † ॥१८८॥ क्योंकि पितर उन निमन्त्रित ब्राह्मणों के पास आजाते हैं, वायु ‡ की तरह उनके साथ चलते हैं, और उन के पास बैठते हैं, जब वह बैठते हैं ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥
आमन्त्रितस्तुयःश्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
दातुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

---

* वासि० ११ । १७ आप० २ । १७ । ११-१५ याज्ञ० १ । २२५

† गौत० १५ । २२ याज्ञ० १ । २२५ ॥

‡ वायु=प्राण= सांस (मेधा० गो० कुल्लू) मेधा० समझता है कि पितर निमन्त्रित ब्राह्मणों में प्रवेश कर जाते हैं ॥

अक्रोधनाःशौचपराः सततंब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रामहाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥१९२॥

हव्य और कव्य में यथाविधि निमन्त्रित ब्राह्मण यदि किसी प्रकार भी उलांघता है, (श्राद्ध नहीं खाता है), तो वह पापी होता है, और (मरकर) सूअर बनता है ॥ १९० ॥ और श्राद्ध में निमन्त्रित हुआ जो ब्राह्मण शूद्रा * स्त्री के साथ आनन्द मनाता है, तो वह देनेवाले का जो २ पाप है उस सारे को प्राप्त होता है † ॥१९१॥ पितर(सृष्टि के) आरम्भ समय के देवता हैं, जो क्रोध से रहित हैं, शौच में सावधान हैं, सदा ब्रह्मचारी हैं, शस्त्रों को त्यागे हुए हैं, बड़े धर्मात्मा हैं (इसलिये उनका श्राद्ध करने और खानेवाले को भी वैसाही होना चाहिये) ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥
मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयःसुताः ।
तेषामृषीणांसर्वेषां पुत्राःपितृगणाःस्मृताः ॥१९४॥
विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरःस्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः॥१९५॥

अब इन सब पितरों की जिससे उत्पत्ति है, और जो (पितर) जिन लोगों से जिन नियमों द्वारा सेवनीय हैं, उसको पूर्णतया

---

*वर्णान्तरविवाहकी रीति विवाही शूद्रा †अर्थात् देनेवाले के सारे पाप उसको भी लगते हैं। यह अभिप्राय नहीं, कि दाता के ही पाप उसे जालगते हैं, और दाता निष्पाप होजाता है, ऐसा हो तो यह सारे पापों का बड़ा सुगम प्रायश्चित्त है ॥

जानो ॥ १९३ ॥ हिरण्यगर्भ का पुत्र जो मनु है, उसके पुत्र जो मरीचि आदि * ऋषि हैं उन सब ऋषियों के पुत्र पितृगण कहे हैं ॥ १९४ ॥ सोमसद जो विराट् के पुत्र हैं, वह साध्यों के पितर कहे गये हैं, और अग्निष्वात्त जो मरीचि के पुत्र हैं, वह देवताओं के (पितर) लोक में विख्यात हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः॥१९६॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणांतु सुकालिनः॥१९७॥
सोमपास्तुकवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः।
पुलस्त्यस्याज्यपाःपुत्रा वसिष्ठस्यसुकालिनः॥१९८॥
अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्चसौम्यांश्चविप्राणामेवनिर्दिशेत्॥१९९॥

बार्हिषद जो अत्रि के पुत्र हैं, वह दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर कहे हैं ॥ १९६ ॥ सोमपा ब्राह्मणों के हैं, हविर्भुज क्षत्रियों के, आज्यपा वैश्यों के और सुकाली शूद्रों के हैं ॥ १९७ ॥ इनमें से सोमपा भृगु के पुत्र हैं, हविर्भुज आङ्गिरः के सुत हैं, आज्यपा पुलस्त्य के पुत्र हैं सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं ॥ ११८ ॥ अग्निदग्ध, काव्य, बार्हिषद, अग्निष्वात्त, और सौम्य इनको भी केवल ब्राह्मणोंके (पितर) जाने ॥

य एतेतु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्त्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

* मरीचि आदि देखो पूर्व १ । ३५ ॥

ऋषिभ्यःपितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।
देवेभ्यस्तुजगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥
राजतैर्भाजनैरेषामथोवा राजतान्वितैः ।
वार्यपिश्रद्धयादत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

पर यह जो पितरों के मुख्यगण कहे हैं, इनके भी (आगे) अनगिनत पुत्र पोते जानने चाहिएं (वह भी पितर हैं)*॥२००॥ ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए हैं पितरों से देवता और दानव देवताओं से फिर क्रमसे चर अचर सारा जगत (उत्पन्न) हुआ है ॥ २०१ ॥ चांदी के पात्रों से वा चांदी लगे पात्रों से जल भी इन (पितरों) को दिया हुआ अक्षय † (सुख) के लिये होता है ॥

देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हिं पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनंश्रुतम् ॥ २०३॥
तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसिहि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥२०४॥
दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तंत्वीहमानः क्षिप्रं नश्यतिसान्वयः ॥२०५॥

पितृकार्य द्विजों के लिए देवकार्य से बढ़कर है, क्योंकि देवकार्य पितृकार्य से पूर्व (उसी का) पूरा करनेवाला कहा है

---

* पूर्वोक्त, आदि पितरों के क्रम से ही अपने पिता, पितामह प्रपितामह की उत्पत्ति होने से सोमपादि भी पूजित हुए श्राद्ध का फल देने के समर्थ होते हैं, इसलिये पिता आदि के श्राद्ध की स्तुति के लिये यह सोमपाआदि पितृगणों का वर्णन है, (कुल्लू०) † (पितरों की) अक्षय तृप्ति के लिए (मेध०) ॥

*॥ २०३‡॥ उन (पितरों) की रक्षा के तौर पर पहले देवताओं के उद्देश्य से (ब्राह्मण) को निमन्त्रण दे, क्योंकि राक्षस उस श्राद्धको नाश कर देते हैं जो ऐसी रक्षा से हीन है ॥२०४॥ इसलिए उसे श्राद्ध के आदि और अन्त में देवकर्म करना चाहिए † क्योंकि जो आदि और अन्त में पितृकर्म करता है, वह शीघ्र वंशसमेत नष्ट होजाता है ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥
अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैवहि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरःसदा ॥ २०७ ॥

साफ सुथरे अलग स्थानको गोबर से लीपे, और सावधानता से दक्षिण को ढलवान बनावे ‡ ॥ २०६ ॥ खुले स्वभाव शुद्ध § स्थानों वा नदियों के किनारों पर वा अलग (एकान्त) स्थानों में दिए अन्न से पितर सदा प्रसन्न होते हैं ॥ २०७ ॥

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सुपृथक्पृथक् ।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

---

* हरएक श्राद्ध का आरम्भ वैश्वदेव से होना चाहिए, एक ब्राह्मण वैश्वदेव के लिए अवश्य हो । † अभिप्राय यह है, कि वैश्वदेव के लिए ब्राह्मण को निमन्त्रण भी पहले दे, और पूजा भी पहले करे, पीछे पितरों के उद्देश्य से, पर विसर्जन पित्रुद्दिष्ट ब्राह्मणों का पहले करे, पीछे वैश्वदेव वाले ब्राह्मण का । इसप्रकार पितृकार्य के आदि और अन्त में देवकार्य होजाता है ॥

‡ गौत० १५ । २५ आप० २ । १८ । १४ याज्ञ० १ । २२७ § चोक्ष=स्वभाव शुद्ध=जङ्गल आदि ; चोक्ष=प्यारे (नन्द, राघ०) ॥

उपवेश्यतुतान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयद्देपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

वहां जब कुशा समेत* आसन अलग २ रख दिये जाएं, तो उन पर यथाविधि आचमन कर चुके उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणों को बिठलाए † ।२०८। दोषों से रहित उन ब्राह्मणों को आसनों पर बिठलाकर सुगन्धित गन्ध (केसर धूपादि) मालाओं से विश्वे देवों के ब्राह्मण से आरम्भ करके पूजे ‡ ॥२०९॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अग्नौकुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैःसह ॥ २१० ॥
अग्नेःसोमयमाभ्यांच कृत्वाऽऽप्यायनमादितः ।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात् संतर्पयेत्पितॄन् ॥२११॥

उनको जल, तिल और पवित्रे देकर (उनसे) अनुज्ञा लेकर उन सब ब्राह्मणों के साथ अग्नि में होम करे § ॥ २१० ॥ पहले (श्राद्ध की रक्षा के लिए) यथाविधि हवि देने से अग्नि, सोम और यम को तृप्त करके पीछे पितरों को तृप्त करे ‖ ॥ २११ ॥

अग्न्यऽभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
योह्यग्निःसद्विजोविप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

---

* देव ब्राह्मण के आसन पर दो कुशा उत्तर की ओर अग्रवाली और पितरोंके आसनों पर एक२ कुशा दक्षिणकी ओरअग्रवाली रखे, (देवल) † याज्ञ० १ । २२६ ‡ याज्ञ० १ । २३१ विष्णु० ७३ । २
§ आप २ । १७ । १७-१९ बौधा २ । १४ । ७ याज्ञ० १ । २२९ । विष्णु ८३ । ५ ‖ बौधा० २ । १४ । ७ विष्णु ७३ । १२

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्तान्श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् २१३

(स्थापन किया हुआ) अग्नि न हो* तो किसी ब्राह्मणके हाथ पर ही (यह तीन आहुतियें) देदेवे, क्योंकि वेद के जानने वाले ब्राह्मण कहते हैं (जो अग्नि है) वह ब्राह्मण है† ॥ २१२ ॥ (और) इन उत्तम ब्राह्मणोंको श्राद्ध के देवता कहते हैं, जो पुरातन हैं, क्रोध से रहित, आसानी से प्रसन्न होनेवाले लोक की भलाई में लगे हुए हैं ‡ ॥ २१३॥

अपसव्यमग्नौकृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकंभुवि ॥ २१४ ॥
त्रींस्तुतस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥
न्युप्यपिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषुतं हस्तं निमृज्यालेपभागिनाम् ॥२१६॥

* अग्नि का न होना इन अवस्थाओं में होता है जबतक उपनयन नहीं हुआ, स्नातक हो कर जबतक विवाहा नहीं गया वा जिस की स्त्री मर गई है † अश्व० गृ० ४।८।५-६ ‡ श्लोक का अभिप्राय यह है, कि निमन्त्रित ब्राह्मण पितरों के तुल्य हैं, जो पितर कि श्राद्ध के देवता हैं, इस लिये श्राद्ध में इनके हाथ पर ही आहुति देदेवे। पुरातन का अभिप्राय मेधा० लेता है कल्प के आरम्भमें उत्पन्न हुए, जब कि साध्य उत्पन्न हुए। गो० कुल्लू और राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, जो प्रवाह से अनादि हैं, नारा० यह लेता है, जो दूसरे सब वर्णों से पहले हुए हैं। पर मेधा० पुरातनाः, पाठ को विशेष मानता है पुराने अर्थ-लोग कहते हैं, इत्यादि। यही नन्द ने माना है ॥

अग्नि में (होम, और) सारी विधि* अपसव्य† करके हाथ ‡ से (पिण्डों के रखने के) स्थान पर जल डाले ॥ २१४ ॥ (होम से) बचे उस अन्न से तीन पिण्ड बनाकर एकाग्र (चित्त) हो दक्षिण की ओर मुख करके जल (देने) की रीति से ही (उन पिण्डों को कुशा पर) रक्खे ॥ २१५ ॥ (उक्त) विधि के अनुसार उन पिण्डों को रखकर उस हाथ को लेपभागी पितरों§ की तृप्ति के लिये उन कुशाओं पर पोंछ डाले ॥ २१६॥

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।
षड्ऋतूंश्चनमस्कुर्यात्पितॄनेवचमन्त्रवित् ॥ २१७ ॥
उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्चतान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥२१८॥
पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकांमात्रां समादायानुपूर्वशः ।
तेनैवविप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमशयेत् ॥ २१९ ॥

(अब) आचमन करके उत्तर की ओर मुख मो , धीरे २

---

* सारी विधि=जल का छिड़कना, अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाना आदि † अपसव्य=जनेऊ को पितृसव्य (प्राचीनावीति) करके) (देखो पूर्व २। ६३) (अपसव्य=दक्षिणसंस्थ=ऐसी रीति से जल छिड़कना आदि करे, कि उसकी समाप्ति दक्षिण में हो-कुल्लू) ‡ अपसव्य हाथ=पितृसव्य हाथ = पितृतीर्थ (देखो पूर्व २। ५९) (अपसव्य हाथ = दायां हाथ = कुल्लू०) § लेपभागी पिण्ड बनाकर रखने में जो अन्न हाथके साथ लगा रहजाता है,उसके हकदार। पिता,पितामह, प्रपितामह इन तीन के लिये तीन पिण्ड होते हैं, आगे तीन पीढ़ी अर्थात् प्रपितामह के पिता, पितामह प्रपितामह लेपभागी होते हैं (देखो विष्णु ७३। २२)

तीनबार प्राणों को खींचकर (प्राणायाम कर), मन्त्र का जानने वाला (यजमान) छः ऋतुओं (के देवताओं) को और पितरों को नमस्कारकरे * ॥ २१७ ॥ शेष जल † को क्रम से फिर पिण्डों के पास छोड़े, और एकाग्र (मन) होकर रखने के क्रम से उन पिण्डों को सूंघे ‡ ॥ २१८ ॥ अब क्रमशः पिण्डों से बहुत थोड़ा २ सा अंश लेकर उन्हीं § बैठे हुए ब्राह्मणों को (श्राद्ध भोजन से) पहले यथाविधि ¶ खिलाए ** ॥ २१९ ॥

म्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥२२० ॥

पर यदि यजमान का पिता जीता है, तो (पिता से) पहले तीनों को ही (पिण्ड) देवे, अथवा उस अपने पिता को श्राद्ध में ब्राह्मण की तरह जिमाए †† ॥ २२० ॥

---

*'वसन्तायनमः,' इत्यादि से ऋतुओं को, और 'नमो वः पितरो रसाय' इत्यादि से पितरों को, पितरों को नमस्कार करने में फिर दक्षिणमुख होजाना चाहिए † पिण्ड देने के स्थान में जो जल छिड़का था, उससे बचा हुआ जो पात्र में रक्खा है, वह जल ‡ विष्णु ७३ । २३ §उन्हीं = जो पितरों के उद्देश्य से बुलाए गए हैं, न कि उस ब्राह्मण को जो वैश्वदेव के लिए बिठलाया गया है ।¶ यथाविधि = जो विधि आगे २२३ में कहेंगे, तदनुसार (नन्द) आचमनादि करने के पीछे (नारा०) **पिता के पिण्ड से लिया अंश पित्रासन पर बैठे ब्राह्मण को खिलाए, इसीतरह पितामह प्रपितामह के ब्राह्मण को (कुल्लू) ॥

†† विष्णु ७५ । १, ४; यह नियम ऐसे अवसर के लिए है, कि जब पिता के जीवनकाल में ही पुत्र ने अग्न्याधान कर लिया है, तो उसे पर्व के दिन पिण्डपितृयज्ञ और तिस पीछे पार्वण श्राद्ध करना ही चाहिए, अब पिता तो उसका जीता है, और पिण्ड पितृयज्ञ

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।
पितुःसनाम संकीर्त्य कीर्त्तयेत्प्रपितामहम् ॥२२१॥
पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।
कामंवा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥२२२॥

जिसका पिता मरगया हो, और पितामह जीता हो, वह पिता का नाम बोलकर प्रपितामह का बोले * ॥ २२१ ॥ या पितामह उस श्राद्ध को खालेवे, † यह मनु ने कहा है, या उसकी अनुज्ञा लेकर स्वयमेव जैसा चाहता है करे ‡ ॥ २२२ ॥

तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।
तत्पिण्डाग्रंप्रयच्छेत स्वधैषामस्त्वितिब्रुवन् ॥२२३॥
पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥२२४॥

और श्राद्ध उसे करना ही है, सो वह पिता के नाम न पिण्ड देवे, न उसका श्राद्ध करे,किन्तु पिता जिनको पिण्ड देता है,उन तीनोंको –पिता के पिता, पितामह, प्रपितामह को, ही पुत्र भी पिण्ड देवे,और उन्हीं का श्राद्ध करे, अथवा यह करे कि पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए ही पिण्डादि करे,पर ब्राह्मण दो ही बुलाए,एक पितामह के, दूसरा प्रपितामह के स्थान, पिता के आसन पर अपने साक्षात् पिताको बिठलाए, और उसीको पिताका पिण्ड और श्राद्ध जिमाए॥

* २२१–२२२ विष्णु ७५ । ६ † अथवा जैसे जीवित पिता को भोजन बन सक्ता है,वैसे जीवित पितामह को करा देवे ‡ पिता प्रपितामह का पिण्डादि करे,बीच में से पितामह को छोड़ ही देवे,अथवा तीनों का करे, और पितामह को साक्षात् खिला देवे, अथवा पिता प्रपितामह और वृद्ध पितामह इन तीनों का करे, बीच में से पितामह को छोड़ देवे ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

उन (ब्राह्मणों) के हाथों पर पवित्र सहित तिल और जल देकर 'इनको स्वधा हो' † यह कहता हुआ वह पिण्ड का अंश देवे॥ २२३ ॥ फिर (परोसने के लिए) अन्न से पूर्ण (पात्र) को स्वयं दोनों हाथों से लेजाकर पितरों का ध्यान करताहुआ ब्राह्मणों के पास धीरे से रक्खे ॥ २२४ ॥ क्योंकि उस अन्न को दुष्ट बुद्धिवाले असुर झट उड़ा लेजाते हैं, जो दोनों हाथों में पकड़े बिना लेजाया जाता है ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत्प्रयतःपूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥
भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानिच ।
हृद्यानि चैवमांसानि पानानिसुरभीणिच ॥२२७॥
उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत्प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

शुद्ध और सावधान होकर गुणवाले दाल साग आदि और दूध, दही, घी, शहद को पहले भूमि पर रक्खे ॥ २२६ ॥ (तथा) अनेक प्रकार का सख्त (चबाकर खाने योग्य लड्डू आदि) और नर्म (क्षीरादि) भोजन, मूल, फल, स्वादु मांस और सुगन्धित, पान ॥ २२७ ॥ यह सब (ब्राह्मणों के) पास लाकर शुद्ध और

---

* पूर्व २१९ में जो पिण्ड का अंश लेकर ब्राह्मणों को देना कहा है, वह इसप्रकार देवे, † पित्रेस्वधा ऽस्तु, पितामहाय स्वधा स्तु, प्रपितामहाय स्वधाऽस्तु,* वासि० ११।२५ बौधा० २ । १५।३ ॥

एकाग्र होकर (यह मीठा है, यह खट्टा है, इसप्रकार) सारे गुणों को बतलाता हुआ धीरे २ परोसे ॥ २२८ ॥

नास्रमापातयेज्जातु नकुप्येन्नानृतं वदेत् ।
नपादेन स्पृशेदन्नं नचैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥
अस्रं गमयाति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥
यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥२३१॥
स्वाध्यायंश्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणिचैवहि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानिच।२३२

आंसु बिल्कुल न बहाए, न क्रोध करे, न झूठ बोले, न अन्न पैर से छुए, न इसे हिला २ कर (थाल में) फैंके ॥ २२९ ॥ आंसु (बहाना अन्न को) प्रेतों को पहुंचाता है, क्रोध शत्रुओं को, झूठ कुत्तों को, पाओं का स्पर्श राक्षसों को, और हिला २ कर फैंकना पापियों को (पहुंचाता है) ॥ २३० ॥ ब्राह्मणों को जो २ (अन्न) रुचे, वह २ विना कंजूसपन के देवे, वैदिक रहस्यों की बात चीत * करे, पितरों को यह अभीष्ट है † ॥२३१॥ श्राद्ध में (यजमान निमन्त्रित ब्राह्मणों को) वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान ‡(Legendary story) इतिहास, पुराण और खिल§ सुनावे¶ ॥२३२॥

---

* 'ब्रह्मोद्याः कथाः' जैसा कि आश्वलायन श्रौतसूत्र १० । ९ । २ में बतलाई हैं, (मेधा० नन्द०) 'ब्रह्मोद्याः यह यह परिभाषा वैदिक कथाओं के लिए है, जैसे देवासुर संग्राम सरमा पणियों की कथाएं

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैःशनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान् गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३

व्रतस्थमपिदौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासनेदद्यात्तिलैश्चाविकिरेन्महीम् ॥ २३४॥

त्रीणिश्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणिचात्रप्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५॥

स्वयं प्रसन्न हुआ ब्राह्मणों को (प्यारी बातों से) प्रसन्नकरे, और धीरे २ (हरएक भोजन) खिलावे, और बार २ उत्तम अन्न से और उन के गुणों से इनको प्रेरे, (यह स्वादु है, यह रोचक है, लीजिये) ॥ २३३ ॥ दोहता चाहे ब्रह्मचारी भी हो, तौ भी यत्न से उसे श्राद्ध में जिमाए। और (हरएक ब्राह्मण के) आसन पर नेपाली कंबल रक्खे, और (श्राद्ध-) भूमि पर तिल बिखेरे ॥ २३४ ॥ श्राद्ध में तीन पवित्र (पवित्रता के साधन) हैं—दोहता नेपाली कंबल और तिल। और तीन (बातों) की इसमें प्रशंसा करते हैं—पवित्रता, क्रोध न करना और जल्दी न करनी * ॥ २३५ ॥

अत्युष्णंसर्वमन्नंस्याद्भुञ्जीरंस्तेच वाग्यताः ।
नचद्विजातयोब्रूयुर्दात्रापृष्टाहविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

(मेधा०) परमात्मा को निरूपण करनेवाली कथाएं (गो० कुल्लू० नारा० राघ०) † याज्ञ० १ । २३९ ‡ आख्यान, सौपर्ण मैत्रा वरुणादि (मेधा० गो० कु० राघ०) § खिल=परिशिष्ट श्रीसूक्तादि

¶ बौधा० २ । १४ । ५ याज्ञ० १ । २३९ विष्णु० ७३ । १६ ॥

* वा सि० ११ । ३५-३६ ।

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥२३७॥
यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्चयद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसिभुञ्जते ॥२३८॥

अन्न सारा गर्म हो, और वह (ब्राह्मण) चुपचाप भोजन करें, और (चाहे) दाता (भी) पूछे, (तौ भी) ब्राह्मण अन्न के गुणों को न कहें (चुप रहें*) ॥ २३६ ॥ क्योंकि जब तक अन्न गर्म है, जब तक चुपचाप खाते हैं, और जब तक हवि के गुण नहीं कहे हैं, तब तक (ही) पितर खाते हैं † ॥२३७॥ (ब्राह्मण) जो अन्न सिर को लपेटे हुए खाता है, जो दक्षिणमुख होकर खाता है और जो खड़ाओं पहने हुए खाता है, वह राक्षस खाते हैं ‡ ॥ २३८ ॥

चण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटःश्वा तथैवच।
रजस्वलाच षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥
होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।
दैवे कर्मणि पित्र्येवा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥
घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः।
श्वातु दृष्टि निपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ।२४१।

चण्डाल, (ग्राम का) सूअर, कुक्कुड़, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक यह ब्राह्मणों को न देखें, जब वह भोजन कर रहे हों *

---

* विष्णु० ८१। २० † वासि० ११ । ३२ विष्णु० ८१ । २०
‡ विष्णु० ८१ । १२—१४ ॥
* गौत० १५। २४ आप० २। १७। २० ॥

॥ २३९ ॥ क्योंकि होम में, (गौआदि) के दान में (ब्राह्मणों को) भोजन देने में, दैवकर्म में, वा पितृयकर्म में यदि यह देखते हैं, तो वह कर्म निष्फल जाता है॥२४१॥सूअर (देने योग्य वस्तु को) सूंघने से निकम्मी कर देता है, कुक्कुड़ अपने पंखों की पवन से, कुत्ता दृष्टि डालने से, और शूद्र छूने से ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदिवा काणो दातुः प्रेष्योऽपिवा भवेत् ।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥
ब्राह्मणं भिक्षुकंवापि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥२४३॥

लंगड़ा, वा काना, न्यून वा अधिक अङ्गोंवाला हो, वा दाता का दास भी * हो, उसको भी (श्राद्ध के स्थान से) निकाल देवे † ॥ २४२ ॥ (गृहस्थ) ब्राह्मण ‡ वा कोई भिक्षुक भोजन के लिए आया हो, तो ब्राह्मणों से अनुज्ञा लेकर शक्ति अनुसार (उसको भी–भोजनदान वा भिक्षादान से) पूजे § ॥ २४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद् भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥२४४॥
असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुल योषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्चयः ॥२४५॥
उच्छेषणं भूमिगत मजिह्मस्याशठस्यच ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

---

* दास शूद्र होता है, अभिप्राय यह है, कि घर का नौकर भी शूद्र वहां न रहे । † विष्णु० ८१ । १५-१६ ‡ अतिथिरूप से आया, ब्राह्मण (मेधा० गो० कुल्लू०) § विष्णु० ८१ । १८ ॥

सब प्रकार के अन्न को इकट्ठा मिलाकर और जल से (उन को) छिड़ककर खाचुके हुओं के आगे भूमि पर (कुशा के ऊपर) बिखेर देवे * ॥ २४४ ॥ (पात्रों में बचा हुआ) उच्छिष्ट और कुशा पर का बिखेर उनका भाग होता है, जिन (बच्चों) का दाह संस्कार नहीं हुआ † वा जिन्हों ने (अन्याय से) कुलीन स्त्रियों का त्याग किया है ‡ ॥ २४५ ॥ और उच्छिष्ट जो भूमि पर गिरी है, वह ऐसे दास समुदाय का श्राद्ध में हिस्सा कहते है, जो न कुटिल (ईमानदार) और कर्त्तव्यको पूरा करता है § ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवंभोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकंतु निर्वपेत् ॥२४७॥
सहापिण्डक्रियायांतु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

सपिण्डीक्रिया * करने तक मरे द्विज का श्राद्ध बिना वैश्व

---

* विष्णु० ८१-२१ † देखो ५ । ६९ ‡ वासि० ११ । २३—२४ विष्णु०८१।२२'त्यागिनां कुलयोषिताम्' का अर्थ जो ऊपर दिया है, वही मेधा०कुल्लू०ने दिया है।राघ०ने त्यागी से अभिप्राय गुरु आदि के त्यागनेवाले और कुल स्त्रियों से बिन विवाही कुल स्त्रियें लिया है । गोविन्दने अपने कुल को त्यागकर निकलगई कुल स्त्रियें लिया है । नारा० ने आत्महत्या करने वाले पुरुष और निःसन्तान स्त्रियें लिया है,नन्द ने 'त्यागिनां,का अर्थ संन्यासी लिया है§विष्णु०८१।२२

* सपिण्डी क्रिया वा सपिण्डी करण =श्राद्ध विशेष, जो मृत-बन्धु के लिए किया जाता है, इसके पीछे वह अपने पितरों में मिल जाता है, तब उनके साथ इसका पिण्ड होता है । यह कर्म मरने के एक वर्ष पीछे किया जाता है, पर आज कल प्रायः १२ दिन पीछे कर लेते हैं । सपिण्डी करण से पहले जो उसके लिए श्राद्ध किया

देव के खिलाए, और एक पिण्ड देवे *॥ २४७ ॥ पर जब धर्म्म के अनुसार उसका सपिण्डीकरण होजाए,तब उसके पुत्रोंको इसी विधि से उसका पिण्ड देना चाहिए ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
समूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥२४९॥
श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याःपुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

जो श्राद्ध खाकर उच्छिष्ट शूद्र को देता है, वह मूढ़ उलटे सिर कालसूत्र नरक में पड़ता है ॥ २४९ ॥ श्राद्ध का खाने वाला यदि उसी दिन शूद्रा † स्त्री की शय्या पर जाता है, तो उसके पितर वह महीना उस स्त्री के विष्ठा में लेटते हैं ॥ २५० ॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितोरम्यतामिति ॥२५१॥
स्वधास्त्वित्येवतंब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः परं ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥
ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथाकुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥२५३ ॥

जाता है, उसे एकोद्दिष्ट कहते हैं अर्थात् निरा एक के उद्देश्य से किया आ * याज्ञ० १ । २५० विष्णु० २१ । २—१२, १९ ॥

† वृषली = शूद्रा, यहां स्त्री के अर्थ में है, 'वृषस्यन्ती=पुरुष को चपल करनेवाली' (नारा०) ॥

पित्र्येस्वदितमित्येवं वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
सम्पन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

आपने अच्छी तरह भोजन कर लिया है, यह पूछकर तृप्त हुओं को फिर आचमन कराए, जब आचमन कर चुकें, तो उन्हें अनुज्ञा देवे, कि यथेष्ट (यहां वा अपने घर) आराम कीजिए* ॥ २५१ ॥ इस (अनुज्ञा) के अनन्तर ब्राह्मण उसको 'स्वधाऽस्तु' कहें, क्योंकि सारे पितृकर्मों (श्राद्ध तर्पणादि) में स्वधा शब्द बड़ा उत्तम आशीर्वाद है † ॥२५२॥ तब खाचुके हुए उन ब्राह्मणों को बचा अन्न निवेदन करे (कि शेष अन्न भी है) और उन से अनुज्ञा लेकर जैसा वह कहें, वैसा करे ॥२५३॥ पित्र्य (श्राद्ध) में (ब्राह्मणों को तृप्ति पूछने के लिए) 'स्वदितं, कहना चाहिए, गोष्ठी श्राद्ध ‡ में 'सुश्रुतं' वृद्धि श्राद्ध § में 'सम्पन्नं' और दैवश्राद्ध में 'रुचितं' (कहना चाहिये) ॥ २५४ ॥

अपराह्णस्तथादर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥२५५॥
दर्भाःपवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि चसर्वशः ।
पवित्रं यच्चपूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ २५६ ॥

---

* याज्ञ० १ । २४२ विष्णु ७३ । २६-२७ 'अभितो रम्यतां' के स्थान 'अभिभोरम्यतां' 'हे आराम कीजिये' (कुल्लू) 'अभितो गम्यतां' जहां अभीष्ट हो जाइये,(राघ०) † याज्ञ० १ । २४३ ॥

‡ गोष्ठे=गोमण्डल के लिए गोशाला में ब्राह्मण भोजन (नारा०)
§ वृद्धि श्राद्ध जो किसी उत्सव के अवसर पर किया जाता है, जैसे विवाह में, इसी को नान्दीमुख कहते हैं ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥२५७॥

दोपहर ढली का समय, कुशा, स्थान का उत्तम बनाना, तिल, (उदारता से अन्न) देना (अन्न का) स्वच्छता से बनाना, और श्रेष्ठ ब्राह्मण यह श्राद्ध कर्म की सम्पदा हैं ॥ २२५ ॥ कुशा, पवित्र करनेवाले (मन्त्र) * सवेर का समय, वह सब अन्न जो होम के योग्य होते हैं, और वह पवित्रता के साधन जो पूर्व कहे हैं †, यह दैवकर्म की सम्पदा हैं ॥ २५६ ॥ वानप्रस्थों के अन्न, दूध, सोमरस, और मांस जो (मसालों से) बना हुआ नहीं, और लवण जो बनावटी नहीं, यह स्वभावतः हवि कही जाती है ॥२५७॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्॥२५८॥
"दातारोनोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेवच ।
श्रद्धाचनोमाव्यगमद्बहुदेयंचनोऽस्त्विति"॥२५९॥

उन (निमन्त्रित) ब्राह्मणों को बिदा करके, एकाग्रमन, चुपचाप, शुद्ध हो, दक्षिणादिशा की ओर देखता हुआ पितरों से यह वर मांगे ॥ २५८ ॥ हमारे (कुल में) उदार पुरुष, वेद और सन्तति बढ़े, श्रद्धा हमसे मत दूर हो, और हमारे पास देने को बहुत कुछ हो ‡ ॥ २५९ ॥

---

* यव जल आदि (नारा०) नन्द 'दर्भपवित्रं' पढकर 'कुशा के पवित्रे' अर्थ करता है। † पवित्र स्थान आदि ॥
‡ याज्ञ० १। २४५ विष्णु० ७३। २८॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गांविप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वाक्षिपेत् ॥२६०॥
पिण्डनिर्वपणं केचित् परस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सुवा ॥२६१॥
पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥२६२॥
आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकंधार्मिकंतथा ॥२६३॥

इसप्रकार * पिण्ड देकर पीछे उन पिण्डों को गौ, ब्राह्मण, बकरे वा अग्नि को खिलाए, वा जलों में फेंके ॥ २६० ॥ पिण्ड दान कई (ब्राह्मण भोजन के) पीछे ‡ करते हैं, दूसरे पक्षियों को खिला देते हैं, वा अग्नि वा जल में डाल देते हैं ॥ २६१ ॥ (यजमान की) पतिव्रता, धर्मपत्नी जो पितृपूजन में प्रेमवाली है वह यदि पुत्र की इच्छावाली हो, तो इनमें से मध्यम पिण्ड (पितामह के पिण्ड) को यथाविधि खालेवे ॥ २६२ ॥ (इसप्रकार) वह दीर्घायु, यश और मेधा से युक्त, धनवन्त, सन्ततिवाले, सत्त्वगुणी धार्मिकपुत्र को जन्म देती है ॥ २६३ ॥

---

* पूर्व २५० में कहे प्रकार † याज्ञ० १ । २५६ ‡ यह पाठ पुरस्तात्, पाया जाता है, पर मेधा० और कुल्लू० ने जो अर्थ किया है– 'पीछे' इस अर्थ से 'परस्तात्' पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि पुरस्तात् का अर्थ सदा 'पहले' होता है, न कि 'पीछे'। राघ० की टीका में 'परस्तात्' स्पष्ट है। नारा० और नन्द 'पुरस्तात्' पढ़ते हैं, और अर्थ भी 'पहले' करते हैं, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि पहले पिण्ड देना, जो पूर्व २१८ में कहा है, उससे यहां मतभेद दिखलाया है

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यःसत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥२६४॥
उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादितिधर्मो व्यवस्थितः ॥२६५॥

हाथ धोकर और आचमन करके अपने ज्ञातियों को भोजन कराए, ज्ञातियों को आदर पूर्वक देकर बान्धवों (मातृपक्ष के सम्बान्धियों मामे आदि) को भी देवे ॥ २६४ ॥ पर वह (ब्राह्मणों का) उच्छिष्ट पड़ा रहे, जब तक ब्राह्मणों को बिदा नहीं किया, (पीछे पोंछ देवे)। पीछे (नित्य का) गृहबलि (वैश्वदेव) करे, यह धर्म की व्यवस्था है ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्पते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥
तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥२६७॥
द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथचतुरः शाकुनेनाथ पञ्चवै ॥ २६८ ॥

अब–पितरों को यथाविधि दिया जो अन्न चिरकाल और जो अनन्त काल की तृप्ति के लिए समर्थ होता है, वह तुम्हें पूरा २ बतलाउंगा ॥२६६॥ यथाविधि दिये तिल, धान, जौ, माष, जल, मूल, वा फल से मनुष्यों के पितर एक महीना तृप्त रहते हैं * ॥ २६७ ॥ मछली

* २६७—२७२ गौत० १५ । १५ आप० २ । १६–१३–१७, २३ याज्ञ० १ । २५७–२५९ विष्णु ८० ॥

के मांस से दो महीने, हरिण के मांस से तीन महीने, मेंढे के मांस से चार महीने और पक्षियों के मांस से पांच महीने ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥२६९॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तुमासेन मासानेकादशैवतु ॥ २७० ॥
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१॥

मेमने के मांस से छः महीने, चितकबरे हिरण के मांस से सात महीने, काले हिरण के मांस से आठ महीने, और गौरमुख हिरण के मांस से नौ महीने ॥ २६९ ॥ (जङ्गली) सूअर और भैंसे के मांस से दस महीने, शश (खरगोश) और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तृप्त रहते हैं ॥२७०॥ गौ के दूधसे बारह महीने तृप्त रहते हैं। और वार्ध्रीणसके* मांससे बारह बरसकी तृप्ति होती है ॥२७१॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैवकल्पन्ते मुन्यन्नानिचसर्वशः ॥ २७२ ॥
यत्किञ्चिन्मधुनामिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेवस्याद्वर्षासुच मघासु च ॥२७३॥
अपिनःसकुलेजायाद्योनो दद्यात् त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छायेकुञ्जरस्यच ॥२७४॥

---

* वार्ध्रीणस=कुलंग पक्षी; लम्बे कानोंवाला श्वेत बूढाबकरा(कु०)

काल शाक * महाशल्क † गैंड़े और काले बकरे का मांस और शहद और वानप्रस्थियों के सब प्रकार के अन्न अनन्तकाल के लिये समर्थ होते हैं ॥ २७२ ॥ जो कोई (अन्न) शहद से मिला हुआ त्रयोदशी के दिन ‡ वर्षा ऋतु में मघा नक्षत्र में देवे, वह अक्षय (तृप्ति के लिए) होता है § ॥ २७३ ॥ (पितर कहते हैं) ऐसा पुरुष हमारे कुल में उत्पन्न हो, जो हमको त्रयोदशी¶ को शहद और घी से युक्त खीर देवे, जब कि हाथी की छाया पूर्व को हो, (अर्थात् दिन ढला हुआ हो) ‖ ॥ २७४ ॥

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक्श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥२७५॥
कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धेप्रशस्तास्तिथयो यथैतानतथेतराः ॥२७६॥
युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षुतु पितॄनर्चन्प्रजांप्राप्नोतिपुष्कलाम् ॥२७७॥
यथाचैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथाश्राद्धस्यपूर्वाह्णादपराह्णोविशिष्यते ॥ २७८ ॥

श्रद्धा से पूर्ण पुरुष विधि के अनुसार जो २ वस्तु भली भान्ति देता है, वह परलोक में पितरों के लिए अनन्त और अक्षय

---

* कालशाक (शाक विशेष) मेधा० इसका दूसरा नाम 'कृष्ण वासुदेव' और नंद 'कृष्णनिम्ब' लिखता है । † महाशल्क= मछली विशेष ‡ भाद्रवदि की त्रयोदशी § याज्ञ० १ । २६० ; विष्णु ७६ । १ ¶ वासि० ११ । ४० विष्णु ७८ । ५१–५२ याज्ञ० १ । २१७ पर मिताक्षरा में भाद्रवदि त्रयोदशी को महालय श्राद्ध कहा है ॥

होती है ॥ २७५ ॥ कृष्णपक्ष में चौदस के सिवाय * दसमी आदि सब तिथियां श्राद्ध में अच्छी हैं, जैसी यह हैं, वैसी और नहीं † ॥ २७६ ॥ युग्म तिथियों और नक्षत्रों में (श्राद्ध) करता हुआ सारी कामनाओं को प्राप्त होता है और अयुग्मों में पितरों को पूजता हुआ पुष्कल सन्तान पाता है ‡ ॥ २७७ ॥ श्राद्ध में जैसे शुक्लपक्ष से कृष्णपक्ष बढ़कर होता है। वैसे दिन के पहले हिस्से से पिछला हिस्सा बढ़कर होता है § ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥
रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥
अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्धस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥
न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

पितृकर्म, यज्ञोपवीत को दाएं कन्धे पर रखकर, हाथ में कुशा लेकर, यथाविधि पितृ तीर्थ से समाप्ति पर्यन्त सावधान होकर

---

* चौदस को क्यों छोड़ना, इसमें युक्ति देखो, विष्णु ७८। ५० † वासि० ११ । १६ गौत० १५। ३ आप० २। १७। ६ याज्ञ० १। २६३ ‡ मेधा०, गो०, नंद, राघ०, कुल्लू० के अर्थानुसार 'पितॄनर्चन्' पाठ असली प्रतीत होता है। 'पितॄन् सर्वान्' पाठ जो छपे पुस्तकों में है, निरर्थक है। युग्म तिथियां द्वितीयादि, युग्म नक्षत्र भरणी आदि गौत० १५। ४ आप० २। १७। ८-२२ याज्ञ० १। २६७ § विष्णु ७८। ८-४९ ॥ आप० २। १७। ५ ॥

करना चाहिए ॥ २७९ ॥ रात्रि में श्राद्ध न करे क्योंकि वह (रात्रि) राक्षसों सम्बन्धी कही गई है। तथा दोनों सन्ध्याओं में और थोड़ा ही सूर्य चढ़े तक (भी न करे) * ॥ २८० ॥ इस विधि के अनुसार (महीनो महीना न होसके, तो अन्ततः) बरस में तीनबार श्राद्ध देवे,(जाड़े में,गर्मी में और बरसात में) पर पञ्च महायज्ञों के अन्तर्गत (श्राद्ध) को प्रतिदिन करे ॥ २८१ ॥ पितृयज्ञ सम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में नहीं किया जाता है, और जिसने अग्नि स्थापन किया हुआ है, उस द्विज को अमावस्या के बिना † श्राद्ध नहीं कहा है ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥
वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥२८४॥
विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यंवाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ॥२८५॥

स्नान करके ब्राह्मण निरे जलों से भी जो पितरों को तृप्त करता है,वह उतनेहीसे पितृयज्ञ कर्म का पूरा फल पाता है॥२८३॥ पितरों को वसु कहते हैं, पितामहों को रुद्र, प्रपितामहों को आदित्य, यह सनातन श्रुति है ‡॥२८४॥ सदा विघस भोजन करे, वा सदा अमृत भोजन करे, विघस (ब्राह्मणों के) खाने से बचा हुआ (अन्न) है, और अमृत का यज्ञ शेष (कहलाता) है ॥२८५॥

---

* आप० २। १७। २३ † दशमी आदि तिथियों में(देखोपूर्व२७६)।
‡ मृतक श्राद्ध और मांस भोजन आर्य समाज के मन्तव्य के विरुद्ध है॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥२८६॥
यह तुम्हें पञ्चयज्ञ सम्बन्धी सारी विधि बतलादी है, अब ब्राह्मणों की आजीविका की विधि सुनो ॥ २८६ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

संगति–तीसरे में विवाह और विवाहित द्विजों के धर्मकार्य कह कर अब चौथे में ब्राह्मण की आजीविकाओं और उनके विशेष धर्मों का वर्णन करते हैं:–

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैःकर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसञ्चयम् ॥ ३॥

(मनुष्य की) आयु का पहला चौथा भाग; गुरु के पास रहकर, आयु के दूसरे (चौथे) भाग में पत्नीवाला बनकर घर में रहे ॥ १ ॥ आपत्ति रहित काल में ब्राह्मण ऐसी जीविका से जीवन करे, जो औरों को पीड़ा दिए बिना हो, अथवा फिर छोटी सी पीडा देने से हो ॥ २ ॥ (जीवन-) यात्रा मात्र * की सिद्धि के लिए (शास्त्र में) न निन्दे हुए अपने कर्मों से शरीर को तंग न करके धन का सञ्चय करे ॥ ३ ॥

---

* शरीर को स्वस्थ और बलवान् रखने और धर्म कार्योंकोपूरा करने मात्र के लिये धन संचय करे, न कि भोग विलास के लिए ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतंतुयाचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवाऽपि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

ऋत और अमृत से वा मृत और प्रमृत से अथवा सत्यानृत से जीविका करे, पर श्ववृत्ति से कभी नहीं* ॥ ४ ॥ उञ्छ और शिल (अनाज के दानों और अनाज की मञ्जरियों के चुनने) को ऋत जानो, बिन मांगा (मिला) अमृत है, मांगी हुई भिक्षा मृत है और खेती प्रमृत कही गई है ॥५॥ व्यापार सत्यानृत है, उससे भी जीविका कीजाती है, सेवा श्ववृत्ति कही है, इसलिए उसे त्याग देवे ॥ ६ ॥

---

* ४-६ ऋत=सत्य, वह जीविका जिसमें झूठ वा बनावट (चापलूसी आदि) का नाम नहीं । अमृत=अमृत तुल्य । मृत=मरी हुई जीविका "मांगन गए सो मर रहे,मर रहे सो मांगन जाए"। प्रमृत=जिसमें बहुतों की हिंसा हो, भूमि जोतने आदि में अनेक जीवों का मारना होता है, और पकी अनपकी खेतीसे पशुओं पक्षियों को ताड़ना मारना होता है, (पर वेद में खेती की प्रशंसा है, निन्दा नहीं—संपादक) सत्यानृत =सच और झूठ । व्यापार में सच झूठ मिला रहता है । यद्यपि व्यापारमें भी सत्यवादी ही होना चाहिये, पर ऐसा होता कहीं कोई विरलाही है । इसीलिये इसे सत्यानृत कहा है । श्ववृत्ति=कुत्ते की जीविका-सेवा करनेवाला स्वामी को दीनदृष्टि से देखता है, झिड़कें सहता है, इत्यादि श्ववृत्ति से जीविका पाता है ॥

कुशूलधान्यको वास्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिकोवापिभवेदश्वस्तानिकएव वा ॥ ७ ॥
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥
षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

उसके पास या तो कोठी भर अनाज रहे, वा मटकाभर,* वा तीन दिन के लिए जितना पर्याप्त हो अथवा कल के लिए भी न हो ॥ ७ ॥ इन चारों ब्राह्मण गृहस्थों में से परला परला श्रेष्ठ जानो, जो अपने पुण्य से लोक को जीतनेवालों में सब से आगे रहता है ॥ ८ ॥ इनमें से एक छः कर्मोंवाला होता है, दूसरा तीन से जीविका करता है, एक दो से चौथा ब्रह्मसत्र से जीविका करता है † ॥ ९ ॥

वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥१०॥

---

*कुशूल=कोठी;और कुम्भी=मटका,पर इनपर भिन्न२टीकाकारोंकी भिन्न २ टिप्पनियां हैं-कुशूल, अर्थात् जितना अनाज अपने परिवार और नौकरों के तीन बरस के लिए पर्याप्त हो (मेधा०) बारह दिन के लिए पर्याप्त हो (गोवि०) तीन वर्ष वा अधिक के लिए पर्याप्त हो (कुल्लू०) एक वर्ष वा छः महीने वा तीन महीने के लिये पर्याप्त हो, (नारा०)कुम्भी=एक वर्ष के लिए पर्याप्त (कुल्लू० राघ०) बौधा० गृ० सू० १ । १ । ५ की टीका में गोवि० १० दिन के लिए पर्याप्त अर्थ लेता है । † छः कर्म पूर्व श्लोक ५-६ में कहे ऋत अमृत भिक्षा खेती व्यापार और ब्याज।तीन-पढ़ाना,यज्ञ कराना,दान लेना । दो-पढ़ाना यज्ञ कराना। एक-पढ़ाना ॥

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥११॥
सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

सिला और उञ्छ से जीविका करता हुआ, सदा अग्निहोत्र में तत्पर हो, और केवल पर्व और अयन के अन्त की * इष्टियें ही सदा करे ॥ १० ॥ जीविका के लिए लोकचाल (ज़मानासाज़ी) न बर्त्ते, किन्तु कुटिलतासे और बहाने से रहित, शुद्ध, ब्राह्मण जीवन से जिये † ॥ ११ ॥ सुख चाहनेवाला पूरे सन्तोष का आश्रय लेकर संयमी रहे, क्योंकि सुख का मूल सन्तोष है, और दुःख का मूल असन्तोष है ‡ ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्य यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥
वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धिकुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१४॥
नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

इनमें से किसी एक जीविका से निर्वाह करता हुआ स्नातक द्विज स्वर्ग दीर्घायु और यश के देनेवाले इन व्रतों को धारे ॥१३॥

---

* पर्वेष्टि अमावस्या और पूर्णिमा के यज्ञ और अयन के अन्त की इष्टि आग्रयणेष्टि † याज्ञ० १ । १२३ ‡ १२-१७ याज्ञ०१ । ११९ ।

वेद में कहा अपना कर्म अनथक होकर प्रतिदिन करे, क्योंकि उस को यथाशक्ति करता हुआ परमगति को पाता है ॥ १४ ॥ निरे कौतुकवाले*कर्म(पेशे)से धन न चाहे,न निषिद्ध कर्म(पेशे) से, न धन के विद्यमान होतेहुए, तंगी मेंभी जहां कहीं से (पापियों से) नहीं॥१५॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत ॥ १६ ॥
सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥
वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

इन्द्रियों के सब विषयों (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) में (भोग की) इच्छा से न फंसे, इनमें अति लगाव को मन से हटाए रक्खे ॥ १६ ॥ धन कमाने के वह सारे काम त्याग देवे, जो वेदाभ्यास के विरोधी हों, जैसे तैसे पढ़ाने का काम करे, क्योंकि वह इसकी कृतकृत्यता है † ॥ १७ ॥ अपनी अवस्था, कर्म (पेशा) धन, शास्त्र और कुलके योग्य अपना वेष वाणी और बुद्धि रखे‡॥१८॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानिच हितानिच ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१९॥
यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथातथा विजानाति विज्ञानंचास्यरोचते ॥ २० ॥

---

* निरे कौतुकवाले=निरे शगलवाले बजाना,नाचना आदि ॥
† विष्णु० ७१ । ४ ‡ याज्ञ० १ । १२३ विष्णु० ७१ । ५-६ ॥

बुद्धि के जल्दी२ बढ़ानेवाले, धन के साधक, और हित के .धक शास्त्रों को * और वेदार्थ के खोलनेवाले निगमों को † तिदिन देखे ‡ ॥ १९ ॥ क्योंकि ज्यों२ पुरुष शास्त्र को विचारता , त्यों २ उसे समझता है, और इसका विज्ञान चमकता है॥२०॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१॥
एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥२२ ॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥२४॥

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ को यथाशक्ति कभी न त्यागे ॥ २१ ॥ यज्ञशास्त्र के जाननेवाले कई इन महायज्ञों को बाहर न करते हुए लगातार इन्द्रियों में ही होमते हैं § ॥ २२ ॥ कई वाणी और प्राण में यज्ञ की अक्षयसिद्धि

---

* बुद्धि बढ़ानेवाले इतिहासादि । धनके साधक अर्थ शास्त्रादि, हित (धन के सिवाय और लौकिक हित) के साधक चिकित्सादि
†निगम जैसे निरुक्त का निगमकाण्ड ‡ याज्ञ० १। ९९ विष्णु० ७१।८

§ २२–२४ इन तीनों श्लोकों में ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थों के यज्ञों की विधियें बतलाई हैं । इन्द्रियों में होमते हैं, इन्द्रियों द्वारा शब्दादि को ग्रहणकर ज्ञान का सम्पादन कर उससे लोकोपकार करना होम

देखते हुए वाणी में प्राण को और प्राण में वाणी को सदा होमते हैं * ॥ २३॥ दूसरे ब्राह्मण जो ज्ञान के नेत्र से इन (यज्ञों) का मूल ज्ञानको देखते हैं, वह ज्ञानद्वाराही इन यज्ञोंको पूरा करते हैं† २४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥
सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २२६
नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुनाचाग्निमान्द्विजः ।
नवान्नमद्यान्मांसंवा दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७ ॥
नवेनानार्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः ।
प्राणानेवात्तुमिच्छान्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥२८॥

दिन और रात के आदि और अन्त में नित्य अग्निहोत्र करे, और पक्ष (अर्धमास) के अन्त में अमावस्या और पूर्णमासी का यज्ञ करे ॥ २५ ॥ खेती के पकने पर नए अन्न की इष्टि करे, और (तीनों) ऋतुओं (सर्दी, गर्मी और बरसात) के अन्त में (चातुर्मास्य) यज्ञ करे, अयन (दक्षिणायन और उत्त-रायन) के आदि में पशुयज्ञ ‡ करे, बरस के अन्त में सोमवाले यज्ञ करे ॥ २६ ॥ दीर्घ जीवन चाहता हुआ आहिताग्नि ब्राह्मण नए अन्न से और पशु से यज्ञ किए बिना नया अन्न वा मांस न खाए ॥ २७ ॥ क्योंकि नए अन्न से और पशु की हवि से न पूजी हुई

मानते हैं * वेदका उपदेश और वेदाभ्यास, प्राण का वाणी में होम मानतेहैं और मौन वाणीका प्राणमें होम है (देखो कौषीतकिउप०२।५)
† ज्ञान में ही तत्पर रहना ज्ञान द्वारा यज्ञ करना है ‡ पशुयज्ञ आर्य समाज का मन्तव्य नहीं ॥

अग्नियें नए अन्न और मांस की इच्छावाले के प्राणों को ही खाना चाहती हैं ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्यकश्चिद्वसेद्गेहेशक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥२९॥

पाखण्डिनोविकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापिनार्चयेत् ॥ ३०

इसके घर में कोई अतिथि भी शक्ति अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल, मूल, फल से पूजे बिना न रहे ॥२९॥ पर पाखण्डी, निषिद्ध कर्मों में स्थित, बिल्ले की वृत्तिवाले, धूर्त, कुतर्की और बगुले की वृत्तिवालों * को वाणीमात्र से भी न पूजे † ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्चभूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

वेद की विद्या वा (वेद के) व्रत में जो स्नान किये हैं, उन (स्नातकों को) को, और वेद के जाननेवाले गृहस्थों को हव्य कव्य से पूजे, इनसे उलटे (जनों) को त्याग देवे ॥ ३१ ॥ गृहस्थ को चाहिये, कि जो आप अपने लिये नहीं पकाते हैं, उन (ब्रह्मचारी और संन्यासियों) को शक्ति के अनुसार कुछ देवे, और

* बिल्ले की वृत्तिवाले और बगुले की वृत्तिवाले देखो आगे १९५-१९६ † याज्ञ० १ । १३० ।

अपने आप को तंग न करके (=अपनी हानि किये बिना) दूसरे प्राणियों को भी अन्न का भाग देवे * ॥ ३२ ॥

राजतोधनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि नत्वन्यतइति स्थितिः ॥३३॥
न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधाशक्तः कथञ्चन ।
नजीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

भूख से तंग आया स्नातक राजा† से, अथवा यजमान और शिष्यसे धनकी इच्छा करे,और किसी से नहीं,यह मर्यादा है‡।३२। (आहार के पाने में) समर्थ स्नातक ब्राह्मण भूख से कभी तंग न हो, और धन के होते हुए फटे मैले वस्त्रों वाला न हो§ ॥ ३४ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥३५॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

नख कटवाए,और बाल दाढ़ी मुंडाए रक्खे, तपस्वी, श्वेत वस्त्रों वाला (अन्दर बाहर से) शुद्ध हो, स्वाध्याय में और अपने हित के कामों में सदा सावधान हो ¶ ॥ ३५ ॥ बांस की छड़ी, जल

---

* गौत० ५ । २२ आप० २ । ४ । १४ बौधा० २ । ५ । २० ॥

†राजासे यहां क्षत्रिय राजा अभिप्रेत है । देखो आगे ८४‡वासि० १२ । २ गौत० ९ । ६३—६४ याज्ञ० १ । १३०§ वासि० १२ । १ गौत० ९ । ३ आप० १ । ३० । १३ विष्णु० ७१ । ९ ॥

¶ गौत० ९ । ४, ७ आप० १ । ३० । १०-१२ बौधा० १ । ५ । याज्ञ०१। १३१

से पूर्ण कमण्डलु, यज्ञोपवीत, कुशा की मुट्ठी और चमकते हुए सोने के कुण्डल धारे * ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम् ॥ ३७ ॥
न लंघयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा॥ ३८ ॥
मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

उदय होते हुए वा अस्त होते हुए सूर्य पर कभी दृष्टि न डाले, न ग्रसे हुए (ग्रहण लगे हुए), न जल में प्रतिबिम्बित, न आकाश के मध्य में प्राप्त हुए पर दृष्टि डाले † ॥ ३७ ॥ बछड़े की रस्सी को (जिससे वह बन्धा है) न उलांघे, बरसते मेंह में न दौड़े, और जल में अपना रूप न देखे, यह मर्यादा है ‡ ॥३८॥ मिट्टी (का टीला) गौ, दैवत § ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध बनस्पति इनको दाएं हाथ रखता हुआ लंघे ¶ ॥ ३९ ॥

---

* वासि०१२।१४—१७ बौधा १।५।३-५;६।१-५;२।६।७ विष्णु० ७१।१३-१६ याज्ञ० १।१३३ ॥

† वासि० १२।१० आप० १।३१।२० बौधा० २।६।१० याज्ञ० १।१३५ विष्णु० ७१।१७-२१ ‡ वासि० १२।९ आप० १।३१।१५ बौधा० २।६।१५ विष्णु० ७१।२३; ६३।४१-४३ § प्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष की मूर्ति; (कई इससे यज्ञशाला अर्थ लेते हैं) ¶ गौत ११।६६ याज्ञ० १।१३३ विष्णु० ६३।२६-२८

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥
तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

चाहे (काम से) पागल भी हो रहा हो, तथापि जब तक ऋतुदर्शन है, तब तक स्त्री के पास न जाए, अपितु उसके साथ एक शय्या पर भी न लेटे * ॥ ४० ॥ रजस्वला नारी के पास जाने वाले नर की प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु नष्ट होती है ॥ ४१ ॥ पर यदि वह उसे अलग रखता है, जब वह रजस्वला है तो उसकी प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु बढ़ते हैं ॥ ४२ ॥

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा नचासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥
नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तींच तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

तेज चाहनेवाला ब्राह्मण पत्नी के साथ (एक पात्र में) न खाए, न उसे खाती हुई देखे, तथा छींकती हुई, जंभाई लेती हुई वा आराम से बैठी हुई† अपने नेत्रों में अञ्जन लगाती हुई, उबटन

* ४०-४२ वासि० १२। ७ गौत० ९। २९-३० विष्णु० ६९-११

† वासि० १२। ३१ गौत० ९। ३२ याज्ञ० १। १३१ विष्णु ६८-४६

मलती हुई, अनढकी और (बच्चा) जनती हुई को न देखे *॥४४॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

निरा एक वस्त्र पहने भोजन न खाए, न नंगा स्नान करे, न मार्ग में मूत्र करे, न भस्म पर, न गोशाला में † ॥४५॥ न जुते हुए (बाहे हुए) खेत में, न जल में, न चयन पर, (अग्नि चयन के लिये किये ईंटों के ढेर पर) न पर्वत पर ‡ न मान्दिरके खण्डर पर, न कभी बामी पर § ॥ ४६ ॥ न जीवोंवाले बिलों में, न चलता हुआ, न खड़ा होकर, न नदी के किनारे को पाकर, न पर्वतकी

---

* गौत० ९ । ३२ ॥

† वासि० १२ । ११ गौत० ९ । ४०, ४५ आप० १ । ३० । १८ बौधा० २ । ६ । २४, ३९ याज्ञ० १ । १३१, १३४ विष्णु० ६८ ।१४; ६४।५;६०।११,१६,१९ गोव्रज=गोशाला, गौओंकी चरागाह(मेधा०) ‡ यहां पर्वत टीले के अर्थ में है। सारे पर्वत पर निषेध हो ही नहीं सक्ता,और यहां पर्वत पर निषेध करके आगे४७में पर्वतकी चोटीपर निषेध व्यर्थ ठहरता है § गौत० ९ । ४० आप० १ । ३० । १८ वि० ६० । ४; २१ । १०

चोटी पर* ॥४७॥ वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, और गौओं की ओर देखता हुआ कभी मल मूत्र का त्याग न करे¶ ॥४८॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः॥४९॥
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥५०॥
छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥
प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥५२॥

(भूमि को) काठ, ढेले, पत्ते, तिनके आदि से ढककर बाणी को रोककर (अपने आप) शुद्ध रहकर, † शरीर पर कपड़े पहने हुए, सिर को लपेटे हुए, शौच करे ‡ ॥ ४९ ॥ दिन में मल मूत्र का त्याग उत्तर मुख होकर करे, रात में दक्षिण मुख होकर, और दोनों सन्ध्याओं में दिन की तरह करे § ॥५०॥ छाया में वा अन्धेरे में चाहे रात हो वा दिन ¶ हो, जिधर इच्छा

---

* विष्णु ६० । ९ गौत० २ । १२ आप० १ । ३० । २० बाज्ञ० १ । १३४ विष्णु ६० । २२ वायु का देखना नहीं होसक्ता, इसलिए वायु से उठाए तृण काष्ठादि को देखने से अभिप्राय है ॥ (मेधा० कुल्लू०) ॥

† अपना बचाव करके ‡ वासि १२ । १३ गौत० ९ । ३७-३८; ४१-४३ आप० १ । ३० । १४-१५ विष्णु० ६० । २--३, २२ § आप १ । ३१ । १ विष्णु ६० । २-३ ¶ दिन में अंधेरा कुहर का होता है।

मुख करे, तथा (चोर चीते आदि से) प्राणों की बाधा के यों में (यथेच्छ मुख करके बैठे) ॥५१॥ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जल, ाह्मण, गौ, वायुके सम्मुख मूततेहुए की प्रज्ञा नष्ट होती है* ॥५२॥

नाग्निंमुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यंप्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३॥
अधस्तान्नोपदध्याच्चनचैनमभिलङ्घयेत् ।
नचैनं पादतः कुर्यान्नप्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्नि को मुंह से न फूंके, नग्न स्त्री को न देखे, अपवित्र स्तुको अग्नि में न डाले, और न इसमें पाओं तपाए † ॥ ५३ ॥ (खाट आदि के) नीचे रक्खे, न इसे फलांगे, न इसे (सोते मय शय्या के) पांओं की ओर करे, न प्राणों को पीड़ा देने ाला काम करे ‡ ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां नगच्छेन्नापिसंविशेत् ।
नचैवप्रलिखेद्भूमिंनात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥
नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

---

* पूर्व ४८ में इनको देखते हुए मल मूत्र के त्याग का निषेध किया । यहां इनकी ओर मुख करके, चाहे दीखतेहों, वा न । ब्राह्मणादि के आदर से उनके दिखते हुए वा उनकी ओर मुख करके निषेध किया है ।(पर वस्तुतः छोटे २ बंधनों की भरमार निभा नहीं करती)

† वासि० १२ । २७ गौत० ९ । ३२ आप० १ । १५ । २०-२१ ाज्ञ १।१३७ विष्णु ७१, ३२-३४;३७ ‡ गौत०९। ७३ याज्ञ १।१३५, ३७ विष्णु० ७१ । ३६ ॥

सन्ध्या समय में न खाए, न चले, न सोवे, न भूमि
को खुरचे, न आप माला उतारे, (किसी से उतरवाए) *
॥ ५५ ॥ जलों में मल, मूत्र, थूक, अपवित्र (=मल मूत्र) से
लिबड़ा (कपड़ा आदि) वा और कोई (अपवित्र वस्तु), लहू,
और विषैली वस्तु न डाले ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्नचाऽवृतः ॥ ५७ ॥
अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥
नवारयेद्गां धयन्तीं नचाचक्षीत कस्यचित् ।
नदिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

उजाड़ घर में अकेला न सोवे, अपने से बड़े (किसी सोए हुए)
को न जगावे, रजस्वला के साथ बात चीत न करे, यज्ञ में न
जाए, जब कि वह (ऋत्विक् के तौर पर) चुना न गया हो †
॥ ५७ ॥ अग्नि मन्दिर में, गौशाला में, ब्राह्मणों के समीप,
स्वाध्याय में, और भोजन में दायां हाथ (वस्त्र से बाहर) निकाले
रक्खे, ‡ ॥ ५८ ॥ (अपने बछड़े को थन) पिलाती गौ को न
हटाए, और न किसी को कहे । बुद्धिमान् पुरुष आकाश में
इन्द्रधनुष को देखकर किसी को न दिखलाए § ॥ ५९ ॥

---

* विष्णु ६३ । ८; ६८ । १२; ७१ । ४१, ५५ † आप० १ । ३० ।
१९ विष्णु० ७१ । ३५ याज्ञ० १ । १३७ ॥
† वासि० १२ । ४२ गौत० ९ । ५४–५५ याज्ञ० १ । १३८ विष्णु
६३ । २१; ७० । १३; ७१ । ५८ ‡ बौधा० २ । ६ । ३८ विष्णु ७१ ।
६० § वासि० १२ । ३३ गौत० ९ । २३ आप० १ । ३१ । १०—१८
बौधा० २ । ६ । ११, १७ विष्णु० ६३ । २; ७१ । ६२ ॥

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे नव्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥
न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥६१॥

उस गाओं में नहीं रहे, जहां धर्म का पालन नहीं होता, न जहां बहुत बीमारी हो वहां रहे, अकेला यात्रा में न पड़े, न पर्वत में, चिरकाल रहे * ॥ ६० ॥ उस देश में न रहे, जहां का राजा शूद्र है, न उसमें, जो (चारों ओर से) अधर्मियों से घिरा है, न उसमें जो पाखण्डीगणों (वेद विरोधियों) के दबाव में है, न जहां नीच लोग उपद्रव मचाते रहते हैं ॥ ६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नाति सायं नसायं प्रातराशितः ॥६२॥
नकुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
नोत्सङ्गेभक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥
न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

जिसका तेल निकाल लिया है, उस वस्तु को न खाए, न अति तृप्ति करे, न बड़ी प्रभात के समय, न सांझ को बड़ी देर करके (खाए) । और सांझ को (खाए ही) नहीं, यदि (सवेरे)

---

* ६०—६१ गौत० ९ । ६५ आप० १ । १५ । २२; ३२ । १८ बौ० ६ । २१, ३१ विष्णु० ७१ । ६४—६८ ॥

पेट भरकर खा लिया हो*॥६२॥ तथा कोई काम न करे, अञ्जलि से पानी न पिए, गोद में रखकर भक्ष्य (लड्डू वा भुने दाने आदि) न खाए, न कभी (तमाशे आदि का) कुतूहली हो † ॥६३॥ न नाचे, न गाए, न बाजे बजाए, न भुजा ठोंके, ‡ न (उङ्गलियों के) कड़ाके निकाले § न लहर में आया हुआ (गधे आदि की) बोलियां बोले ¶

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने।
नभिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥
उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्नधारयेत्।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६॥
नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्नच क्षुद्व्याधिपीडितैः।
नभिन्नशृंगाक्षिखुरैर्न बालधिविरूपितैः॥६७॥
विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८॥

कांसी के बर्तन में पांओं कभी न धोए, न फूटे बर्तन में, न भाव से दूषित** बर्तन में खाए, ॥ ६५ ॥ जूता, कपड़ा, यज्ञो-

---

* विष्णु० ६८। २७, ४८ (देखो पूर्व २। ५६-५७) † गौत० ९।९।५०, ५६ बौधा० २।६।५ विष्णु० ७१।६९; ‡ न अंगुलियों के कड़ाके निकाले (नंद) § न दांत पीसे, (कुल्लू०) 'न ढोर के सदृश धाड़े (नारा०) न अंगुलियों को दांतों से काटे (नंद) ¶ आप० २।२०।१२ विष्णु० ७१।७०-७१॥

** जिस में जी न चाहे; अथवा जिसका स्वरूप विकृत हो विष्णु० ६८।२०; ७१।३९

पवीत, भूषण, (फूलों की) माला और कमण्डलु दूसरों से पहने हुए न पहने * ॥ ६६ ॥ न अनसिधाए, न भूखे और रोग से पीड़ित, न फटे (ज़ख्मी) सींग आंख और खुरोंवाले, न कुरूप (बिगड़ी हुई बदसूरत) पूंछवाले धुर्यों (=घोड़े बैलों) से यात्रा करे † ॥ ६७ ॥ अच्छे सिधे हुए, तेज़ चलनेवाले, अच्छे लक्षणों वाले, अच्छे रंग और अच्छी आकृतिवाले, (घोड़े बैलों) से उनको चाबुक से बहुत पीड़ा न देता हुआ यात्रा करे ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ।
नाछिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥६९॥
न मृल्लोष्ठंच मृद्नीयान्नच्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
नकर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥७०॥
लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशंव्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥७१॥

सवेर की धूप, ‡ (जलते) मुरदे का धुआं, और फटे हुए आसन त्याज्य हैं, नखों और रोमों को न काटे, § और दान्तों से नखों को न उखाड़े ¶ ॥ ६९ ॥ मट्टी के ढेलों को न मलता रहे, अंगुलियों से तिनके न तोड़ता रहे, न निष्फल कर्म करे, न भविष्यत में दुःख फलवाला करे ॥ ॥७०॥ ढेले मलनेवाला, तिनके

---

* विष्णु० ७१ । ४७ † ६७-६८ विष्णु० ६३ । १३-१८ ॥
‡ असूज की धूप (कई) § आप न काटे, नाई से कटवाए, (मेधा० गो०) बडे होने से पहले (कुल्लू०) काटने के लिए जो ठीक समय है, उसके सिवाय न काटे (नन्द) ¶ याज्ञ० १ । १३९ विष्णु० ७१ । ४४, ४६ ॥ गौत० ९ । ५१ आप० १ । ३२ । १८ विष्णु० ७१ । ४२-४३ ॥

तोड़नेवाला,॥ चुगुलखोर, और (बाहर भीतर से) अपवित्र पुरुष जल्दी नाश को प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

न विगृह्य कथा कुर्यादबहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥
अद्वारेण च नातीयाद ग्रामं वा वेश्म वा वृतम् ।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतःपरिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥
नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

झगड़कर * बात न करे, (बालोंसे)॥बाहर माला न पहने, गौ बैल की पीठ पर सवारी सर्वथाही निन्दित है † ॥७२॥ (कोट वा दीवार से) घिरे ग्राम वा मन्दिरमें बिना दरवाज़े के न प्रवेश करे, रात को वृक्षों के मूल को दूर से त्यागे ‡ ॥ ७३ ॥ पांसों से कभी न खेले, न आप अपना जूता (हाथों से) ले चले, बिस्तरे पर लेटेहुए भोजन न करे, न हाथपर रखकर § न आसनपर ¶ ॥७४॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
नच नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥७५

* छपे पुस्तकोंमें जो 'विगर्ह्य' पाठ है, उसके स्थान 'विगृह्य' चाहिए, विगृह्य ही सार्थक बन सक्ता है, और जो अर्थ टीकाकारों ने लिया है, वह भी 'विगृह्य' का बनता है, न कि 'विगर्ह्य' का † गौत० ९ । ३२ आप० १ । ३२ । १८ बौधा० २ । ६१ । ‡ गौत० ८ । ३२ आप० १ । ३१ । २३ बौधा० २ । ६ । १३ याज्ञ० १ । १४० § बांए हाथ में भोजन वा भोजनका पात्र रखकर न खाए ¶ वासि० १२ । ३६ ॥ गौत० ९ । ३२ बौधा० २ । ६ । ६ याज्ञ० १ । १३८ विष्णु ६८ । २३; ७१ । ४५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥
अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥
अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
नकार्पासास्थिनतुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

सूर्य अस्त हुए पीछे तिलोंवाली कोई (वस्तु) न खाए, कभी नंगा न सोवे, न जूठे मुंह (भोजन के पीछे कुल्ला किए विना) कहीं जाए * ॥७५॥ पांओं धोकर भोजन करे, पर गीले पाओं न सोवे, पाओं धोकर भोजन करता हुआ दीर्घ आयु को प्राप्त होता है † ॥ ७६ ॥ जहां दृष्टि काम नहीं करती, ऐसे दुर्गम स्थान में कभी प्रवेश न करे, न मल मूत्र को देखे, न भुजाओं से नदी को पार करे ‡ ॥७७॥ यदि दीर्घ आयु जीना चाहता है, तो न बालों पर पांओं रक्खे, न भस्म हड्डी और ठीकरियों पर, न बिनौलों पर, न तुषों पर § ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुक्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥७९॥
नशूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।

---

* गौत० ९ । ६० विष्णु० ६८ । २९ ; ७१ । ३ (देखो पूर्व २ । ५६ † विष्णु ६८ । ३४; ७० । १ ‡ वासि० १२ । ४५ गौत० ९ । ३२ ; आप० १ । ३२ । ३६ बौधा० २ । ६ । २६ विष्णु० ६३ । ४६ § गौत० ९ । १५ आप० २ । २० । ११ बौधा० २ । ६ । १६ याज्ञ० १ । १३९ ॥

नचास्योपादिशेद्धर्मंनचास्यव्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥
यो ह्यस्यधर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतंनाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥

पतितों के साथ न रहे, न चण्डालों के, न पुक्कसों के, न मूर्खों के, न गर्ववालों के, न नीच जातियों (धोबी आदि) के, न अन्त्यावसायिओं के, * ॥ ७९ ॥ न शूद्र को मति देवे, न जूठ, न हविशेष, न इसे धर्म का उपदेश करे, न इसे व्रत (प्रायश्चित्त) बतलाए † ॥ ८० ॥ क्योंकि जो इसे धर्म बतलाता है वा इसे व्रत (प्रायश्चित्त) बतलाता है वह उसके (शूद्र के) साथ ही असंवृत नाम नरक में डूबता है ‡ ॥ ८१ ॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
नस्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः॥ ८२ ॥
केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गं किञ्चिदपिस्पृशेत् ॥८३॥

इकट्ठे दोनों हाथों से अपना सिर न खुजावे, और जूठे हाथों इसे छुए नहीं, और न इसके बिना स्नान करे ** ॥८२॥ (क्रोध में अपने वा दूसरे के) बालों को पकड़ना, वा सिर पर प्रहार करना त्याग देवे, जब (डुबकी लगाकर) सिर से स्नान कर

---

* पुक्कस = निषाद से शूद्रा में से उत्पन्न हुआ (देखो १० । १८ अन्त्यावसायी = चण्डालसे निषाद की कन्या मे उत्पन्न हुआ (देखो १० । ३९) † वासि० १८ । १४ आप० १ । ३१ । २४ विष्णु० ७१।४८ –५२ ‡ वासि० १८ । १५ ॥ ** विष्णु० ७१ । ५३

चुका है, तो तेल से किसी अङ्ग का स्पर्श न करे *॥ ८३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैवचजीवताम् ॥ ८४ ॥
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥
दशसूना सहस्राणि यो वाहयतिसौनिकः ।
तेन तुल्यःस्मृतो राजा घोरस्तस्यप्रतिग्रहः ॥८६॥
यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशातिम् ॥ ८७ ॥

क्षत्रिय जाति से न उत्पन्न हुए राजा से दान न लेवे, न कसाई, तेली, और शराब बेचनें वालों से, न चकले से जीविका करने वालों से†॥८४॥ दस सूना (कसाई घर) के बराबर (दोषवाला) कोल्हू होता है । दस कोल्हुओं के बराबर शराबघर होता है, दस शराबघरों के बराबर एक चकला होता है, दस चकलों के बराबर राजा होता है ‡ ॥ ८८ ॥ जो कसाई दस हजार कसाई घर चलाता है, उसके तुल्य राजा माना गया है, उसका दान बड़ा भयानक (पाप) है ॥ ८६ ॥ जो शास्त्र को उलांघ कर

---

* गोता लगाने के पीछे तेल न लगाए, कुल्लू० राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, कि सिर पर तेल लगाकर फिर किसी अङ्ग का स्पर्श न करे, विष्णु० ६४ । १२ ॥† याज्ञ० १ । १४० ‡ याज्ञ० १ । १४१

बर्तने वाले लोभी * राजा से दान लेता है, वह क्रम से इन २१ नरकों को प्राप्त होता है ॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥
संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥८९॥
लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
आसिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥
एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्यश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥९१॥

तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र नरक, और महानरक, ॥ ८८ ॥ संजीवन, महावीचि, तपन, संप्रतापन, संहात, सकाकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्त्तिक ॥ ८९ ॥ लोहशंकु, ऋजीष, पन्था, शाल्मली, नदी, असिपत्रवन और लोहदारक ॥ ९० ॥ ऐसा जाननेवाले, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मण, जो मरने के पीछे अपना भला चाहते हैं, वह राजा से दान नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

---

* अनार्य राजा शास्त्र मर्यादा में न चलकर लोभ से प्रजा को तंग रखते थे, इसलिए उन से दान का निषेध किया है ॥

† ८८-९० विष्णु० ४३ । २-२२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

ब्राह्म मुहूर्त्त * में जागे, (उस दिन के अनुष्ठान के लिए) धर्म और अर्थ (=लौकिक कमाई) का विचार करे † उन (धर्म अर्थ से होनेवाले शरीर के क्लेशों को ‡ और वेद के तत्व अर्थ को भी विचारे§ ॥ ९२ ॥ उठकर आवश्यक (मल मूत्र का त्याग) करे, फिर शौच करके एकाग्र हो पहली सन्ध्या में (गायत्री) जपता हुआ ठहरे, और अपने समय पर दूसरी सन्ध्या में भी (गायत्री का जप करे) ¶ ॥ ९३ ॥ ऋषि लोग लम्बी सन्ध्या करने से दीर्घ आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्त्ति, और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त हुए हैं ‖ ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्ध पञ्चमान्॥९५॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।

---

* ब्राह्ममुहूर्त=उषाकाल=प्रभात† ऐसी रीति पर कि धर्म और कमाई का परस्पर विरोध न आए‡शरीर के क्लेशों को पहले विचार लेने के दो फल हैं, एक तो उन क्लेशोंके आने से घबराएगा नहीं, दूसरा यदि क्लेश अधिक हों, और फल उसके तुल्य न हो, तो उसे छोड़दे, § क्योंकि उस समय बुद्धि प्रकाशती है वासि० १२ । ४७ विष्णु० ६०।१ ¶ विष्णु० ७१ । ७७ ‖ छपे पुस्तकों में 'अवाप्नुयुः' पाठ है॥ पर गो० और नन्द के अनुसार 'अवाप्नुवन्' है । अर्थ इसी पाठ में ठीक बैठता है, इसलिये ऐसा पाठ कर दिया है ॥

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

सावन की पूर्णिमा वा भादों की पूर्णिमा को (गृह्यसूत्र में) कही विधि के अनुसार ब्राह्मण उपाकर्म (वेदों का आरम्भसंस्कार) करके सावधान हो साढ़े चार महीने वेदों को पढ़े * ॥ ९५ ॥ (साढ़े चार महीने के पीछे) (पौषमास के) पुष्य नक्षत्र में अथवा जब माघ शुक्ल का पहला दिन आए, तब सवेर के समय ब्राह्मण वेदों का उत्सर्जन (कर्म) करे ॥ ९६ ॥ शास्त्र के अनुसार (ग्राम) के बाहर वेदों का उत्सर्ग करके,उस दिन रात को और अगले दिन पढ़ना बन्द रक्खे, अथवा वही एक दिन रात बन्द रक्खे †॥ ९७॥ इसके पीछे शुक्ल पक्षों में नियम से वेद पढ़े, और वेदांग सारे कृष्णपक्षों में पढ़े ॥ ९८ ॥

---

* ९५-९७ वासि० १३ । १-५७ गौत० १६—२४० आप० १ । ९ । १-३ ; १०-२ बौधा० १ । १२-१६ याज्ञ० १ । १४२-१४४ विष्णु० ३० । १-२, २४-२५ उपाकर्म वा उपाकरण वेदों के आरम्भ का संस्कार है जिसे श्रावणी वा सलोनो भी कहते है । वही दिन राखी बांधने का है, (राखी बांधना पुराणोंमें लिखा है, गृह्यसूत्रों में नहीं) उपाकर्म के साढ़े चारमहीने पीछे उत्सर्जन वा उत्सर्गकर्म होता है देखो शाङ्ख० गृह्य० ४ । ५-६ † देखो आगे ११९ ‡ ९८-१२९ वा० १३ । ४-४० ; १८ । १३ गौ० १ । ५८-६० ; १६ । ५-४९ आप० १ । ९-४-११, ३८ ; ३२ । १२—१५ ॥

नाविस्पष्ठमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।
ननिशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्॥९९॥
यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥१००॥
इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥१०१॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौवर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

(वेद को) अ-वि स्पष्ट न पढ़े, न शूद्रोंकी समीपता में, न पिछली रात (उठकर) वेद पढ़ता हुआ थककर सोवे ॥९९॥ पूर्वोक्त विधि के अनुसार नित्य (गायत्री आदि) छन्दोबद्ध (मन्त्रों) को पढ़े, विना आपत्ति काल में द्विज सावधान हो ब्राह्मण को और छन्दोबद्ध (मन्त्रों) को (नियम से) पढ़ा करे॥१००॥(वेद को) पढ़ता हुआ वा शिष्यों को विधि पूर्वक पढ़ाता हुआ इन अनध्यायों में (पढ़ना, पढ़ाना छोड़ देवे) ॥ १०१ ॥ पढ़ने (के नियमों) को जानने वाले पुरुष वर्षाकाल में यह दो अनध्याय बतलाते हैं, रात को जब वायु (का शब्द) कानों से सुनाई दे, और दिन को जब धूल उड़ती हो ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानांच संप्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत ॥ १०३ ॥
एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥
प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

मनु ने बतलाया है, कि जब बिजली, गर्ज, और वर्षा (इकट्ठी) हों, और जब बहुत सी उल्का इकट्ठी गिरें (तारे टूटें), तो आकालिक (दूसरे दिन उसी समय तक) अनध्याय होता है ॥ १०३ ॥ (पर वर्षा ऋतु में) तब अनध्याय जाने, जब यह (तीनों) इकट्ठे उस समय प्रकट हों, जब कि (होम करने के लिए) अग्नियें प्रकट कीगई हैं, और (वर्षा) ऋतु के बिना तो (होम करने के समय) निरा मेघ देखने में भी (अनध्याय) होता है ॥१०४॥ अन्तरिक्ष से उत्पात ध्वनि में *भूचाल में, दिव्य ज्योतियों (सूर्य, चन्द्र, तारों) के गिर्द चमकीले घेरे में अनध्याय आकालिक जाने, चाहे यह (वर्षा) ऋतु में भी हों ॥१०५॥ (होम के लिए) अग्नियों के प्रकट किये जाने पर जब बिजली और गर्जन की ध्वनि इकट्ठी हो, (वर्षा साथ न हो), तो जब तक प्रकाश है, तब तक अनध्याय होता है और शेष (अर्थात् वर्षा) रात को हो, तो दिन की तरह अनध्याय होता है ॥१०६॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

* अन्तरिक्ष से विना मेघ के गड़गड़ाट सुनाई देना ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टःश्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥

पूरी मर्यादा चाहनेवालों के लिए ग्राम वा नगर के अन्दर और दुर्गन्धिवाले स्थान में सदा अनध्याय होता है ॥१०७॥ जब गाओं के अन्दर मुर्दा हो तब, अधर्मी के पास, रोते हुए के पास, और मनुष्यों की भीड में (वेद का) अनध्याय होता है ॥१०८॥ जल के मध्य में, रात के मध्य भाग में, मल मूत्र के त्याग के समय, जूठा हुआ, और श्राद्ध खाया हुआ मन से भी (वेद का) चिन्तन न करे ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्चसूतके ॥ ११० ॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्मनकीर्त्तयेत् ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेवच ॥ ११२ ॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोदिष्ट का निमन्त्रण मानकर तीन दिन वेद न उचारे, तथा राजा वा राहु के सूतक में * ॥ ११० ॥ जब तक एकोदिष्ट का गन्ध और लेप विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहता है, तब तक वेद न उचारे ॥ १११ ॥ (शय्या पर) लेटा हुआ, पाओं (बेंच पर) ऊंचे किए हुए, गोड़े कपड़े से बांधकर बैठा हुआ, मांस वा सूतक का अन्न खाकर (वेद) न पढ़े ॥ ११२ ॥

* राजा का सूतक जन्म मरण में, राहु का सूतक सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण में ॥

तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥१०५॥
प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिः स्वने ।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा॥१०६॥

मनु ने बतलाया है, कि जब बिजली, गर्ज, और वर्षा (इकट्ठी) हों, और जब बहुत सी उल्का इकट्ठी गिरें (तारे टूटें), तो आकालिक (दूसरे दिन उसी समय तक) अनध्याय होता है ॥ १०३ ॥ (पर वर्षा ऋतु में) तब अनध्याय जाने, जब यह (तीनों) इकट्ठे उस समय प्रकट हों, जब कि (होम करने के लिए) अग्नियें प्रकट कीगई हैं, और (वर्षा) ऋतु के बिना तो (होम करने के समय) निरा मेघ देखने में भी (अनध्याय) होता है ॥१०४॥ अन्तरिक्ष से उत्पात ध्वनि में *भूचाल में, दिव्य ज्योतियों (सूर्य, चन्द्र, तारों) के गिर्द चमकीले घेरे में अनध्याय आकालिक जाने, चाहे यह (वर्षा) ऋतु में भी हों ॥१०५॥ (होम के लिए) अग्नियों के प्रकट किये जाने पर जब बिजली और गर्जन की ध्वनि इकट्ठी हो, (वर्षा साथ न हो), तो जब तक प्रकाश है, तब तक अनध्याय होता है और शेष (अर्थात् वर्षा) रात को हो, तो दिन की तरह अनध्याय होता है ॥१०६॥

नित्यानध्याय एव स्याद् ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

* अन्तरिक्ष से विना मेघ के गड़गड़ाट सुनाई देना ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टःश्राद्धभुक्चैव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१०९॥

पूरी मर्यादा चाहनेवालों के लिए ग्राम वा नगर के अन्दर और दुर्गन्धिवाले स्थान में सदा अनध्याय होता है ॥१०७॥ जब गाओं के अन्दर मुर्दा हो तब, अधर्मी के पास, रोते हुए के पास, और मनुष्यों की भीड में (वेद का) अनध्याय होता है ॥१०८॥ जल के मध्य में, रात के मध्य भाग में, मल मूत्र के त्याग के समय, जूठा हुआ, और श्राद्ध खाया हुआ मन से भी (वेद का) चिन्तन न करे ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्चसूतके ॥ ११० ॥
यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्मनकीर्त्तयेत् ॥ १११ ॥
शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेवच ॥ ११२ ॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोदिष्ट का निमन्त्रण मानकर तीन दिन वेद न उचारे, तथा राजा वा राहु के सूतक में * ॥ ११० ॥ जब तक एकोद्दिष्ट का गन्ध और लेप विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहता है, तब तक वेद न उचारे ॥ १११ ॥ (शय्या पर) लेटा हुआ, पाओं (बैंच पर) ऊंचे किए हुए, गोड़े कपड़े से बांधकर बैठा हुआ, मांस वा सूतक का अन्न खाकर (वेद) न पढ़े ॥ ११२ ॥

* राजा का सूतक जन्म मरण में, राहु का सूतक सूर्य ग्रहण वा चन्द्र ग्रहण में ॥

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥११३॥
अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥११४॥
पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥११५॥

कुहर में, बाणों के शब्द में, दोनों सन्ध्याओं में, अमावस्या, चतुर्दशी, पौर्णमासी और अष्टमी में, (न पढ़े) ॥११३॥ अमावस्या गुरु को नष्ट करती है, चतुर्दशी शिष्य को, अष्टमी और पौर्णमासी वेद को, इसलिए इनको छोड़ देवे ॥११४॥ धूल बरसने में आकाश के चारों ओर असाधारण लाली पड़ जाने में, गीदड़ों के शोर में, कुत्ते, गधे, और ऊंट के बोलते हुए, और पंक्ति में * (बैठा हुआ) न पढ़े ॥ ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥११६॥
प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥११७
चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥११८॥
उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।

---

* कुत्ते आदि की पंक्ति में (कुल्लू०) पंक्ति के अयोग्यों की पंक्ति में (कई) ॥

अष्टकासु त्वहोरात्र मृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥११९॥

श्मशान के निकट, ग्राम के निकट वा गोशाला में, (न पढ़े) मैथुन का वस्त्र पहनकर और श्राद्ध की वस्तु स्वीकार करके (न पढ़े) ॥ ११६ ॥ प्राणि चाहे अप्राणि जो कुछ भी श्राद्ध की वस्तु है, उसे स्वीकारकर अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण का हाथ मुख ही है * ॥११७॥ गाओं में डाकुओं के हमले के समय, आग (लगने) से उत्पन्न की हुई घबराहट में, और सब आश्चर्य बातों में दूसरे दिन उस समय तक अनध्याय होता है ॥ ११८ ॥ (वेदों के) उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन दिन † अनध्याय कहा है, अष्टकाओं‡ में और ऋतुओं के अन्त के दिनों में दिनरात (अनध्याय होता है) ॥

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः॥१२०॥
न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे ।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके॥१२१॥
अतिथिं चाऽननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

---

* पूर्व श्राद्धान्न के भोजन में अनध्याय कहा है, यहां श्राद्धका कोई भी दान लेने में वैसा ही मानना कहा है, क्योंकि ब्राह्मण के हाथ को ब्राह्मण का मुख कहते हैं, जो दान उसके हाथ में दिया है, वह भी उसके मुंह में डालने के तुल्य है, † पूर्व ९० में एक रात दो दिन कहा है, यहां तीन दिन अधिक धर्म चाहने वालों के लिए है । ‡ आग्रहायणी के पीछे कृष्णपक्ष की अष्टमियों में तीन वा चार अष्टका श्राद्ध होते हैं ॥

घोड़े पर चढ़ा हुआ न पढ़े, न वृक्ष पर, न हाथी पर, न नौका में, न गधे पर, न ऊंट पर, न कालरी भूमि में स्थित होकर न गाड़ी से यात्रा करता हुआ ॥ १२० ॥ न झगड़े में, न लड़ाई में, न सेना में, न युद्ध में, न जब कि अभी खाकर उठा है, न अनपच में, न कै करके, न खट्टे डकार आने में (पढ़े)॥१२१॥ अतिथि से, (यदि घर में ठहरा हुआ हो तो) अनुज्ञा लिए बिना, वायु के जोर से बहते हुए, शरीर से लहू के बहते हुए, वा शस्त्र से चोट आने पर (न पढ़े) ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥१२३॥
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तुमानुषः ।
सामवेदःस्मृतःपित्र्यस्तस्मात्तस्याऽशुचिर्ध्वनिः ॥१२४
एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥
पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

साम की ध्वनि होते हुए ऋग्वेद और यजुर्वेद को कभी न पढ़े वेद को समाप्त कर वा आरण्यक को पढ़कर भी (और वेद न पढ़े, ॥ १२३ ॥ ऋग्वेद देवताओं के सम्बन्ध में है, यजुर्वेद मनुष्यों के, सामवेद पितरों के,इसलिए उस(साम)की ध्वनि (मानो)अपवित्र है,*

* सामवेद गान में ऋचा यजु का पाठ बन्द रहना तो ठीक है, पर साम की ध्वनि को अपवित्र कहना ठीक नहीं है । मेधा० अपवित्र तुल्य कहकर यह अभिप्राय लेता है, कि जैसे अपवित्र वस्तु वा पुरुष के सामने वेद नहीं पढ़ाजाता, वैसे साम की ध्वनि में और वेद न पढ़े (देखो पूर्व २ । ७६-७७) ॥

॥ १२४ ॥ ऐसा जाननेवाले विद्वान् प्रतिदिन वेद के सार (ओम्, व्याहृति और गायत्री) को क्रम से पहले पढ़कर पीछे वेद को पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ पशु, मेंडक, बिल्ला, कुत्ता, सर्प, नेउला, चूहा यह (पढ़ते समय गुरु शिष्य के) बीच में से निकल जावें, तो एक दिन रात अनध्याय जाने ॥ १२६ ॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः॥१२७
अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारीभवेन्नित्यमप्यृतौस्नातकोद्विजः ॥ १२८ ॥
नस्नानमाचरेद्भुक्त्वानातुरो न महानिशि ।
नवासोभिः सहाजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये॥१२९॥
देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्यच ॥ १३० ॥
मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

दो ही अनध्याय सदा प्रयत्न से त्यागे, एक तो स्वाध्याय का स्थान अशुद्ध हो तब, दूसरा स्वयं अपवित्र हो तब, (किन्तु शुद्ध होकर शुद्ध स्थान में ही वेद पढ़े) (अनध्याय प्रकरण समाप्त हुआ) ॥ १२७ ॥ स्नातक द्विज अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी, चतुर्दशी के दिन ऋतुकाल में भी सदा ब्रह्मचारी रहे ॥ १२८ ॥ भोजन

करके स्नान न करे *, न रोगी, न आधीरात के समय, न सारे वस्त्रों के साथ देर तक, न पूरी तरह न जाने हुए जलाशय में † ॥ १२९ ॥ देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, कापिल ‡ और दीक्षित की छाया जान बूझकर न उलांघे ॥ १३० ॥ §मध्य दिन वा मध्य रात्रिके समय, और श्राद्ध में मांस खाकर और दोनों सन्ध्याओं में, चौरस्ते पर देर तक न ठहरे ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेवच ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥१३२
वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥१३३॥
न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥
क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥१३५॥
एतत्त्रयंहि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥१३६॥

(शरीर पर) मला उबटन, स्नान (में बर्ता गया) जल, मल,

---

* नित्य स्नान तो भोजन से पहले ही होता है। किन्तु चण्डालादि के स्पर्श में † जिसकी गहराई वा बीच में मगरादि के होने न होने का पता नहीं। आप० १। ३२। ८ बौधा० २। ६। २५ विष्णु० ६४। ३-४,६ ‡ कापिल स्पष्टार्थ नहीं, कापिलागौ सम्भव है। § याज्ञ० १।१५२; विष्णु० ६३। ४० ॥

मूत्र, लहू, थूक, कै कीहुई वस्तु इन पर जान बूझकर पाओं न रक्खे, * ॥ १३२ ॥ वैरी, वैरी के साथी, अधर्मी, चोर, और पर स्त्री का सेवन न करे ॥ १३३ ॥ क्योंकि इस लोक में आयु को घटानेवाला और कोई ऐसा कर्म नहीं है, जैसा कि पुरुष को परस्त्री का सेवन है ॥ १३४ ॥ अपनी वृद्धि चाहनेवाला पुरुष क्षत्रिय, सर्प, और बड़े विद्वान् ब्राह्मण का कभी अपमान न करे चाहे ये दुर्बल भी हों ॥ १३५ ॥ क्योंकि यह तीनों अपमान किये हुए (अपमान करनेवाले) पुरुष को भस्म कर देते हैं इसलिए बुद्धिमान् इन तीनों का कभी अपमान न करे ॥१३६॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योःश्रियमन्विच्छेन्नैनांमन्येतदुर्लभाम्॥१३७॥
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनाचित्सह ॥ १३९ ॥
नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते ।
नाऽज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥१४०॥

पहली असफलताओं से अपना अपमान न करे‡ मृत्युतक लक्ष्मी को ढूंढे इसे दुर्लभ न समझे §॥१३७॥ सच बोले प्रिय बोले

---

* याज्ञ० १ । १५२ विष्णु ६३ । ४१ † १३५—१३६ याज्ञ० १ । १५३ ।

‡ धन के उद्यम करने पर सफलता न हो, तो अपने आप को मन्द भाग्य न मान बैठे, § याज्ञ० १ । १५३ विष्णु० ७१ । ७६

अप्रिय सच न बोले, और प्रिय झूठ न बोले, यह सनातन धर्म है *॥१३८॥ शुभ को शुभ कहे, वा शुभ ही कहे † सूखा वैर और झगड़ा किसी के साथ न करे § ॥ १३९ ॥ न बड़ी प्रभात, न बड़ी सांझ को, न ठीक दोपहर के समय, न अज्ञात (नावाकिफ़) के साथ, न अकेला, न अधर्मियों के साथ यात्रा करे ¶ ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्चजातिहीनांश्चनाक्षिपेत् ॥१४१॥
नस्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टोविप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
नचापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि॥१४२
स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेनतु ॥१४३॥
अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥१४४॥

हीन अङ्गवाले; अधिक अङ्गवाले; विद्या से हीन; अवस्था में बड़े, रूप से हीन, धन से हीन वा जाति से हीनोंको न अनादरे** ॥ १४१ ॥ अपवित्र हुआ † ब्राह्मण गौ ब्राह्मण और अग्नि को

---

*गौत० ९। ६८ याज्ञ० १। १३२ विष्णु० ७१। ७३—७४ † चाहे अशुभ भी हो, तौ भी शुभ शब्दोंमें ही कहे, जैसे मरे को स्वर्गवास हुआ ‡ गौत०९।१९-२० आप० १।३२।११-१४ याज्ञ० १।१३२ विष्णु०७१। ५७; § बौधा० २। ६।२२—२३ विष्णु० ६३। ४,६-७, ९ ॥

** काने को काना, और धन हीन को कंगला इत्यादि न कहे, विष्णु० ७१।२ †† भोजन करके कुल्ला आचमन किए बिना और मल मूत्र का त्याग करके शौच आचमन किये बिना

(हाथ से) न छुए; और न ही अपवित्र हुआ आकाश में ज्योतिर्गण (सूर्य चन्द्र ग्रहों) को देखे; जबकि पूरा स्वस्थहै * ॥१४२॥ यदि वह अपवित्र हुआ इनको छूले तो हाथ से सारे इन्द्रियों (नेत्र आदि) पर, सारे अङ्गों (कन्धे, गोड़े, पाओं) पर, और नाभि पर जल छिड़के † ॥१४३॥ रोगी न हो, तो अपने इन्द्रियों को बिना निमित्त न छुए, और गुप्त स्थानों के रोमों को छोड़ देवे, (स्पर्श न करे) ॥ १४४ ॥

मंगलाचारयुक्तःस्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमाग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥
मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥ १४६॥

मङ्गलमय आचरण से युक्त ‡ शुद्ध अन्तःकरण वाला हो, इन्द्रियों को बस में रक्खे, आलस्य रहित होकर नित्यप्रति स्वाध्याय करे और अग्नि में होम करे ॥ १४५ ॥ जो मङ्गलमय आचरण से युक्त हैं, और सदा शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, स्वाध्याय करनेवाले और होम करनेवाले हैं, उनकी कभी गिरावट नहीं होती है † ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

---

* याज्ञ० १ । १५५ † यह प्रायश्चित्त है । विष्णु० ७१ । ७९ ॥
‡ गोरोचन आदि का धारण करना मंगल है, और गुरु सेवा आदि आचार है, इन दोनों से युक्त हो (कुल्लू०) § वासि० २६।१४

(हाथ से) न छुए; और न ही अपवित्र हुआ आकाश में ज्योतिर्गण (सूर्य चन्द्र ग्रहों) को देखे; जबकि पूरा स्वस्थ है * ॥१४२॥ यदि वह अपवित्र हुआ इनको छूले तो हाथ से सारे इन्द्रियों (नेत्र आदि) पर, सारे अङ्गों (कन्धे, गोड़े, पाओं) पर, और नाभि पर जल छिड़के † ॥१४३॥ रोगी न हो, तो अपने इन्द्रियों को बिना निमित्त न छुए, और गुप्त स्थानों के रोमों को छोड़ देवे, (स्पर्श न करे) ॥ १४४ ॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥
मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

मङ्गलमय आचरण से युक्त ※ शुद्ध अन्तःकरण वाला हो, इन्द्रियों को बस में रक्खे, आलस्य रहित होकर नित्यप्रति स्वाध्याय करे और अग्नि में होम करे ॥ १४५ ॥ जो मङ्गलमय आचरण से युक्त हैं, और सदा शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, स्वाध्याय करनेवाले और होम करनेवाले हैं, उनकी कभी गिरावट नहीं होती है † ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

---

* याज्ञ० १ । १५५ † यह प्रायश्चित्त है । विष्णु० ७१ । ७९ ॥

※ गोरोचन आदि का धारण करना मंगल है, और गुरु सेवा आदि आचार है, इन दोनों से युक्त हो (कुल्लू०) § वासि० २६।१४

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८
पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥
सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः।
पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥१५०॥

आलस्य रहित होकर नित्य प्रति ठीक समय पर वेद का अभ्यास अवश्य करे, क्योंकि यह उस का सब से ऊंचा धर्म कहते हैं, और उपधर्म कहलाता है*। १४७। नित्य प्रति वेद के अभ्यास से, तप से, और जीवों के साथ अद्रोह से पूर्व जन्मको स्मरण करता है। १४८। पूर्वजन्म को स्मरण करता हुआ फिर वेदका ही अभ्यास करता है, और वेद के लगातार अभ्यास से अनन्त सुखका लाभ करता है। १४९। पर्व (- पौर्णमासी और अमावस्या) दिनों में सदा सावित्र होम † और (अनिष्ट निवृत्ति के लिये) शान्ति होम करे; और अष्टकाओं और अन्वष्टकाओं ‡ में सदा पितरों को पूजे § ॥१५०॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥१५१॥
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावन मञ्जनम्।

---

*गौत० ९।७२ † सावित्र होम जिनका सविता देवता है, उन मन्त्रों से होम; नंद० 'सावित्र्या' पाठ पढ़ कर 'सावित्री से शांति होम करे' अर्थ लेता है ‡ आग्रहायणी के पीछे कृष्णपक्षों की तीन अष्टमियें अष्टका और उनके साथ की तीनों नवमियें अन्वष्टका कहलाती हैं § विष्णु ७१।८६

पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥
दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥
अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात॥१५४॥

घर* से दूर मूत्र करे, दूर पाओं की धोन फैंके, अन्न की जूठ, और न्हाने का पानी † दूर फैंके ‡ ।१५१। मलका त्याग § शरीर की सजावट; स्नान, दन्तधावन, अञ्जन और देवताओं का पूजन (होम) यह सवेर को ही करे। १५२। पर्व के दिनों में दैवत, धर्मात्मा ब्राह्मण, और रक्षा के लिये हाकिम और अपने बड़ों के पास जावे ¶ ।१५३। (घर में आए) वृद्धों (वयोवृद्ध; विद्या वृद्ध; तपो वृद्धों) को नमस्कार करे, और अपना आसन देवे; हाथ जोड़ कर उनके पास खड़ा हो, और जब वह जाएं; तो पीछे चले ‖ १५४।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥
आचाराल्लभतेह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥

---

* घर=अग्नि घर, (कुल्लू०) † वीर्यदान (कुल्लू०) गोवि० और नारा० निषेक का अर्थ त्याग लेते हैं ‡ गौत ८। ३८ याज्ञ १।१५३ आप १।३१।२-३ § मेधा० कहता है मैत्रका अर्थ कई 'मित्रता से सेवा' वा 'मित्रकी पूजा' भी लेतें हैं ¶ आप १।३१।२१—२२। मेधा० की टीका में १५३-१५८ श्लोक नहीं हैं ‖ बौधा० २।६।३५

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥१५८॥

वह सदाचार, जो अपने कर्मों (धन्धों) के साथ सम्बन्ध रखता है; जो कि श्रुति और स्मृति में ठीक ठीक बतलाया गया है; वह धर्म का मूल है; उसका अनथक हो कर सेवन करे* ।१५५। आचार से दीर्घ आयु को पाता है; आचार से भली सन्तान को आचार से अनखुट्ट धन (को पाता है) आचार कुलक्षण (के असर) को नष्ट कर देता है† ॥ १५६ ॥ दुराचारी पुरुष लोक में निन्दित; सदा दुःख भागी, रोगी और थोड़ी आयु वाला होता है‡ । १५७। जो पुरुष सदाचारी है; श्रद्धा से भरा हुआ है; असूया रहित है; वह सौ वर्ष जीता है; चाहे सारे ही शुभ लक्षणों से शून्य भी हो । १५८ ।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥
यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

* वासि ७१ । ९० याज्ञ १ । १५४ † वासि ६ । ७ विष्णु ७१ । ९१ ‡ वासि ६ । ६ § वासि ६ । ८ विष्णु ७१ । ९२

जो २ कर्म पराधीन है; उस २ को प्रयत्न से छोड़े; और जो२ अपने अधीन है उस२ को यत्न से सेवन करे॥१५९॥क्योंकि पराधीन सब (हरएक काम) दुःख है,और अपने अधीन सब सुख है, यह संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जाने ॥ १६० ॥ जिस कर्म के करने से इसके अन्तरात्मा को सन्तोष हो उसे प्रयत्न से करे, और उलटे (असन्तोष जनक) को छोड़ देवे * ॥१६१

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
नहिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्चसर्वांश्चैवतपस्विनः॥ १६२
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं स्तम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥१६३॥
परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।
अन्यत्रपुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थंताडयेत्तुतौ॥१६४॥

उपनयन करनेवाले, वेद का अर्थ बतलाने वाले, पिता माता वा किसी और गुरु(बड़े)को,तथा गौ,ब्राह्मण,और जो तपस्या करनेवाले हैं, उनको क्लेश न दे † ॥ १६२ ॥ नास्तिकता, वेद की निन्दा, देवताओं की निन्दा,द्वेष, नम्रता का अभाव,‡ अभि-

* यह नियम वहां के लिए है, जहां शास्त्र का साक्षात् विधि निषेध नहीं, वा वैकल्पिक विषय है (देखो पूर्व २ । १२)॥

† याज्ञ० १ । १५७-१५८ 'न हिंस्यात्' क्लेश न दे=प्रतिकूल न चले (मेधा०, कुल्लू०,नारा०, नन्द) चाहे आततायी (मारनेवाले देखो ८ । ३५०) बनकर भी आएं, तो भी इनको न मारे (गोवि०)

‡ छपे पुस्तकों में 'दम्भं' पाठ है । अर्थ,दम्भं =धोखा । पर जो अर्थ टीकाकारों ने लिये हैं, वह 'स्तम्भं' पाठ के बन सक्ते हैं, न कि 'दम्भं' के, इसीलिए 'स्तम्भं' पाठ रक्खा है । स्तम्भ =नम्रता का अभाव (मेधा०, गोवि०, नारा०) धर्म में उत्साहका अभाव (कुल्लू०)

मान, क्रोध और तन्द्री का त्याग* ॥१६३॥ क्रोध में आकर दूसरे के लिए डण्डा न उठाए, न उस पर फैंके, किन्तु शिष्य और पुत्र के सिवाय, इन दोनों को शासन के लिए (नियम के अन्दर†) ताडना कर सकता है ‡ ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥१६५॥
ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥१६६॥
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याऽप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥
शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥१६८॥
न कदाचिद् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥१६९॥

मारने की इच्छा से ब्राह्मण को निरा धमकाकर भी (डंडा वा मुक्का उठाकर ही) द्विज सौ बरस तामिस्र नरक में घूमता है § ॥ १६५ ॥ और क्रोध में जान बूझकर तिनके से भी ताडना करे तो इक्कीस जन्म पापयोनियों में उत्पन्न होता है॥१६६॥और वह पुरुष जो आगे से न लड़ते हुए ब्राह्मण के शरीर से रुधिर

* वासिष्ठ० ८ । ४९ आप० १ । ३० । २५ विष्णु० ७१ । ८३ † नियम के लिए देखो आगे ८ । २९९-३०० ‡ ७१ । ८१ । ८२ ॥

§ १६५—१६७ गौत० २१ । २०-२२ याज्ञ० १ । १५५ ॥

उत्पन्न करता है वह अपनी इस मूर्खता से परलोक में बहुत बड़े दुःख को प्राप्त होता है ॥ १६७ ॥ (भूमि पर गिरा ब्राह्मण का) लहू जितने धूल के कणों को पृथिवीतल से लपेटता है, लहू उत्पन्न करनेवाला उतने बरस पर लोक में दूसरों (पशुओं) से खाया जाता है ॥ १६८ ॥ इसलिये बुद्धिमान् कभी ब्राह्मण को धमकाए भी नहीं, तिनकेसे भी न ताड़े, न शरीरसे लहू बहाए ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहाऽसौ सुखमेधते ॥१७०॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणांपापानामाशुपश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु ।
नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥

जो पुरुष अधर्म पर चलने वाला है, और जिसकी कमाई पाप की है, और जो सदा हिंसा में रत है, वह यहां सुख से नहीं बढता है ॥ १७० ॥ धर्म से पीडित होकर भी मन को अधर्म में न लगाए, जबकि देखता है, कि अधर्म पर चलनेवाले

पापियों का शीघ्र उलट पलट होजाता है * ॥ १७१ ॥ अधर्म किया हुआ इस लोक में गौ † की तरह जल्दी अपना फल नहीं देता; पर धीरे २ बढ़ता हुआ करनेवालों की जड़ों को काट देता है ॥ १७२ ॥ यदि अपने में नहीं; तो पुत्रों में; यदि पुत्रों में भी नहीं; तो पोतों में (जाकर फलता है ‡) पर किया हुआ अधर्म करनेवाले का कभी निष्फल नहीं होता है ॥ १७३ ॥ अधर्म से पहले बढ़ता है, फिर भद्र (बरकतें) देखता है, फिर शत्रुओं को जीतता है, अन्ततः जड़ समेत नष्ट होता है ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्चशिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥१७५॥
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेवच ॥ १७६ ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥१७७॥

---

* लोक में देखा जाता है, कि पाप की कमाई से बढनेवालों के दिन जल्दी उलटे होजाते हैं । † गौ, गाए का नाम भी है, और पृथिवी का नाम भी है, यहां दोनों अर्थ घट सक्ते हैं, पृथिवी अर्थ में, जैसे पृथिवी में बोया बीज उसी समय नहीं फलता, कालान्तर में जाकर फलता है, इसी तरह अधर्म भी उसी समय नहीं फलताहै, गाए अर्थ में, जैसे गौ दोहने से उसी समय दूध देती है, वैसे अधर्म तत्क्षण नहीं फलता, किन्तु कालान्तर में फलता है । ‡ पाप की कमाई खाली नहीं जाती, ऐसा पुरुष यदि आप न भी बिगड़ा, तो सन्तान वा सन्तान की सन्तान उस की कमाई को उजाड़ेगी, और कलंक भी लाएगी । पापका पैसा एक न एक दिन रंग दिखलाएगा पचेगा नहीं ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥१७८॥

सचाई, धर्म, आर्यों के योग्य आचार और शौच में सदा प्रीतिवाला हो, शिष्यों को धर्म के अनुसार शिक्षा देवे, वाणी, भुजा और उदर(पेट) को संयम*में रक्खे †॥१७५॥ जो अर्थ और काम धर्म के विरोधी हों ‡ उन्हें त्याग दे, और धर्म भी जो भविष्यत् में दुःख का हेतु हो, वा लोक से निन्दित हो § ॥१७६॥ हाथ पाओं और बाणी की चंचलता को त्यागे ‖ कुटिल न हो दूसरे की हानिका काम न करे,बलिक ऐसा विचारभी मन में न लाए ॥१७७॥धर्मात्माओं के उस मार्गसे चले,जिससे इसके पितर चले हैं और जिसमे इसके पितामह चले हैं, उससे चलता हुआ हानि नहीं उठाता है ॥ १७८ ॥

---

* वाणी का संयम—सत्य बोलना,भुजा का संयम—भुजा से किसी को पीड़ा न देना। उदर का संयम-धर्म की कमाई खाना न कि पाप की कमाई कमाकर खाना, और न मुफ्त, तथा पुष्टिके लिये पुष्टिकारक परिमित खाना,न कि स्वाद के लिए निरा स्वादु अपरिमित † गौत० ९।५०, ६८—६९‡ धर्म का विरोधी अर्थ=पाप की कमाई,धर्म का विरोधी काम-गर्भ स्थिति में पत्नी के पास जाना आदि§भविष्यत् में दुःख का हेतु धर्म जैसे पुत्रादि के पालन पोषण का भार सिर पर रहते हुए सर्वस्वदान,लोक निन्दित धर्म,वह लोकमर्यादा जो किसी समय मानी जाती थी, अब हटा दीगई है, गौत० ९।४७, ७३ याज्ञ० १।१५६ विष्णु० ७१।८४-८५ ‖ हाथ की चंचलता हाथ को यों ही कहीं फेरते रहना,वा निष्प्रयोजन किसी वस्तु का उठाना आदि। पाओं की चंचलता, बैठे २ पाओं को हिलाते रहना, वा निष्प्रयोजन फिरना, नेत्रों की चंचलता, परस्त्री को देखना आदि, वाणी की चंचलता-निष्प्रयोजन किसी बात में दखल देना, निष्प्रयोजन झगड़ना आदि ॥

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथि संश्रितैः।
बालवृद्धातुरै वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥१७९॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत ॥ १८० ॥
एतैर्विवादान्सन्त्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही॥ १८१॥

ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि और अपने आश्रितजन, बालक, बूढ़े, रोगी विद्यावाले * ज्ञाति (पितृ पक्ष के लोग चाचा आदि) सम्बन्धि (अपने रिश्तेदा जामाता, साला आदि) और बान्धव (मातृपक्ष के लोग नाना वा ममेरा भाई आदि) †॥ १७९ ॥ माता, पिता, जामी (स्त्रियें रिश्तेदार, बहिन,स्नुषा आदि) भाई,पुत्र,पत्नी, कन्या और दास वर्ग के साथ झगड़ा न करे ॥ १८० ॥ जो इन के साथ झगड़ा छोड़ देता है, वह सब पापों से बचजाता है,और इन(झगडों) के जीतने से गृहस्थ इन सारे लोकों को जीत लेता है ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशोदेवलोकस्यचर्त्विजः॥१८२॥
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यांमातृमातुलौ॥१८३॥
आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुरः ।
भ्राताज्येष्ठःसमःपित्राभार्या पुत्रःस्वका तनुः ॥१८४॥

* अथवा चिकित्सक † १७९–१८४ याज्ञ० १ । १५७–१५८ ॥

छायास्वोदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी * है, पिता प्रजापति के लोक में प्रभु है, अतिथि इन्द्रलोक का स्वामी है, ऋत्विज् देवलोक के (स्वामी हैं) ॥ १८२॥ जामी, (बहिन, स्नुषा, आदि) अप्सराओं के लोक में (प्रभु हैं) बान्धव विश्वेदेवों के लोक के, सम्बन्धी जलों के लोक के और माता और मामा पृथिवी लोक में (प्रभु हैं) ॥ १८३ ॥ बाल, वृद्ध, गरीब (आश्रित); रोगी यह आकाश के स्वामी हैं, बड़ा भाई पिता के तुल्य है, पत्नी और पुत्र अपना शरीर है॥१८४। दासवर्ग छायाहै कन्या कृपापात्र है, इसलिय इनसे झिड़का हुआ सदा बिना सन्तप्त होने के सह लेवे ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजःप्रशाम्यति ॥१८६॥
नद्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञःप्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥
हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्॥१८८॥
हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचंवासोघृतंतेजस्तिलाःप्रजाः ॥१८९॥

दान लेने में, (अपनी विद्या और तप के प्रभाव से) समर्थ

---

* आचार्य्य के साथ विवाद छोड़ने से ब्रह्मलोक को जीतता है, इसीप्रकार आगे भी जानो ॥

भी हो, तो भी उसमें लगाव (बार २ लेने) को त्याग देवे, क्योंकि (बार २) दान लेने से इसका ब्राह्मतेज जल्दी बुझजाता है * ॥ १८६ ॥ वस्तुओं के दान लेने में जो धर्मानुसार विधान है, उसको पूरा जाने बिना बुद्धिमान् कभी दान न लेवे, चाहे भूख से पीड़ित भी हो † ॥ १८७ ॥ यदि कोई बिन जाने सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल, घृत का दान लेलेता है, तो वह लकड़ी की तरह भस्म होजाता है, ‡ ॥ १८८ ॥ सोना और अन्न आयु को, भूमि और गौ शरीर को घोड़ा नेत्र (की दृष्टि) को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को और तिल सन्तान को घटाते हैं ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सहतेनैवमज्जति ॥१९०॥
तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यऽविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति॥१९१॥

जो ब्राह्मण न तपस्वी है, न वेद का अभ्यास करता है, पर दान में रुचिवाला है, वह जल में पत्थर की नौका के समान उस (दाता) के साथ ही डूबता है ॥ १९० ॥ इसलिए अविद्वान् को जिस तिस (= हरएक) प्रतिग्रह से डरना चाहिये, क्योंकि बहुत थोड़े (प्रतिग्रह) से भी अविद्वान् कीचड़ में गौ की तरह फंसता है §

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥
त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यार्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

---

* विष्णु० ६२ । ६-७ † विष्णु, ६२ । ८ ‡ याज्ञ० १ । २०१ ॥
§ याज्ञ० १ । २०२ ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१९४॥

धर्म का जाननेवाला पुरुष ऐसे ब्राह्मण को पानी भी न दे, जो बिल्ले के व्रतवाला है, जो बगले के व्रतवाला है, वा जो वेद नहीं जानता है ॥ १९२ ॥ क्योंकि विधि से कमाया भी धन यदि इन तीनों में दिया गया है, तो वह परलोक में देनेवाले और लेनेवाले दोनों के ही अनर्थ के लिए होता है ॥ १९३ ॥ जैसे पत्थर की नौका से पानी में तैरता हुआ नीचे डूबता है, वैसे मूर्ख देनेवाला और लेनेवाला दोनों नीचे डूबते हैं ॥ १९४ ॥

संगति-प्रतिग्रहीता को अलग उपदेश देकर दाता को अलग उपदेश देते हैं :-

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१९५॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः ॥१९६॥
ये वकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जार लिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥१९७॥

धर्म का झण्डा दिखलानेवाला * सदा लालची, बहाने (बनावट) बनानेवाला; लोगों को धोखा देनेवाला हिंसा (दूसरे की हानि) के स्वभाववाला और सब को बदनाम करनेवाला पुरुष बिल्ले

---

* दिखलावे का धर्म करनेवाला=जो बहुत लोगों के सामने धर्म करे, और आप स्वयं और दूसरों के द्वारा लोगों में उसे फैलाए ।

के व्रतवाला जानना चाहिए*॥१९५॥ (अपनी नम्रता और लज्जा दिखलाने के लिए) नीचे दृष्टि रखनेवाला, (बहुत बढ़कर) बदला लेनेवाला=(कीनावर), (दूसरे का काम बिगाडकर) स्वार्थ साधन में तत्पर, कुटिल, मिथ्या विनीत (झूठी नम्रतावाला) ब्राह्मण बगले के व्रतवाला होता है (जिसतरह बगला मछलियां पकड़ने के लिए ध्याननिष्ठ भक्त बनकर खड़ा रहता है) ॥ १९६ ॥ जो ब्राह्मण बगले के व्रतवाले हैं, और जो बिल्ले के व्रतवाले हैं, वह अपने उस पापकर्म से अन्धतामिस्र नरक में गिरते हैं ॥ १९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥
प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

पाप करके व्रत से पाप को ढांपकर स्त्री और शूद्रों को धोखा देता हुआ धर्म के बहाने से व्रत न करे † ॥ १९८ ॥ ऐसे ब्राह्मण मरने के पीछे और इस (जीवन) में भी वेदवादियों से निन्दे

---

*बिल्ली दीखने में नम्र (मिसकीन), और करने में हिंसारुचि होती है

† चान्द्रायणादि कई एक व्रत ऐसे हैं, जिनका विधान पापियों के लिए प्रायश्चित के तौर पर भी है और निष्पाप पुरुषों के लिए धर्म प्राप्ति के लिए भी है (देखो० बौधा० ३।८।२७-३१) सो अब कोई पाप करके प्रायश्चित के तौर पर इन व्रतों को करे, तो अनजान लोगों को धोखा न दे, कि मैं यह व्रत अनुष्ठान कर रहा हूं ॥

जाते हैं, और बहाने से जो व्रत किया है, वह राक्षसों को पहुंचता है (निष्फल जाता है) ॥ १९९ ॥ जो ब्रह्मचारी न होकर ब्रह्मचारियों के वेष से जीविका करता है, वह ब्रह्मचारियों के पाप को (अपने ऊपर) लेता है और पशुयोनिमें उत्पन्न होता है ॥२००॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपानकर्तुःस्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥
यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥
नदीषु देवखातेषु तड़ागेषु सरस्सु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥
यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥२२४॥
नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीतब्राह्मणःक्वचित्॥२०५॥
अश्लीलमेतत्साधूनां यत्र जुन्हत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

बेगाने जलाशयों (बावड़ी तालाब आदि) में कभी स्नान न करे, यदि उसमें स्नान करे तो जलाशय बनाने वाले के पाप के अंश से लिप्त होता है ॥ २०१ ॥ इस (दूसरे) के यान (गाड़ी) शय्या, आसन, कुंएं, बगीचे, और घर को बिन दिए भोगता हुआ (उसके) पाप के चौथे हिस्से का भागी होता है ॥ २०२॥

नदियों में, देवताओं से खोदे हुए (कुदरती) तालाबों में, झीलों में, नालों और झरनों में सदा स्नान करे ॥ २०२ ॥ बुद्धिमान् को चाहिये, कि लगातार यमों का सेवन करे, सदा नियमों का ही नहीं, क्योंकि जो यमों का सेवन नहीं करता, निरे नियमों का सेवन करता है, वह पतित होजाता है * ॥ २०४ ॥ ब्राह्मण उस यज्ञ में भोजन न खाए, जो अश्रोत्रिय (वेद के न जानने वाले) से, वा बहुतों को यज्ञ करानेवाले से किया गया है, वा जिसमें स्त्री वा नपुंसक ने होम किया है ॥ २०५ ॥ यह भले लोगों को शोभावाला काम नहीं, जहां यह हवि डालते हैं, देवताओं के भी यह प्रतिकूल है इसलिए इसे त्यागे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥२०७॥
भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥२०८॥

---

* यम=अन्तरंग धर्म, नियम बहिरंग धर्म । याज्ञ० ३ । ३१३-३१४ में यह यम नियम कहे हैं :-" ब्रह्मचर्यं दयाक्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपसेवेज्या स्वाध्यायोपस्थनिग्रहः । नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधा प्रमादता ॥ ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्यता, निष्कपटता, हिंसा का त्याग, चोरी का त्याग, मधुरता और इन्द्रियों को वश में रखना यह यम हैं । स्नान, मौन रखना, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थ का निग्रह, गुरु सेवा, शौच, अक्रोध, अप्रमाद यह नियम हैं । योग दर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता के बिना अपने पास जमा न करना) यम । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम्॥२०९॥
स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगलेन च ॥२१०॥

मदमत्त का, क्रोधी का, और रोगी का, बालों वा कीड़ों से दूषित, और जान बूझकर पाओं से छुआ हुआ (अन्न) ॥२०७॥ गर्भ हत्यारे का देखा हुआ, रजस्वला से छुआ हुआ, पक्षी से चोंच मारा हुआ, और कुत्ते से छुआ हुआ ॥ २०८ ॥ गौ से सूंघा हुआ अन्न, और विशेषता से (कोई खाने वाला है, ऐसा) पुकार कर दिया अन्न, संघ का अन्न, * वेश्या का अन्न, और विद्वानों से निन्दित (अन्न) ॥२०९॥ चोर, गवैये, बढ़ई, ब्याज से जीविका करनेवाले, (सोम यज्ञ पूरा करने के लिए) दीक्षित, कंजूस, बेड़ियों से बन्धे हुए † का अन्न (न खाए) ॥ २१० ॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेवच ॥ २११ ॥
चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥२१२॥
अनार्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

---

* मठ में रहनेवाले ब्राह्मणों का संघ (गोवि० कुल्लू०) † छपे पुस्तकों में 'निगड़स्य' पाठ के स्थान नन्द० ने 'निगलेन' पाठ शुद्ध किया है, दक्षिणी हस्त लिखित पुस्तकों में मिलता भी यही है। अर्थ इसी में ठीक बैठता है इसलिये ऐसा कर दिया है॥

अभिशस्त (जिस पर पातक की शङ्का है,) नपुंसक, व्यभिचारिणी स्त्री और दम्भी का (अन्न), खट्टी हुई वस्तु (जो स्वभावतः मीठी हो), बासी, शूद्र का अन्न और जूठा * (किसी का) न खाए ॥२११॥ वैद्य, शिकारी, क्रूर (सख्त), (दूसरों का) बचा हुआ खानेवाले, उग्र † और सूतकवाली का अन्न न खाए, न जिस पर आचमन होचुका है ‡ न दस (दिन) निकले बिना §॥२१२॥ अनादर से दिया अन्न, वृथा मांस ¶ अबीराओं का अन्न, शत्रु का अन्न, नगरी का अन्न, ** पतित का अन्न, वा जिस पर छींक दिया गया है, वह अन्न (न खाए) ॥ २१३ ॥

पिशुनाऽनृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेवच ॥ २१४ ॥
कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्यच ।
सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥
श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

---

* शूद्र के खाने से बचा चाहे बटलोही में भी हो (गोवि०) † उग्र=भयानक कर्मोंवाला (कुल्लू०) शूद्रा में से क्षत्रिय से उत्पन्न हुआ (मेधा०, गोवि०, नारा०, नन्द, राघ०) राजा (मञ्जरी में, मेधा० गोवि०) ‡ एक पंक्ति में बैठों में से जब किसी एक ने भी आचमन कर लिया है § सूतक, का अन्न दस दिन से पहले ¶ वृथा मांस इस स्मृति के अनुसार देवता और पितरों के उद्देश से बिना (देखो ५।३४) अवीरा जिसका बीर कोई नहीं=पति पुत्र से हीन ** सारी नगरी से सांझा करके दिया गया अन्न; नगर के मालिक से दिया अन्न (मेधा० नारा०, राघ०)॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेवच ॥ २१७ ॥

चुगलखोर, झूठ बोलने के स्वभाववाले, यज्ञ (का फल) बेचनेवाले, नट, दरज़ी, कृतघ्न, का अन्न न खाए ॥ २१४॥ लोहार, निषाद, खेल दिखलानेवाले, सुनार, बांस (की वस्तुएं) बनानेवाले, शस्त्रों के बेचनेवाले का (अन्न) ॥ २१५ ॥ (शिकारी) कुत्तों के पालनेवाले, शराब बेचने वाले, वस्त्र धोनेवाले, (वस्त्र) रङ्गनेवाले, निर्दय * वा जिसके घर में (उसकी पत्नी का) जार है, उसका (अन्न न खाए) ॥ २१६ ॥ जो (जान बूझकर) अपनी पत्नी के जार को सहारते हैं, जो हरएक काम में स्त्रियों के अधीन हैं, उनका अन्न, दस दिन निकले बिना मरे (के घर) का अन्न, और अप्रसन्नता देनेवाला अन्न (न खाए) ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥
कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्यच ।
गणान्नंगणिकान्नंच लोकेभ्यःपरिकृन्तति ॥२१९॥
पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्॥२२०॥

राजा का अन्न तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मवर्चस को, सुनार का अन्न दीर्घ आयु को, चमार का यश को लेजाता है ॥ २१८ ॥ कारीगर का अन्न सन्तान का नाश करता है, धोबीका अन्न बलका,

* अथवा मनुष्यों की स्तुति करनेवाले (मेधा० नारा० राघ०) ॥

समूह का और वेश्या का अन्न (ऊंचे लोकों से काट देता है) ॥ २१९ ॥ वैद्य का अन्न पीप * (के तुल्य) होता है, व्यभिचारिणी का अन्न वीर्य (तुल्य), व्याजद्दियें का विष्टा, और शस्त्र बेचनेवाले का मल (थूक आदि) (के तुल्य) होता है ॥२२०॥

यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाः क्रमशः पारिकीर्त्तिताः ।
तेषांत्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥२२१॥
भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्न ममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेवच ॥२२२॥
नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥२२३॥
श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्यच वार्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥
तान्प्रजापतिराहैत्य माकृध्वं विषमं समम् ।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥२२५॥
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥

और यह जो दूसरे न खाने योग्य अन्नों वाले क्रमशः कहे हैं, उनके अन्नों को बुद्धिमान् त्वचा, हड्डी और लोम (के तुल्य) बतलाते हैं ॥ २२१ ॥ इनमें से किसी एक के अन्न को बिना जाने

---

* अर्थात् वैद्य का अन्न खानेवाला, पीप का कीड़ा बनकर पीप खाता है, इत्यादि (गोवि०) ॥

खाए, तो तीन दिन उपवास करे, जान बूझकर खाए, तो कृच्छ्रव्रत करे, ऐसे ही वीर्य, विष्टा और मूत्र के भक्षण में भी ॥ २२२॥ विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध न करनेवाले शूद्र का पका अन्न न खाए, किन्तु जीविका न होने में एक रात के निर्वाह के लिए कच्चा ही इस से लेलेवे ॥२२३॥ वेदपाठी तो कंजूस हो और ब्याज से जीविका वाला बड़ा उदार हो इन दोनों के अन्न को देवताओं ने विचारकर एक बराबर मान लिया ॥२२४॥ प्रजापति ने आकर उनको बतलाया, कि विषम को सम न बनाओ, क्योंकि उदार का अन्न तो श्रद्धा से पवित्र होगया है, और दूसरा अश्रद्धा से नष्ट होगया है ॥ २२५ ॥ श्रद्धा से सदा आलस्य रहित होकर इष्ट और पूर्त करे, क्योंकि न्याय से कमाए धन द्वारा श्रद्धा से किए यह दोनों अक्षय होते हैं॥२२६

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्यशक्तितः ॥२२७॥
यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयाति सर्वतः ॥२२८॥
वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः ।
तिलप्रदःप्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥२२९॥
भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥२३०॥

पात्र को पाकर इष्ट और पूर्त सम्बन्धी दान, धर्म, शक्ति अनुसार सदा प्रसन्न हृदय से सेवन करे ॥ २२७ ॥ जब उस से मांगा जाए, तो बिना असूया जो कुछ भी बने, देवे, क्योंकि स्यात कोई

ऐसा पात्र मिल जाय, जो कि सब (संकटों मे) बचा सक्ता है॥२२८॥ जल के देनेवाला, (भूख, प्यास की) तृप्ति को प्राप्त होता है, अन्न के देनेवाला अविनाशी सुख को, तिलों के देनेवाला, योग्य सन्तान को, और दीप के देनेवाला उत्तम नेत्र को (प्राप्त होता है)॥२२९॥ भूमि के देनेवाला भूमि को, सोने के देनेवाला सोने को, घर के देने वाला उत्तम घरों और चांदी के देनेवाला उत्तमरूप को प्राप्त होता है

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥
यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥२३३॥
येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

वस्त्रके देनेवाला चन्द्र के लोक को, घोड़े के देनेवाला अश्वियों के लोक को, बैल के देनेवाला बहुत बड़ी लक्ष्मी को, और गौ के देनेवाला सूर्य के लोक को प्राप्त होता है ॥ २३१ ॥ यान और शय्या का देनेवाला पत्नी को, अभय देनेवाला ऐश्वर्य को, अनाज देनेवाला स्थिर रहनेवाले सुख को, वेद का देनेवाला ब्रह्मा की तुल्यता को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥ जल, अन्न, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना, घी इन सभी दानों में से वेद का दान बढ़कर है॥२३३॥

जिस २ भावना से * जो २ दान देता है, उस उसी भावना से वह आदरमान के साथ उस२ को (जन्मान्तर में) प्राप्त होता है॥२३४॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतःस्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥२३५॥
न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥
यज्ञोनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥२३७॥

जो आदर से लेता है, और जो आदर से देता है, वह दोनों स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, उलटा करने में नरक को ॥ २३५ ॥ तप करके आश्चर्य्य न करे (कि कैसा दुष्कर काम मैंने किया है) यज्ञ करके झूठ न बोले, पीडित हुआ भी ब्राह्मणों की निन्दा न करे, और दान देकर बतलाए नहीं ॥२३६॥ झूठ से यज्ञ, आश्चर्य से तप, ब्राह्मणों की निन्दा से आयु और बतलाने से दान बहजाता है ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्र दारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

* भावना=श्रद्धा (मेधा०) भावना=अभिप्राय=कामना (कुल्लू०)

किसी भी जीव को पीडा न देता हुआ, परलोक की सहायता के लिए धीरे २ धर्म का संचय करे, जैसे दीमक (धीरे २) टीला (बनाती है)॥ २३८॥ क्योंकि परलोक में सहायता के लिए न माता पिता, न पुत्र स्त्री, खड़े होते हैं, अकेला धर्म खड़ा होता है। (इसलिए माता आदि से भी बढकर उपकारक धर्म को माने)॥ २३९॥ अकेला जीव उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है, अकेला पुण्य को और अकेला ही पाप को भोगता है॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ २४२॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्॥२४३॥

मरे शरीर को लकड़ी और ढेले के तुल्य भूमि पर फैंककर बान्धव मुख मोड़कर चले जाते हैं, धर्म उसके पीछे जाता है॥२४१॥ इसलिए धर्म को साथी बनाने के लिए धीरे २ नित्य संचय करे क्योंकि धर्मरूप साथी से दुस्तर अन्धकारसे पार होता है॥२४२॥ जो पुरुष धर्मपरायण है, और तप से दूर हुए पापोंवाला है, उसको (मरने के पीछे धर्मरूप साथी) आकाश के शरीरवाला दीप्तिमान् बनाकर जल्दी दूसरे लोक (स्वर्ग वा ब्रह्मलोक) में लेजाता है

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्॥ २४४॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्चवर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥२४५॥
दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥२४६॥

वह जो अपने कुल को ऊंचा लेजाना चाहता है, उसे चाहिए कि हरएक प्रकार के सम्बन्ध (विद्या, आचार और वंश आदि से) उत्तमों २ के साथ करे और अधमों २ को त्याग देवे ॥२४४ ॥ ब्राह्मण जो उत्तमों २ के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, और हीनों २ को त्यागता है, वह श्रेष्ठता को प्राप्त होता है, उलटा करने से शूद्रता को ॥२४५॥ दृढकारी (साबित कदम), कोमल, सहारनेवाला, क्रूर आचारवालों के साथ न रहनेवाला, (जीवोंको) पीड़ा न देनेवाला, ऐसे व्रतोंवाला इन्द्रियों के संयम और दान से स्वर्ग को जीत लेता है ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान् मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥२४७॥
आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥
नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।
नच हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९॥

बिन मांगे मिले लकड़ी, जल, मूल, फूल, अन्न, शहद और अभय दक्षिणा हरएक से स्वीकार करे * ॥ २४७ ॥ प्रजापति

---

* वासि० १४।१२ गौत० १७।१ ; आप० १।१८।१ ; विष्णु ५२।११

का मत है, कि पहले न कही * सामने ला रक्खी भिक्षा पापात्मा पुरुष से भी स्वीकार कर लेनी चाहिए † ॥ २४८ ॥ जो उसका अपमान करता है, पन्द्रह वर्ष तक उसके पितर (उसका दिया पिण्ड श्राद्ध) नहीं खाते और न अग्नि उसकी हवि (देवताओं को) पहुंचाता है ‡ ॥ २४९ ॥

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान् पयोमांसं शाकंचैव ननिर्नुदेत ॥२५०

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवताऽतिथीन् ।
सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्नतुतृप्येत्स्वयंततः ॥२५१॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनोवृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतःसदा॥ २५२ ॥

शय्या, घर, कुशा, गन्धवाली वस्तुएं (कपूर आदि) वा जल, पुष्प, मणि दही, दाने, मछलियें, दूध, मांस और शाक से इनकार न करे (यदि श्रद्धा से दिए जाएं) § ॥ २५० ॥ गुरुओं और आश्रितों का उद्धार करना चाहता हुआ, देवता और अतिथियों को पूजना चाहता हुआ, सब से (साधु असाधु से) ले लेवे, पर आप उससे तृप्त न हो ¶ ॥ २५१ ॥ पर जब गुरु मर चुके हैं, वा उनसे अलग घर में रहता है, तब अपनी जीविका चाहता हुआ सदा भले पुरुषों से लेवे (ऐसे वैसे नहीं) ‖ ॥२५२॥

---

* बिन मांगी, और दाता ने पहले न कही † वासि० १४ । १६ ; आप० १ । १० । १२—१४ ; याज्ञ० १ । २२५ ; विष्णु० ६२ । ११ ‡ वासि० १४ । १८ ; आप० १ । १९ । १४ विष्णु० ६२ । १२ ॥

§ व[illegible] ३ । १२ गौत० १७ । ५ याज्ञ० १ । २१४ विष्णु० ६२ । ११ ¶ वासि० १४ । १ गौत० १७ । ४ आप० १ । ७ । २० याज्ञ० १ । २१६ विष्णु० ६२ । १३ ‖ विष्णु० ६२ । १५ ॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेष्वभोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥
यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

आधी (सीरी), कुल का मित्र, अपना ग्वाला, अपना दास, अपना नाई, शूद्रों में से इनका अन्न खालेवे, और जो अपने आप को अर्पण करदे *—॥ २५३ ॥ (इसप्रकार, कि) जैसे इसका स्वरूप हो, (अर्थात अपना कुल, देश, शील) और जैसा इसको कर्म करना अभीष्ट हो (खेती वा घर का काम) और जिसप्रकार से (रोटी कपड़ा आदि लेकर, वा निरा मासिक लेकर) वह इसकी सेवा कर सक्ता है, इसप्रकार वह (अजनबी दास) आप अपने आप को समर्पण करे ॥ २५४ ॥ जो कुछ और होकर

---

* गौत०१७।५-६ आप०१।१८।१४ विष्णु०६२।१६ इस श्लोक और अगले तीन श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह शूद्र विजित जाति के वा अजनबी हैं, वह आर्यों के साथ विश्वास भङ्ग करते थे, अतएव आर्य उनका पका भोजन खाने से डरते थे, अतएव जिनपर विश्वास है,सीरी आदि पर,उनका अन्न भोग्य कह दिया है। और जो विश्वास दिलाता है,उस पर भरोसा किया गया है हां उसे भी सावधान किया गया है,कि विश्वास देकर धोखा देना बड़ा पाप है । इस से आर्य-जाति की सरलता प्रतीत होती है । किन्तु शूद्र का पका न खाने का मूल कोई वहम नहीं, केवल हानि पहुंचने का डर है। यदि जातिमूलक वा वहम से यह निषेध होता, तो सीरी आदि का पका खाने में भी रोक ही होती ॥

अपने आप को कुछ और प्रकट करता है, वह लोक में सब से बढ़ कर पाप करने वाला, चोर है, जो आत्मा का चुरानेवाला है, (दूसरे धन चुराते हैं, वह आत्मा को चुराता है) ॥ २५५ ॥ सब व्यवहार बाणी से सम्बन्ध रखते हैं, बाणी उनका मूल है, बाणी से उत्पन्न हुए हैं, सो जो उस बाणी को चुराता है, वह मनुष्य हरएक वस्तु को चुरानेवाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥२५८॥
एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥
अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषोनित्यं ब्रह्मलोकमहीयते ॥ २६० ॥

यथाविधि (स्वाध्याय से) महर्षियों का, (शुद्ध सन्तानोत्पादन से) पितरों का, और (यज्ञों से) देवताओं का ऋण * चुकाकर सब कुछ (घर का काम काज) पुत्र पर डालकर ममता छोड़कर (घर में) रहे † ॥ २५७ ॥ अकेला एकान्त में नित्य अपने आत्मा का हित चिन्तन करे, क्योंकि अकेला चिन्तन करता हुआ, परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ २५८ ॥ यह ब्राह्मण गृहस्थ की मुख्य जीविका कही है, और स्नातक के व्रतों का प्रकार (कहा है) जो आत्मबल का बढ़ानेवाला, बड़ा उत्तम है ॥ २५९ ॥ इस आचार पर चलता हुआ वेद शास्त्र का जानने वाला ब्राह्मण निष्पाप हुआ सदा ब्रह्मलोक में पूजा जाता है ‡ ॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ

* तीन ऋणों पर देखो वासि० ११ । ४८ † २५७ । २५८ ‡ वासि० ८ । १७ गौत० ९ । ७४ बौधा० २ । ३ । १ ॥

पंचमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥
एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

स्नातक के इन यथोक्त धर्मों को सुनकर ऋषि लोग अग्नि से उत्पन्न हुए * महात्मा भृगु से यह बोले ॥ १ ॥ कैसे हे प्रभो! मृत्यु उन ब्राह्मणों को (पूर्ण आयु से पूर्व ही दबाने के) समर्थ होता है, जो इसप्रकार तुझसे कहे धर्म का अनुष्ठान करते हैं और वेद शास्त्र को समझते हैं ॥ २ ॥ तब वह मनु का पुत्र धर्मात्मा भृगु उन महर्षियों से बोला, सुनिये, जिस दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारना चाहता है ॥ ३ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

---

* पूर्व १ । ३५ में भृगु की उत्पत्ति मनु से कही है और यहां ही आगे ३ में भृगु को मानव कहेंगे । किन्तु यह अग्नि से उत्पत्ति ब्राह्मण और भारत के अनुसार है । मेधातिथि अग्नि से उत्पत्ति का यह भी अभिप्राय लेता है, कि तेजस्वी होने से अग्नि के पुत्र तुल्य है ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि ॥ ५ ॥
लोहितान्वृक्षनिर्यासान् व्रश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥
वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेवच ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषिच ॥ ७ ॥

वेदों के अनभ्यास से (न पढ़ने से वा पढ़े हुओं के त्याग से) आचार के छोड़ देने से, आलस्य से और अन्न के दोष से (दुष्ट अन्न के सेवन से) मृत्यु ब्राह्मणों को मारना चाहता है * ॥ ४ ॥ लह-सन, गाजर, प्याज़, कुकरमुत्ता (छत्री), और अमेध्य से उत्पन्न हुई वस्तुएं द्विजों के लिये अभक्ष्य हैं † ॥ ५ ॥ वृक्षों के गोंद जो लाल हैं, वा छेद करने में जो निकले हैं,—लसोडा, और गोकी, पेवसी, (बहुली = नई ब्याई हुई का गाढ़ा दूध) ॥ ६ ॥ कृसर, (तिल सहित भात), सीरा, खीर, मालपूआ, यह वृथा‡ हों और मांस जो उपाकरण रहित § हो, अन्न और हवियें जो देवताओं के हैं (उन के अर्पण होचुके हैं, इन सब को छोड़ देवे) ॥ ७ ॥

आनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

---

* वेदाभ्यास और आचार का वर्णन चौथे में आचुका, दुष्ट अन्नों की गणना यहां करते हैं, † ५—१५ वासि० १४ । ३३–४८ गौत० १७ । २२–३६ आप० १ । १७ । १८–३९ बौधा० १ । १२ । १–१५ याज्ञ० १ । १६९–१७८ विष्णु० ५१ । ३–६, २१–४२ ‡ वृथा=देवता, पितर वा अतिथियों के उद्देश से बिना निरे अपने लिए बनाए § उपाकरण=यज्ञ में मन्त्रों से कुशा के स्पर्श करने का संस्कार ॥

आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥८॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९॥
दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

दस दिन निकले बिना गौ का दूध, ऊंटनी का, एक खुर वाली (घोड़ी आदि) का, और भेड़ का दूध, गर्भवती का * दूध, और मरे बछड़ेवाली का दूध ॥ ८ ॥ सब जंगली पशुओं का दूध सिवाय भैंस के, स्त्री का दूध, और (देर पड़ी रहने से) खट्टी हुई सब वस्तुएं छोड़नी चाहिएं ॥ ९ ॥ खट्टी वस्तुओं में दही और दही से बनी सब वस्तुएं (लस्सी, भल्ले, पकौड़ी, आदि) और जो उत्तम फूल फल और मूल से मिलाई जाकर खट्टी कीजाती हैं, यह सब भक्ष्य हैं ॥ १० ॥

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं चविवर्जयेत् ॥ ११ ॥
कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्रांगं ग्रामकुकुटम् ।
सारसं रज्जुदालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥
प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्चमत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेवच ॥ १३ ॥

* ऋतुमती (कुल्लू०, नारा०, राघव) जो एक दिन में एक ही बार दूध दे, (मेधा०, गोवि०) ॥

कच्चा मांस खानेवाले सब पक्षी (गिद्ध आदि) तथा ग्राम में रहनेवाले, (चिड़ा, कबूतर आदि) और एक खुरवाले वह पशु जिन (के खाने) की स्पष्ट आज्ञा नहीं, और टिटी को त्याग देवे ॥११॥ चिड़ा (चाहे बनवासी भी हो), जल कुक्कड़, हंस, चकवा, ग्राम का कुक्कड़, सारस, रज्जुदाल*, द्रोण काक (Allinul) तोता और मैना ॥१२॥ (चञ्चु से) फोड़ (कर कीड़ों को खा) ने वाले (कटफोड़ा आदि) झिल्लीवाले पैरोंवाले, कोयष्टि(Lapwing), नखों से बिखेर (कर खा) ने वाले, डुबकी लगाकर मछलियां खानेवाले, बध स्थान का मांस और सूखा मांस (न खावे) ॥ १३ ॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेवचसर्वशः ॥ १४ ॥
यो यस्य मांसमश्नाति सतन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादःसर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥१५॥
पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैवसर्वशः ॥ १६ ॥
नभक्षयेदेकचरानज्ञातांश्चमृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥१७॥

बगला, बलाका (कुलिंग), पहाड़ी कौआ, ममोला, मछलियां खाने वाले (मगर आदि) गाओं के सूअर और सब प्रकार की मछलियें (त्यागे) ॥१४॥ जो जिसका मांस खाता है, वह निरा उसका मांस

* छपे पुस्तकों में रज्जुवाल हैं, पर टीकाकारों के अनुसार रज्जुदाल है। रज्जुदाल=जङ्गली चिड़िया (विज्ञानेश्वर) दरयाई पक्षी (नारा०)

खानेवाला कहलाता है,पर मछली का खानेवाला सब मांसों का खाने वाला है इसलिये मछलियों को त्यागे ॥ १५ ॥ हां पाठा और रोहू यह दो मछलियें देवकर्म और पितृकर्म में बर्ती हुई खाने योग्य होती हैं, तथा राजीव, सिंहतुण्ड और सब प्रकारके सशल्क (मोटी खालवाली मछलिएं) ॥ १६ ॥ एकचरों * को न खाए, और अज्ञात पशु, पक्षियों को न खाए, चाहे वह खाने योग्यों में लिये गये हों, और पांच नखोंवाले (वानर आदि) सभी को ॥१७॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥
छत्राकं विड्वराहंच लशुनं ग्रामकुक्कटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनंचैव मत्या जग्ध्वापतेद्द्विजः ॥१९॥
अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥
संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

पंच नखवालों में इनको भक्ष्य कहते हैं, सेह, साही (मोटे रोमोंवाली सेह) गोह, गेंडा, कछुआ और ससा । और ऊंट के सिवाय एक ओर दान्तोंवाले (पशु भक्ष्य हैं)॥१८॥कुकरमुत्ता(छत्री) गाओं का सूअर, लहसन, गाओं का कुक्कड़, प्याज़ और गाजर,

* एकचर=अकेले फिरनेवाले सर्प आदि (मेधा०, कुल्लू०, राघ० नन्द) एकचर=जो इकट्ठे मिलकर रहनेवाले हैं, उनमें से यदि कोई अकेला फिर रहा हो (नारा०) ॥

इनको जान बूझकर खाने से द्विज पतित होता है॥१९॥ बिन जाने इन छः को खाकर कृच्छ्र सांतपन वा यति चान्द्रायण करे* शेष (अभक्ष्य वस्तुओं के भक्षण) में एक दिन उपवास करे ॥२०॥ द्विज बरस में एक कृच्छ्र † करे, जिस से कि अज्ञात खाए (अभक्ष्य) की शुद्धि होजाए, और ज्ञात के लिए तो विशेषता से (जो उस का प्रायश्चित्त है वह करे) ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥
बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥
यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविः शेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥
चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

पशु और पक्षी जो अच्छे कहे हैं, वह यज्ञ के लिए, वा अवश्य पालने योग्यों (माता, पिता आदि) के पालने के लिए ब्राह्मणों से मारे जासक्ते हैं, क्योंकि अगस्त्य ने पहले ऐसा किया है ॥ २२ ॥ क्योंकि पुराने समय के ऋषि यज्ञों में, तथा ब्राह्मण और क्षत्रियों के यज्ञों में भक्षणीय पशु पक्षियों के पुरोडाश होते रहे हैं ॥ २३ ॥ जो कुछ सख्त वा नर्म खाने की वस्तु स्नेह से

---

* कृच्छ्र सांतपन और यति चान्द्रायण देखो आगे ११।२१३;२१९

† कृच्छ्र देखो ११ । २१२ ॥

संयुक्त हो, वह बासी भी खाई जासक्ती है, और जो हवि से बची हो, वह भी॥ २४॥ चिरकाल की भी, स्नेह से न मिली हुई भी जौ और गेहूं की बनी हुई हरएक वस्तु (मिठाई आदि) और दूध का विकार (दही, मट्ठा आदि) द्विजों को खालेना चाहिये॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने॥ २६॥
प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानांच काम्यया।
यथाविधिनियुक्तस्तुप्राणानामेवचात्यये॥ २७॥

यह द्विजों के लिये भक्ष्य अभक्ष्य सारा कहा है, इस से आगे मांस के भक्षण और साग की विधि कहेंगे॥२६॥ मनुष्य मांस को खा सक्ता है, जब कि प्रोक्षित है (यज्ञ में मन्त्रों से जिस पर जल छिड़का गया है) वा, जब ब्राह्मणों की इच्छा हो, वा जिसको विधि के अनुसार आज्ञा मिली है, वा जब प्राण खतरे में हो * ॥ २७॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिर कल्पयत्।
स्थावरं जंगमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्॥ २८॥
चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्चसहस्तानां शूराणां चैव भीरवः॥ २९॥
नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।
धात्रैवसृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तारएवच॥ ३०॥

† प्रजापति ने इस सब को प्राण का अन्न बनाया है। स्थावर और

---

* २७-५६ वासि० ४।५-८ याज्ञ० १।१७८-१८१ विष्णु०१५।५९-७८

† 'प्राण खतरे में हों' का अर्थवाद कहते हैं।

जङ्गम सब प्राण का भोजन है ॥ २८ ॥ चलनेवालों (हरिणादि) के न चलनेवाले (घास आदि) अन्न हैं, दाढ़ वालों (चीते आदि) के न दाढ़वाले (हरिण आदि), हाथ वालों (मनुष्यादि) के न हाथ वाले (मछली आदि), और शूरों के डरपोक (अन्न हैं) ॥ २९ ॥ खानेवाला खाने योग्य प्राणियों को प्रतिदिन खाता हुआ भी पापी नहीं होता, क्योंकि रचनेहार ने ही खाए जाने वाले और खानेवाले प्राणी रचे हैं ॥ ३० ॥

यज्ञाय जाग्धिर्मांसस्येत्येषदैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तुराक्षसोविधिरुच्यते ॥ ३१ ॥
क्रीत्वा स्वयंवाप्युत्पाद्यपरोपकृतमेववा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥

* यज्ञ के लिये मांस का खाना देवताओं की विधि कही है, इससे भिन्न प्रकार से (मांस भक्षण में) प्रवृत्ति राक्षसों की विधि कहलाती है ॥३१॥ खरीद कर, वा आप (शिकारादि) से उत्पन्न करके वा दूसरे से भेंट किया हुआ हो तो देवता और पितरों को पूजकर मांस खाता हुआ पापी नहीं होता है ॥ ३२ ॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वाह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥
नतादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

विधि का जाननेवाला द्विज आपत्ति रहित काल में बिना विधि के मांस न खाए क्योंकि जो बिना विधि के मांस खाता है,

* प्रोक्षित मांस के भक्षण का अर्थवाद कहते हैं ।

है, वह मरने के पीछे बेबस उनसे खाया जाता है * ॥ ३३ ॥ धन (जीविका) के लिये मृगों के मारनेवालेको वैसा पाप नहीं होता है, जैसा कि वृथा मांस खानेवाले को मरने के पीछे होता है (क्योंकि वह निर्वाह के लिए मारता है, यह भोग के वस खाता है) ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
सप्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥३५॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैः नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥३६॥

कुर्याद् घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।
नत्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोहमारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥३८॥

(विधि के अनुसार आज्ञा मिलनेका अर्थवाद कहते हैं)(मधुपर्क वा श्राद्ध में) यथाविधि आज्ञा दिया हुआ जो पुरुष मांस नहीं खाता है, वह मरकर इक्कीस जन्म पशु बनता है † ॥ ३५ ॥ मन्त्रों से संस्कार न किए पशुओं (के मांस) को ब्राह्मण कभी न खाए किन्तु सनातन विधि के सहारे पर मन्त्रों से संस्कार कियों को खासक्ता है ॥ ३६ ॥ (मांस के लिए) उत्कट इच्छा हो ‡ तो घी

---

* उसको भांति २ की पीड़ा सहनी पड़ती है, इतने मात्र में तात्पर्य है, इतरथा प्रायः लोग बकरे आदि का मांस खाते हैं, और बकरे आदि मांसाहारी नहीं (मेधा०) ॥

† व सि० ११।३४ ‡ जब शिष्टाचार से प्रसिद्ध कर्म में पशु बलि का प्रसङ्ग हो, (मेधा०) जब भूत आदि को बलि देनी हो, (गोवि०) उत्सव आदि के निमित्त कोई इकट्ठ हो तो (नन्द०) ॥

का वा आटे का पशु बनाले, पर वृथा पशु हनन की कभी इच्छा न करे ॥ ३७ ॥ जितने (मारे जाने वाले) पशु के रोम होते हैं, उतनीबार वृथा पशु मारनेवाला मरकर जन्म २ में मारा जाता है॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञोऽस्यभूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवधः ॥ ३९ ॥
ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥४०॥
मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवत कर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्यानान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥

ब्रह्मा ने आपहीयज्ञ के लिए पशु रचे हैं, यज्ञ इस सब (जगत्) की वृद्धि के लिए है, इससे यज्ञ के निमित्त (पशु की) हिंसा हिंसा नहीं है ॥ ३९ ॥ (क्योंकि) ओषधियें, वृक्ष, पशु, पक्षी और दूसरे जन्तु यज्ञ के लिए नाश को प्राप्त हुए फिर ऊंचे जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और दैवतकर्म इन्हीं में पशुओं को मारे, और किसी कर्म में नहीं, यह मनु ने कहा है

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद् द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥
गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥
या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

वेद के तत्त्व अर्थ का जाननेवाला द्विज इन पूर्वोक्त प्रयोजनों के निमित्त पशुओं को मारता हुआ अपने आपको और पशु को उत्तमगति को प्राप्त कराता है ॥ ४२ ॥ घर में, वा गुरु के पास, वा वन में निवास करता हुआ शुद्धात्मा द्विज आपत्ति में भी ऐसी हिंसा न करे, जो वेद विहित नहीं है॥४३॥जो वेद विहित हिंसा इस चर अचर में (विशेष २ अवसर के लिए) नियत कीगई है, उसे अहिंसा ही जाने, क्योंकि वेद से ही धर्म प्रकाशित हुआ है ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्चमृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥
योबन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥४७॥
नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
नच प्राणिवधःस्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥४८॥

जो अहिंसक जीवों को अपने सुख की लालसा से मारता है, वह जीता हुआ वा मरकर कहीं सुख से नहीं बढ़ता है ॥ ४५ ॥ जो प्राणियों को उन के बान्धने और मारने के क्लेशों को नहीं देना चाहता है, वह सब का हित चाहनेवाला अत्यन्त सुख पाता है ॥४६॥ वह जो सोचता है, जो करता है, और जिसमें मन को दृढ़ लगाता है, उसको बिना यत्न प्राप्त होता है, जो किसी (प्राणी) की हिंसा नहीं करता है ॥ ४७ ॥ (प्राणियों) की हिंसा किये

बिना कहीं मांस उत्पन्न नहीं होता, और प्राणियों का मारना स्वर्ग के लिए अच्छा नहीं, इसलिए मांस को त्यागे ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात ॥ ४९ ॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीडयते॥५०॥
अनुमन्ता विशासिता च निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्यपितन्देवांस्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत॥५२॥

मांस की (घिनौने लहू आदि से) उत्पत्ति,और प्राणधारियों के बांधने और मारने को देखकर हरएक प्रकार के मांस भक्षण से हटा रहे ॥ ४९ ॥ जो विधि को त्याग करके पिशाचों की तरह मांस भक्षण नहीं करता, वह सब का प्यारा होता है, और रोगों से पीड़ित नहीं होता ॥ ५० ॥ (मारने में) अनुमति देनेवाला, काटनेवाला, मारनेवाला, (मांस का) खरीदनेवाला, बेचनेवाला पकानेवाला, परोसनेवाला, और खानेवाला (यह सब पशु के) मारनेवाले (माने गए) हैं ॥ ५१ ॥ देवता और पितरों की पूजा के विना जो दूसरे के मांस से अपने (शरीर के) मांस को बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर पाप करनेवाला नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥५३॥

एक वह पुरुष जो बरस२ पीछे सौ बरस तक अश्वमेध यज्ञ करे, और दूसरा वह जो मांस कभी न खाए, उन दोनों को पुण्यफल समान होता है (अर्थात् प्राणियों पर दयाभाव से बरस भर मांस न खाने का फल एक अश्वमेध के तुल्य होता है) ॥५३॥

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥५४॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥५५॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

(सदा) पवित्र फल मूल खाने से और मुनियों के अन्नों (जंगली सिमाक आदि) के खाने से उस फल को नहीं प्राप्त होता है, जो (प्राणियों पर दयाभाव से) मांस के छोड़ने से॥५४॥ मुझे वह (=मां सः) परलोक में खाएगा, जिसका मांस मैं यहां खाता हूं, बुद्धिमान् यह मांस का सच्चा अर्थ बतलाते हैं ॥ ५५ ॥ न मांस भक्षण में, न मद्य (पीने) में, न मैथुन में, दोष है, * यह भूतों का स्वाभाविक काम है। हां इस से हटना महाफल है॥५६॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

---

* जब यह धर्म विरुद्ध न हों, तो इ । में दोष नहीं, जैसे मांस भक्षण प्राण के खतरे आदि में, मद्यपान क्षत्रियों को (सौत्रामणि में,) वा ऐसा मदकर द्रव्य जिसका विधि निषेध नहीं, जैसे पान आदि। मैथुन विना ऋतु अपनी स्त्री के पास जाना। इन में दोष नहीं है, (यह टीकाकारों ने आशय लिया है)॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।
अशुद्धा बांधवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥५८॥
दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक्संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

(नया प्रकरण आरम्भ करते हैं) अब मैं चारों ही वर्णों के प्रेतों की (मरों की=मरे हुए के बान्धवों) की शुद्धि, और द्रव्यों की शुद्धि क्रमशः ठीक २ कहूंगा ॥ ५७ ॥ जिस के सभी दान्त निकल आए हैं, वा निकलने से पहले जिसका मुण्डन हो चुका है * उसके मरने पर सब बान्धव (सपिण्ड भी और समानोदक भी) अशुद्ध होते हैं सूतक में भी ऐसा ही कहा गया है † ॥ ५८ ॥ सपिण्डों में पुरुष का आशौच दस दिन बतलाया है, (वा) अस्थियों के चुननेतक ‡ वा तीन दिन वा एक दिन

---

* 'अनुजाते' और 'कृत चूडे' का इकट्ठा अर्थ करने से अर्थ युक्तियुक्त बन जाता है। जैसा कि ऊपर किया है। परन्तु मेधा० गोवि० नारा० 'अनुजाते' को स्वतन्त्र रखते हैं, जिसके दान्त निकल आए हैं, उससे छोटा बालक। कुल्लू० दान्त निकलने के पीछे, अर्थ लेता है, राघ० दान्त गिरकर दुबारा उत्पन्न हुए दान्तोंवाला लेता है, नन्द० फिर जन्मा=उपनीत, अर्थ लेता है। गोवि०, कुल्लू०, नारा० राघ० दूसरे 'च' से 'उपनीत' से अभिप्राय लेते हैं ।

† ५८-१०४ वासि० ४।१६-३७ गौत०१४ आप० १।१५।१८; २।१५।२-११ बौधा०१।११।१-८; १७-२३, २७—३२ याज्ञ०३।१-३० विष्णु०२२

‡ अस्थियें चौथे दिन चुनी जाती हैं। देखो विष्णु० १९। १०

*५९॥सपिण्ड सम्बन्ध सातवें पुरुष में छूट जाता है †और समानोदक सम्बन्ध जन्म और नाम के न मालूम रहने में (छूटता है) ॥६०॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥
सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२॥

---

* दस, चार, तीन वा एक दिन की व्यवस्था टीकाकारों ने दूसरी स्मृतियों के अनुसार रहकी है कि जो श्रौत अग्नियों को स्थापन किए हुए है और अपनी सारी वेदशाखा को पढा हुआ है,उसे एक दिन। जो इन दोनों में से एक से रहित है उसे तीन दिन, जो दोनों से रहित है, पर स्मार्त अग्निवाला है, उसे चार दिन, जो सब से रहित है, उसे दस दिन । मेधा० ने एक व्यवस्था इसप्रकार भी दिखलाई है कि पूर्व ४ । ९ में कही जीविका भेद से यह भेद है. छः कर्मोंवाले को दस दिन, तीनवाले को ४ दिन, २ वाले को तीन दिन, १ वाले को एक दिन † पिता, पितामह, और प्रपितामह इन तीनों को पिण्ड दिया जाता है. और उससे ऊपर के तीन, अर्थात् प्रपितामह के पिता पितामह.प्रपितामह,यह पिंडके लेप भागी हैं,इन छः के लिए पिण्ड दिया जाने से, छटी पीढी तक सपिण्डता रहती है, उससे आगे सपिण्डता नहीं होती,किन्तु समानोदकता रहती है,अर्थात् जलांजलि इससे ऊपरलें के लिए भी दाजाती है । यह उदक सम्बन्ध वहांतक बना रहता है जहाँ तक यह ज्ञात है, कि इसका जन्म अमुक मूल पुरुष से है, जो हमारा भी मूल पुरुष है, वा हमारे मूल पुरुष के ही वंश में है, इस प्रकार समान वंश और एक मूल पुरुष का पता जब तक ज्ञात है, तब तक उदक सम्बन्ध बना रहता हैं, इस उदक सम्बन्ध वाले सब आपस में समानोदक कहलाते हैं । इस जन्म नामके भूल जाने पर उदक सम्बन्ध न रहने से समानोदकता निवृत्त होजाती है ॥

निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्धयति।
बैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

जैसे यह मृतक का आशौच सपिण्डों में विधान किया है, इसीप्रकार जन्म में भी होता है, जोकि पूरी शुद्धि चाहते हैं * ॥ ६१ ॥ (पर इतना भेद है कि) मरण का आशौच तो सब को होता है किन्तु सूतक (जन्म का आशौच) माता पिता को ही होता है, (उसमें भी) पूरा सूतक माता को ही होता है, पिता स्नान करके शुद्ध होजाता है ॥ ६२ ॥ वीर्य को निकाल कर पुरुष निरे स्नान से शुद्ध होता है। पुनर्विवाहिता † में पुत्र उत्पन्न होने से तीन दिन आशौच रहता है ॥ ६३ ॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशोविशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥
गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्धयति ॥ ६५ ॥

---

* ६१—६२ मेधा० और गोविन्द इन दो श्लोकों के स्थान एक ही श्लोक इसप्रकार मानते हैं :—' जननेऽप्येवमेवस्यान्माता पित्रोस्तु सूतकम्। सूतकं मातु रेवस्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥ ' जनने में भी ऐसे ही (आशौच) होता है, पर यह आशौच माता पिता को होता है, (सारे सपिण्डों को नहीं) उसमें भी (सूतक) निरा माता को ही होता है, पिता स्नान करके शुद्ध होजाता है " प्रतीत तो यही पाठ ठीक होता है, क्योंकि दोनों श्लोकों का तात्पर्य इसप्रकार एक में सारा आजाता है, और यही दो टीकाकार सब से पुराने हैं, नन्दन ने भी ऐसा ही पाठ माना है, पर जैसा कि अब सभी पुस्तकों में दो श्लोक मिलते हैं,ठीक वैसे ही रहने दिए हैं। यह अर्थ गोवि० कुल्लू० और राघ० के अनुसार है। मेधा० और नारा० थोड़ा सा भेद करते हैं ॥

मृतक को स्पर्श करनेवाले एक दिन रात और तीन गुने तीन (दिन) रात (अर्थात् दस दिन) से शुद्ध होते हैं, और जल देनेवाले तीन दिन से* ॥६४॥ जब कोई शिष्य मरे गुरु का पितृमेध (अन्त्येष्टि) करता है, तो वह मृतक को उठाकर (श्मशान भूमि में) लेजाने वालों के साथ दस दिन से शुद्ध होता है ॥६५॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥
नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥
ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादृते ॥ ६८ ॥
नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥
नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥७०॥

---

* गोवि० नारा० के अनुसार यह दस दिन का आशौच उनके लिए है, जो न सपिण्ड हों, न समानोदक हों, और न ही धर्मार्थ मृतक को उठाकर लेजाएं, किन्तु मूल्य लेकर। पर कुल्लू० राघ० के अनुसार यह उन सपिण्डों के लिए है, जिनको पूर्व [५९ में] गुणों की अपेक्षा से चार, तीन वा एक दिन कहा है, वही यदि मृतक को उठाएं, तो साधारण सपिण्डों की तरह उन्हें भी दस दिन ही होता है। मेधा० के अनुसार उन सब के लिए है, जो शव को स्पर्श करें, चाहे वह सपिण्ड हों वा मूल्य से लेकर शव को उठा ले जाएं। जो धर्मार्थ उठा लेजाएं, उनकी शुद्धि केवल स्नान से होजाती है

गर्भ गिरने में स्त्री (गर्भ के) महीनों के बराबर दिनों से शुद्ध होती है*, और रजस्वला पतिव्रता स्त्री रज के बन्द होने पर स्नान से (शुद्ध होती है) ॥ ६६ ॥ जिनका चूड़ाकरण नहीं हुआ है, उन बच्चों (के मरने में सापिण्डों की) एक (दिन और) रात से शुद्धि कही गई है, और जिनका चूड़ाकरण होचुका है, (पर अभी उपनयन नहीं हुआ) उन (के मरने पर सापिण्डों) की शुद्धि तीन रात से होती है ॥ ६७ ॥ पूरे दो वर्ष का होने से पहले जो मरा है, उसको बान्धवजन (पुष्प माला आदि से) भूषित करके ग्राम से बाहर शुद्ध भूमि में गाड़ देवें, बिना अस्थि संचयन के (अस्थि संचयन न करें) ॥ ६८ ॥ ऐसे (बालक) का न अग्नि संस्कार करें न उदक क्रिया (जलाञ्जलि देवें) जंगल में लकड़ी (के टुकड़े) की तरह त्यागकर तीन दिन आशौच करें ॥ ६९ ॥ बान्धव उसकी उदक क्रिया न करें, जो तीन वर्ष का नहीं है, यदि दांत उत्पन्न होचुके हैं, वा नामकरण होचुका है, तो उसकी उदक क्रिया कर सक्ते हैं ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥७१॥
स्त्रीणामसंस्कृतानांतु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः ।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२॥

---

*कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार छःमहीने तक यह नियम है, और 'रात्रिभिः' बहुबचन देने से तीन रात से न्यून आशौच पहले और दूसरे महीने भी नहीं होता, और यह चारों वर्णों के लिए एक जैसा है। इसके पीछे अपने २ वर्णों के अनुसार पूरा आशौच होता है ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च तेऽन्वहम् ।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥७३॥
विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद् यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचि र्भवेत् ॥७४॥
सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिबान्धवैः॥७५॥
अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥७६॥

सहाध्यायी के मरने पर एक दिन आशौच कहा है, और जन्म में * समानोदकों की तीन (दिन) रातों से शुद्धि मानी है ॥ ७१ ॥ (वाग्दान दीहुई) अनविवाही स्त्रियों के (मरने में) बान्धव (वर आदि) तीन दिन से शुद्ध होते हैं, और इसीप्रकार † से पितृपक्ष के लोग शुद्ध होते हैं ॥ ७२ ॥ (जब तक आशौच है, तब तक वह) भोजन बनावटी लवण के बिना खाएं, प्रतिदिन ‡ स्नान करें, मांसाहार न खाएं और अकेले २ भूमि पर (सत्थर पर) सोवें ॥ ७३ ॥ (मृत के) निकट होने में (मरने के दिन का पता लग जाने से) मृतक के आशौच की यह विधि कही है, निकट न होने में सम्बधि और बान्धवों (समानोदक और सपिण्डों) को यह विधि जाननी चाहिये ॥७४॥ विदेश में स्थित मरे को यदि दस दिन से पहले सुनें, तो जो दस (दिन) रात में से

* पूर्व६४ में मरनेमें कही है †पूर्व ६७में कहे प्रकार से[मेधा०, गोवि०, नन्द०] इसीप्रकार=बान्धवों की तरह तीन दिनसे [कुल्लू० नारा०, राघ०) ‡ 'अन्वहम्' पाठ, नन्द० के अनुसार लिखा है ।

बचता है उतनी देर ही वह अशुचि होता है * ॥७५॥ यदि दस दिन बीत चुके हों तो तीन (दिन) रात अशुचि होता है † और यदि बरस बीत चुका हो, तो निरे स्नान से शुद्ध होता है॥७६॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः॥७७॥
बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुद्ध्यति ॥७८॥

(आशौच) के दस दिन निकल जाने पर ज्ञाति का मरना वा पुत्र का जन्म सुनकर वस्त्रों सहित जल में स्नान कर मनुष्य शुद्ध होता है ‡ ॥ ७७ ॥ दूर देश में स्थित बालक (जिस के दांत उत्पन्न नहीं हुए) (वा युवा वा वृद्ध भी) असपिण्ड (समानोदक) मरे, तो (सुनकर) वस्त्र समेत स्नान करके तत्काल ही शुद्ध होता है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥
त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः॥८०॥

---

* दस दिन उपलक्षण है अर्थात् जिसका जितने दिन आशौच शेष है, उसे उतने दिन होता है [देखो आगे ८३]

† यह नियम चारों वर्णों के लिए है। पूर्व ६४में ३ दिन से शुद्धि कही है, उसके साथ विरोध हटाने के लिए मेधा० ने ज्ञाति से अभिप्राय असपिण्ड [समानोदक] से लिया है, कुल्लू० ने पूर्वला आशौच कर्म में अयोग्यता का और यह स्पर्श में अयोग्यता का लिखा है ।

श्रोत्रिये तूपसम्पन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥
प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहःकृत्स्नमनूचाने तथाऽगुरौ ॥ ८२ ॥

(आशौच के) दस दिन के अन्दर यदि फिर * जन्म वा मरण हो, तो उतनी देर ही ब्राह्मण अशुचि होगा, जब तक (पहले आशौच के) दस (दिन) नहीं निकलते ॥ ७९ ॥ आचार्य के मरने पर शिष्य को तीन (दिन) रात आशौच कहते हैं, और उसके पुत्र और पत्नी के मरने पर एक दिन रात, यह मर्यादा है ॥ ८० ॥ निकटवर्ती † श्रोत्रिय (के मरने) पर तीन दिन अशुचि होता है, मामा, शिष्य, ऋत्विज् और बान्धवों (मातृपक्ष के सम्बन्धियों के मरने) पर पूर्वले और परले दिन समेत एक रात ।८१॥जिसके देश में रहता हो,उस राजाके मरने पर ज्योतितक‡, वेद न जाननेवाले (निकटवर्ती), तथा वेद वेदांग के जाननेवाले गुरु भिन्न § के मरने पर पूरा दिन (आशौच होता है) ॥८२ ॥

---

* फिर कहने से यह अभिप्राय निकलता है, कि दोनों बार एकही जाति का आशौच हो, अर्थात् यदि पहले जन्म हो, तो फिर भी जन्म ही हो, वा पहले मरण हो, तो दुबारा भी मरण ही हो, तब यह नियम है । जन्म के पीछे मरण वा मरण के पीछे जन्म हो, तो जो पिछला हो,उससे आशौच निकलता है † निकटवर्ती से अभिप्राय मेधा० अपना संगी, नारा० पड़ोसी, कुल्लू० अपने घर में रहने वाला, लेता है ‡ दिन को मरे तो जब तक सूर्य है, रात को मरे तो जब तक तारे हैं, § ' अनूचाने तथा गुरौ ' हमने नन्द० के अनुसार ' अगुरौ ' पदच्छेद करके यह अर्थ सीधा कर दिया है । गोवि०, कुल्लू०, और राघ० ' गुरौ ' पदच्छेद करके यह अर्थ लेते हैं, कि वेद वेदांग के जाननेवाले गुरु के मरने पर, गुरु से अभिप्राय यहां ऐसे गुरु से लेते हैं, जो पूर्व २ । १४९ में कहा है, कि जिसने थोड़ा बहुत भी उपकार किया है ॥

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥
न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥८४॥

ब्राह्मण दस दिन से, क्षत्रिय बारह दिन से, वैश्य पन्द्रह दिन से और शूद्र महीने से शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ आशौच के दिन बढ़ाए नहीं, (श्रौत) अग्नियों में जो कर्म (अग्निहोत्र वा इष्टियें) हैं, उनमें नागा न करे, क्योंकि इस कर्म को करता हुआ अशुचि नहीं होता चाहे सपिण्ड ही हो ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥८५॥
आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥८६॥
नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥८७॥
आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥
वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥८९॥

चण्डाल, पतित, रजस्वला, सूतकवाली स्त्री, मुरदे और उसके छूने वाले को छूकर स्नानसे शुद्ध होता है ।८५। आचमन

करके शुद्ध हुआ * अपवित्र (वस्तु वा पुरुष) के देखने पर सदा सूर्य सम्बन्धी मन्त्र और पावनी ऋचाएं † यथाशक्ति उत्साह के अनुसार जपे । ८६ । मनुष्य की हड्डी जो चर्बीवाली हो उसको छूकर ब्राह्मण स्नान करके शुद्ध होता है, और जो चर्बीवाली न हो उसके स्पर्श से निरा आचमन करके, वा गौ को स्पर्श करके, वा सूर्य को देखकर (शुद्ध होता है) । ८७ । ब्रह्मचर्य व्रत को करता हुआ, व्रत के समाप्त होने तक जलाञ्जलि न दे, व्रत के समाप्त होने पर जलाञ्जलि देकर निरे तीन दिन से शुद्ध होता है ‡ ॥ ८८ ॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥
आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निहृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥
दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

वृथा उत्पन्न हुए, § संकर से उत्पन्न हुए, ¶ संन्यास ‖ में

---

* देवता वा पितरों की पूजा करने के लिये आचमनादि से शुद्ध हुआ चण्डालादि को देखे,तो[मेधा०कुल्लू नारा,राघु]† सौरमन्त्र ऋग्० १ । ५० । पावनी ऋचाएं मण्ड ९ में हैं ‡ जब तक ब्रह्मचर्य में है, तब तक सिवाय माता पिता गुरु के (देखो ९१) किसी के लिये कुछ न करे, व्रत को समाप्त करके सबको एक ही साथ जलाञ्जलि देकर तीन दिन के पीछे शुद्ध हो जाता है ।

§ वृथा उत्पन्न हुए=अपने धर्म को त्यागे हुए (गोवि० कुल्लू० नन्द०राघ०) बरस भर जो किसी आश्रम में न रहें (मेधा०) नपुंसक (नारा०) ¶ ऊंचे वर्ण की स्त्री से निचले वर्ण के पुरुष से उत्पन्न हुए ‖ वेदबाह्य मेधा० रक्तपटादि संन्यासी (कुल्लू०)

वर्तमान हुए और (फांसी आदि से) अपना त्याग करने वालों की उदक क्रिया (जलाञ्जलि का कर्म) नहीं होती । ८९। स्त्रियें जो पाषण्ड (वेदविरुद्ध संन्यासादि) के आश्रित हैं*, इच्छा से (अनेकों के साथ) रहने वाली, गर्भ वा भर्ता से द्रोह करने वाली,† और शराब पीने वाली हैं (उनकी उदक क्रिया नहीं होती) । ९० । ब्रह्मचारी अपने मरे आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता, वा गुरु‡ को (श्मशान भूमि में) उठाले जाकर अपने व्रत से अलग नहीं होता है । ९१ । मरे शूद्र को पुर के दक्षिणद्वार से निकाले, और द्विजों (वैश्य,क्षत्रिय और ब्राह्मण)को यथायोग्य पश्चिम, उत्तर और पूर्व (द्वार से) । ९२ ।

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥९३॥
राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥
डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥९५॥

राजाओं को आशौच का दोष नहीं होता है, न उनको जो व्रत (ब्रह्मचर्य वा चान्द्रायणादि) पूरा कर रहे हैं, वा सत्र (लंबा यज्ञ,गवामयमन आदि) पूरा कर रहे हैं, क्योंकि

---

* मेधा० (पाषण्डमाश्रितानां) को पुरुषों के विषय में लगा कर, कापालिक और रक्तपटादियों से अभिप्राय लेता है । और नारा, बौद्धादि से † गर्भ से द्रोह, गर्भ न होने के लिये औषधि करना वा गर्भ गिराना, भर्ता से द्रोह भर्ता को विष आदि देना ‡ गुरु यहां २ । १४९ में कहा अभिप्रेत है ।

वह इन्द्र के स्थान * पर सदा ब्रह्मतुल्य (पवित्र) हैं। ९३। राजा जिस लिये महान् आत्मा वाले के स्थान पर स्थित है, इस लिये उसी समय शुद्धि कही है, इस में कारण यह है, कि वह (उसस्थान पर) अपनी प्रजा की रक्षा के अर्थ स्थित है। ९४। जो दंगे बलवे वा युद्ध में मारे गए हैं, तथा बिजली और राजा से मारे गए हैं, गौ वा ब्राह्मण के (बचाव) के लिये (मारे गए हैं, इनके बान्धवों को भी सद्यः शौच होता है) और जिस को (किसी आवश्यकता के लिये) राजा चाहे (वह भी उसी समय शुद्ध है)। ९५।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानांवपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥
लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्॥९७॥

राजा आठ लोकपालों का† अवतार होता है,‡ अर्थात् चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, धन और जल के अधिपति (=कुबेर और वरुण) और यमका। ९६। राजा इन लोकपालों से भरा हुआ है, अतएव इसको आशौच का विधान नहीं है, क्योंकि मनुष्यों का शौच आशौच इन लोकपालों से उत्पन्न और नाश होता है। ९७।

---

* प्रजा पालन के पवित्र अधिकार वा पवित्र व्रतों में स्थिति इन्द्र के स्थान पर स्थिति है।

† लोक पाल=जगत् के रक्षक देवता ‡ अक्षरार्थ-शरीर धारता है देखो आगे ७। ४ § मेधा० 'लोकेश प्रभवाप्ययौ' पाठ पढ़कर उत्तरार्ध का यह अर्थ करता है, कि शौच और आशौच

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥९८॥
विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

संग्राम में उठाए हुए शस्त्रों से जो क्षत्रियों के धर्म्म से मरा है (पीठ न देकर), उसका उसी समय यज्ञ*पूर्ण होता है, और वैसे ही आशौच (उसी समय पूरा होजाता है) यह मर्यादा है । ९८ । (आशौच की समाप्ति पर) ब्राह्मण आवश्यक कर्म करने के पीछे जल को,‡ क्षत्रिय घोड़े और शस्त्र को, वैश्य आंकुस वा (बैलों की नासा की) रस्सी को, और शूद्र अपनी छड़ी को स्पर्श करके शुद्ध होता है । ९९ ।

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

मनुष्यों को होते हैं, और शौचाशौच की प्रवृत्ति और निवृत्ति लोक पालों से होती है, नारा० नन्द० 'लोकेशप्रभवो ह्ययम्' पढ़ कर यह अर्थ करते हैं, क्योंकि राजा लोक पालों से उत्पन्न हुआ है, नारा० 'लोके शप्रभवेऽप्ययः' भी पाठान्तर देकर यह अर्थ करता है, लोक पालों से उत्पन्न हुए (राजा) में [शौच आशौच का] अभाव है ॥

* क्षत्रिय का युद्ध में सम्मुख लड़कर मरना अश्वमेध यज्ञ के तुल्य है, यह अभिप्राय है (सम्पादक)यज्ञ = श्रौतयज्ञ[मेधा०कुल्लू० राघ०] पितृ यज्ञ = उसका सारा पितृ कर्म उसी समय समाप्त कर देना चाहिये [नारा०] † कर्म यहां स्नान है, क्योंकि और कोई कहा नहीं [मेधा०] श्राद्धादि कर्म [कुल्लू०] दाढ़ी का मुंडवाना आदि (राम०) ‡ जल को स्पर्श करना स्नान करना है [नारा०] दाएं हाथ से जल को छूना मात्र [कुल्लू०]

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥१०१॥
यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत ॥ १०२ ॥
अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलःस्पृष्ट्वाग्निं घृतंप्राश्यविशुध्यति॥१०३।
न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

हे द्विजों में श्रेष्ठो ! यह शौच (मरे) सपिण्डों के विषय में तुम्हें कहा है, अब जो सपिण्ड नहीं हैं, उन सब के विषय में प्रेत शुद्धि को जानो । १०० । ब्राह्मण मरे असपिण्ड ब्राह्मण को बन्धु की तरह बाहर लेजाकर, और माता के निकट के बन्धुओं को बाहर लेजाकर तीन दिन से शुद्ध होता है । १०१। पर यदि उनका (मरे के सपिण्डों का) अन्न खाता है, तो दस दिन से ही शुद्ध होता है, यदि, अन्न नहीं खाता है, और न उस घर में रहता है, तो एक ही दिन से (शुद्ध होता है) * । १०२ । ज्ञाति वा अज्ञाति के मुर्दे के पीछे अपनी इच्छा से जाए, तो वस्त्रों समेत स्नान करके, अग्नि को स्पर्श करके, फिर घी को खाकर शुद्ध होता है । १०३ । अपनों (सजातियों) के होते हुए मृत ब्राह्मण को शूद्र से न निकलवाए, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित वह आहुति (शरीराहुति,) मृतक को स्वर्ग के लिये अच्छी नहीं † । १०४ ।

* इस से सिद्ध होता है, कि पूर्व १०१ में कही तीन दिन से शुद्धि उसके लिये है, जो उनका अन्न तो नहीं खाता है, पर उस घर में रहता है † नारा० के अनुसार यह नियम केवल ब्राह्मण के लिये है, मेधा० कुल्लू० के अनुसार सब द्विजों के लिये है ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥१०५॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थेशुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारिशुचिःशुचिः ॥१०६॥
क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥
मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः॥१०८॥
अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥१०९॥

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मट्टी, मन, जल, लेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल यह लोगों की शुद्धि करने वाले हैं * ॥१०५॥ सारी शुद्धियों में से धन की शुद्धि † सब से उत्तम कही गई है, जो धन में शुद्ध है, वह शुद्ध है, (धन में अशुद्ध रह कर)

---

* बौधा० १।८।५२ याज्ञ० ३।३१। विष्णु० २२।८८। यहां जो शुद्धिकारक कहे हैं इनमें से ज्ञान और तप के लिये देखो आगे१०९ अग्नि के लिए १२२, आहार=पवित्र फल मूलादि शरीर के शोधक होते हैं। मट्टी जल के लिए देखो १०८-१११ मन के लिए देखो ६।४६ और ११।२२९-२३२। लेपन के लिए देखो १२२ वायु और सूर्य अपवित्रता के शोधिक प्रसिद्ध हैं, कर्म के लिये देखो ११।२४५ काल का उदाहरण सारा शौच प्रकरण है † नेक कमाई से कमाया धन

मट्टी और जल से शुद्ध शुद्ध नहीं * ॥ १०६ ॥ विद्वान् क्षमा से शुद्ध होते हैं, निषिद्ध कार्य करने वाले दान से, गुप्त पापों वाले जप से, वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ पुरुष तपसे (शुद्ध होते हैं)† ॥ १०७ ॥ (मैल आदि से लिबड़ी) शोधने योग्य वस्तु मट्टी जल से शुद्ध होती है‡, नदी वेग से शुद्ध होती है, जिस के मन में दोष उत्पन्न हुआ है वह स्त्री ऋतु (आने) से, और ब्राह्मण संन्यास से शुद्ध होता है § ॥ १०८ ॥ जल से अंग शुद्ध होते हैं, मन सचाई से शुद्ध होता है, विद्या और तप से जीवात्मा और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है ‖ ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥११०॥
तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥१११॥
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥११२॥
अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥११३॥
ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणःसीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥११४॥

*याज्ञ० ३ । ३२ विष्णु० २२ । ८९ † याज्ञ० ३ । ३३ विष्णु० २२ । ९०
‡ नदी में पड़ा मैला, वा बिगड़ा पानी, बाढ से शुद्ध होता है § वासि० ३ । ५८ याज्ञ० ३ । ३२ विष्णु० २२ । ९१ ‖ वासि० ३ । ६० याज्ञ० ३ । ३३-३४ विष्णु० २२ । ९२ ॥

यह तुम्हें शरीर सम्बन्धी शुद्धि का निश्चय कहा, अब अनेक प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं)की शुद्धि का निश्चय सुनो *।११०। धात के बने (पात्रों) मणियों और पत्थर से बने (पात्रों) की शुद्धि बुद्धिमानों ने भस्म मिट्टी और जलसे † कही है‡॥१११॥ सोने का बर्तन जो (घी आदि से) लिप्त नहीं, वह निरे जल से शुद्ध होता है,तथा जल में उत्पन्न होने वाले (शंख सीपी आदि), पत्थर के बने बर्तन और चांदी का बना बर्तन जो चित्रा हुआ न हो ॥ ११२ ॥ जल और अग्नि के संयोग से सोने और चान्दी के बर्तन चमके हैं, इसलिये इन दोनों की शुद्धि अपने (चमकाने वाले) कारण से ही अधिक गुणवाली है ॥११३॥ तांबा लोहा कांसी पीतल कलई और सीसे (के बर्तनों) की शुद्धि यथायोग्य (जो जहां योग्य हो) खार, खट्टे पानी और पानी से करनी चाहिये

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥११५॥
मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्माणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥
चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेनवारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७॥

---

* विष्णु २२ । ९३ † (अशुद्धवस्तु से) लिप्त न हों, तो निरे धोने से, लिप्त हों, तो मट्टी वा भस्म से मांजकर धोने से ‡ १११ –१२६ वासि ३ । ४१–५७, ५९, ६१–६३ गौत १ । २९–३४ आप १ । १७ । ८–१३ ; ५ । ३ । ९ बौधा० १ । ८ । ३२–१३।१९ । १–३, ७–१२, १० । १–९, १३ । ११–१४, १९ याज्ञ १ । १८२–१९० विष्णु २३ । २–४६,५६

बहने वाले (घी, तैलादि) सब पदार्थों की शुद्धि * उत्पवन से कही है, संहतों (शय्या आसनादि) की जल छिड़कने से, और लकड़ी की वस्तुओं की छीलने से ॥ ११५ ॥ यज्ञ कर्म में (सोम के पात्र)जो चमस और ग्रह हैं उनकी और दूसरे यज्ञपात्रों की शुद्धि हाथ से मलने, और (फिर जल से) धोने से होती है ॥११६॥ चरु, स्रुक्, स्रुव, स्फ्य, छाज, छकड़ा, मूसल और ओखली की शुद्धि गर्म पानी से होती है ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥११८॥
चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥११९॥
कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥
क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥१२१॥

अनाज और कपड़े बहुत हों, तो उनकी जल छिडकने से, और थोड़े हों, तो जल के साथ धोने से शुद्धि विधान की है ॥ ११८ ॥ चमड़े और बेत की बनी (वस्तुओं) की शुद्धि कपड़ों की नाई होती है, और शाक, मूल और फलों की अनाज की तरह शुद्धि मानी है ॥ ११९ ॥ रेशमी और ऊनी (वस्त्रों) की सुनहरी मट्टी (मट्टी की खार) से, नेपाली कंबलों की रीठों

---

* उत्पवन = दो कुशाओं से निकालकर बाहर छिड़कना; कपड़े से छानलेना (नारा०)

से, महीन साड़ियों की बिछौों से और अलसी के कपड़ों की श्वेत सरसों से (शुद्धि होती है) ॥ १२० ॥ शंख, सींग, और हड्डी और दांत की वस्तुओं की शुद्धि अलसी के वस्त्रों की तरह गोमूत्र वा जल से करनी चाहिये* ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥१२२॥
मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृण्मयम् ॥१२३॥
संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥१२४॥
पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥१२५॥
यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

घास,लकडी,और डंठल (जल) छिडकने से,तथा शोधने और लीपने से घर, मट्टी का बर्तन फिर (आग में) पकाने से शुद्ध होता है ॥ १२२ ॥ पर मद्य, मूत्र, विष्टा, पीप और रुधिर से लिप्त हुआ मट्टी का बर्तन फिर पकाने से शुद्ध नहीं होता है ॥१२३॥ भूमि इन पांच से शुद्ध होती है शोधने; लीपने; छिडकने छीलने और गौओं के लगातार निवास से (अशुद्धि की न्यूनाधिकता देखकर यह अलग २ वा इकट्ठे बर्ते जाते हैं) ॥१२४॥ (पका

* अर्थात् श्वेत सरसों का चूर्ण गोमूत्र वा पानी से युक्त हो ।

अन्न जो पक्षियों से खाया गया, गौ से सूंघा गया, पैरं से कंपाया गया, जिस पर छींका गया है, बालों से वा कीड़ों से दूषित हुआ है, मट्टी पर फैंकने से शुद्ध होता है * ॥१२५॥ सभी द्रव्य-शुद्धियों में मट्टी और जल तब तक लगाते जाना चाहिए, जब तक अपवित्र से लिबडी वस्तु से उस (लिबडी वस्तु का) गन्ध और लेप दूर न होजाए ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणनामकल्पयन् ।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७॥
आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः॥ १२८ ॥

देवताओं ने तीन वस्तुएं ब्राह्मणों के लिए पवित्र कही हैं, अदृष्ट * जल से शुद्ध किया हुआ, और जो (ब्राह्मणों की) वाणी से (पवित्र है, ऐसे) प्रशंसा किया गया है † ॥१२७॥ भूमि पर के (न कि घड़े आदि के) जल जिनमें एक गौ की प्यास बुझ सक्ती है, शुद्ध होते हैं, पर यदि अपने (असली) गन्ध, रङ्ग और रस से युक्त हों, और अपवित्र वस्तु से युक्त न हों ‡ ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्यं यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः॥१२९॥
नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिःफलपातने ।

---

* उस के ऊपर मट्टी फैंकने से (कुल्लू०)

* जिसका अपवित्र होना किसीने देखा नहीं, उसे निरी सम्भवना से अपवित्र न समझलें, † वासि० १४ । २४; बौधा० १ । ९ । ९ याज्ञ० १ । १९१ ; विष्णु० २३ । ४७ ‡ वासि० ३ । ३५-३६, ४७ ; बौधा० १ । ९ । १० , याज्ञ० १ । १९२ । विष्णु० २३ । ४३ ;

प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥१३०॥
श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥१३१॥
ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥१३२॥

कारीगर का हाथ सदा शुद्ध है, और मण्डी में जो (बेचने के लिये कच्ची) वस्तु फैलाई गई है, और ब्रह्मचारी के पास जो भिक्षा है वह सदा पवित्र है, यह मर्यादा है * ॥१२९॥ स्त्रियों का मुख सदा शुद्ध है, पक्षी (कुतरकर) फल गिराने में शुद्ध है बछड़ा दूध बहाने (गौ के पसमाने) में शुद्ध है, कुत्ता हरिण के पकड़ने में शुद्ध है † ॥१३०॥ कुत्तों से मारे हुए, तथा कच्चा मांस खानेवाले (पशु पक्षियों) से मारे हुए और चण्डाल आदि नीच जातियों से मारे हुए (पशु) का जो मांस है, वह मनु ने शुद्ध बतलाया है ‡ ॥१३१॥ नाभि से ऊपर जो इन्द्रिय हैं, वह सब पवित्र है (उनके स्पर्श में हाथ अशुद्ध नहीं होता) पर जो (नाभि से) निचले हैं, वह अपवित्र है, और देह से बाहर आए मल (देखो आगे १३५) अशुद्ध § हैं ॥१३२॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥१३३॥
विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।

---

* बौधा० १।९।१ विष्णु० २३।४२ † बौधा० १।९।२ याज्ञ० १।१९३ विष्णु० २३।४९ ‡ वासि० ३।४५ याज्ञ० १।१९२ विष्णु० २३।५० § याज्ञ० १।१९४ विष्णु० २३।५१

देहिकानां मलानांच शुद्धिषु द्वादशस्वपि॥१३४॥
वसाशुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ।
श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणांमलाः ॥१३५॥
एका लिंगे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
उभयोःसप्तदातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनांतु चतुर्गुणम् ॥१३७॥
कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मक्खियें, बूंदें, * छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरणें, धूल, भूमि, वायु, अग्नि, यह छूने में पवित्र माने † ॥ १३३ ॥ विष्ठा, और मूत्र के त्यागने वाले (अंगों) की शुद्धि के लिए प्रयोजन के अनुसार मट्टी जल लेना चाहिए ‡ तथा शरीर के (बारह) गिरे मैलों की बारह शुद्धियों में भी § ॥१३४॥ चरबी, वीर्य लहू, मज्जा (हड्डी के अन्दर की चर्बी) मूत्र, विष्ठा, नासा की मैल, कान की मैल, थूक, आंसु, गिड्ड, (आंख की मैल) और पसीना यह बारह शरीर के मल हैं ॥ १३५ ॥ शुद्धि चाहनेवालेको चाहिए

---

* बूंदें मुंह से निकलीं, (कुल्लू०, राघ०, नारा०) बूंदें, पानी की, जो दीखती नहीं, स्पर्श से प्रतीत होरही हैं, (मेधा०, गोवि०)
† याज्ञ० १ । १९३ विष्णु २३ । ५१ ‡ जितने से गन्ध लेप का क्षय हो § अगले श्लोक में, जो बारह मल गिने हैं, उनमें से पहले छः में मट्टी जल दोनों, अगले छः में निरा जल बर्तना चाहिए, वासि० ६ । १४ गौत० १ । ४१ आप० १ । १६ । १५ याज्ञ० १ । १७

कि (मल के त्यागने में) मट्टी एक बार लिंग पर, तीन बार गुदा पर, तथा एक हाथ (बांए हाथ) पर दस बार, फिर दोनों हाथों पर सात बार लगावे* ॥१३६॥ यह शौच गृहस्थों का है, इस से दुगुना ब्रह्मचारियों का, तिगुना वानप्रस्थियों का, और संन्यासियों का चौगुना होता है † ॥ १३७ ॥ मल वा मूत्र (का त्याग) करके आचमन कर इन्द्रियों का स्पर्श करे, तथा वेद पढ़ने लगा और अन्न खाने लगा भी सदा (इन्द्रियोंका स्पर्श करे) ‡॥१३८॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततोमुखम् ।
शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्रीशूद्रस्तुसकृत्सकृत् ॥१३९॥
शूद्राणा मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौ च कल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्॥१४०
नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः ।
न श्मश्रूणिगतान्यास्यन्नदन्तान्तरधिष्ठितम् ॥१४१॥
स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ यआचामयतः परान् ।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैरप्रयतो भवेत् ॥१४२॥

शारीरिक शुद्धि चाहता हुआ पहले तीन बार जलों का आचमन करे, फिर दो बार मुख पोंछे, पर स्त्री और शूद्र (यह

---

* वासि०६।१८ विष्णु ६०।२१ यह साधारण लोगों के लिए नियत कर दिया है, समझवालों के लिए गन्ध लेप के क्षय तक लगाने का नियम ही वास्तविक है † वासि० ६ । १९ विष्णु ६० । २६ ‡ गौत० १ । ३६ बौधा० १ । ८ । २६ विष्णु० ७२ । ८ इन्द्रिय केवल सिर के (गोवि०) नाभि, हृदय और सिर के (कुल्लू० नारा०] ॥

§ वाक

सब) एक २ बार करें * ॥ १३९ ॥ मर्यादा पर चलनेवाले † शूद्रों को महीने २ मुण्डन कराना चाहिए ‡ । उनके शौच का प्रकार वैश्य के तुल्य हो, और भोजन द्विजों का उच्छिष्ट हो § ॥ १४० ॥ (बोलते समय) मुख से निकली बूंदें जो शरीर पर पड़ती हैं ¶ वह झूठा नहीं करतीं, न मुंह में पड़े दाढ़ी के बाल, न दान्तों में धसी वस्तु ‖ ॥ १४१ ॥ दूसरों को आचमन कराते हुए के पाओं को जो बूंदें स्पर्श करती हैं, वह भूमि पर स्थित (जल) के तुल्य होती हैं, उनमे अशुद्ध नहीं होता है ** ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन ।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥१४३॥
वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् ।
आचामादेवभुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥१४४॥
सुप्त्वाक्षुत्वाचभुक्त्वाच निष्ठीव्योक्त्वानृतानिच ।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्चआचामेत्प्रयतोऽपिसन् ॥१४५

---

* वासि० ३ । २७—२८ गौत० १ । ३६ आप० १ । १६ । ३-८ बौधा० १।८।२०-२२ याज्ञ० १ । २० विष्णु ६२ । ६—८ † मर्यादा पर चलनेवाले=द्विजों की सेवा करनेवाले, [मेधा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०] ‡ 'मासिकं वपनं कार्यम्' प्रतिमास श्राद्ध करना चाहिए (नन्द) § आप० २।३।४-६ ¶ मेधा०, गोवि० नारा०, नन्दन 'अंगं न यान्तिया;' पाठ पढ़कर यह अभिप्राय लेते हैं (बून्दें) जो शरीर पर न पडें, अर्थात् किसी बाह्य वस्तु पर पडें, तो वह वस्तु अशुद्ध नहीं होती शरीर पर पडें तो न्हाना चाहिए ‖ वासि० ३। ३७, ४०—४१ गौत० १ । ३८ । ४१ आप० १ । १६ । १३ बौधा० १ । ८ । २३—२५ याज्ञ० १ । १९५ विष्णु २३ । ५३ ** वासि० ३ । ४२ विष्णु २३ । ५४

जो कोई वस्तु हाथ(वा किसी अंग)पर रखकर ले जारहा है; यदि वह किसी झूठे पुरुष वा वस्तु से किसी तरह छुआ गया है, तो उस वस्तु को नीचे रक्खे बिना ही आचमन करके शुद्धि को प्राप्त होता है * ॥ १४३ ॥ कै किये हो, वा दस्त हुए हों, तो स्नान करके घी भक्षण करे, पर खाने के पीछे (कै वा दस्त हुए हों) तो निरा आचमन ही करे, और मैथुनवाले को स्नान कहा है ॥१४४॥ सोकर छींककर, खाकर, थूककर, झूठ बोलकर, पानी पीकर और पढ़ने लगा आचमन करे चाहे पहले शुद्ध भी हो † ॥

एषशौचाविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैवच ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥१४६॥
बालया वा युवत्यावा वृद्धया वापियोषिता ।
नस्वान्तन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यंगृहेष्वपि ॥१४७॥
बाल्येपितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥१४८
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

यह तुम्हें (मनुष्य सम्बन्धी) शौच की सारी विधि और वस्तुओं की शुद्धि कहदी है, अब स्त्रियों के धर्म जानो ॥१४६॥

---

* वासि० ३।४३ गौत० १।२८ बौधा० १।८।२७—२९ विष्णु २३। ५५ † गौत० १। ३७ आप० १।५।१४ बाध० १।१९६ विष्णु० २२। ७५

स्त्री बाला हो वा युवति वा वृद्धा हो, उसे स्वतन्त्रता से (पिता आदि की अनुमति बिना) कोई काम नहीं करना चाहिए, चाहे अपने घर में ही हो * ॥ १४७ ॥ बालकपन में पिता के, यौवन में पति के, पति के मरने पर पुत्रों के अधीन रहे, स्त्री कभी स्वतन्त्र न होवे ॥ १४८ ॥ वह पिता, पति पुत्रों से अपना वियोग (जुदाई) न चाहे, क्योंकि इनके वियोग से स्त्री (पिता की और पति की) दोनों कुलों को निन्दा के योग्य बना देती है ॥ १४९ ॥ उसे सदा प्रसन्न, घर के कामों (के प्रबन्ध) में चतुर रहना चाहिए, रसोई के बर्तन सुथरे और सजे हुए रखना चाहिए, और खर्च में हाथ खुला नहीं रखना चाहिये † ॥ १५० ॥

यस्मैदद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥१५१॥
मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥१५२॥
अनृतावृतुकालेच मन्त्रसंस्करकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥१५३॥
विशीलःकामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवार्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥१५४॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

---

* १४७-१४९ देखो आगे ९ । २-३ याज्ञ० १ । ८५-८६ विष्णु० २६ । १२-१३ † याज्ञ० १ । ८३ विष्णु० २६ । ४—६ ॥

जिसे इसका पिता देवे, वा पिता की अनुमति में भाई देवे, वह जब तक जीता है, उसकी सेवा करे, और मरे को उलांघे नहीं *॥ १५१ ॥ स्वस्तिवाचन, और विवाह में प्रजापति का यज्ञ † इनके मंगल के लिये है, किन्तु दान (वाग्दान) ही (पति के स्त्री पर) स्वामीपन का कारण है ॥ १५२ ॥ पति जो कि मन्त्रों से संस्कार करनेवाला है, वह स्त्री का सदा सुखदाता है, ऋतुकाल में भी और बिना ऋतु के भी, इस लोक में भी और परलोक में भी ॥ १५३ ॥ खोटे स्वभाववाला हो, कामी हो, वा गुणों से रहित हो, तथापि भली स्त्री को पति सदा देवता की नाईं सेवन करना चाहिए ॥ १५४ ॥ न यज्ञ, न व्रत, न उपवास स्त्रियों का (अपने पति से) अलग होकर है, यदि वह पति की सेवा करती है, तो उसी से स्वर्ग में महिमा पाती है ‡ § ॥१५५॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥१५६॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैःशुभैः ।
नतुनामापिगृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्यतु ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।
योधर्मएकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥१५८॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥१५९॥

* याज्ञ० १ । ६३ विष्णु २६ । १४ † विवाह प्रजा—सन्तान उत्पादन के लिए है, इसलिये उसका देवता प्रजापति होने से विवाह यज्ञ प्रजापति का यज्ञ है ‡ याज्ञ० १ । ७७ विष्णु० २६ । १५ § १५५-१५६ देखो आगे ९, ४७, ६८ याज्ञ० १ । ७५-८७ ॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥१६०॥

भली स्त्री जो (मरने के पीछे) पति लोक (पति के साथ वास) को चाहती है, वह अपना हाथ पकड़नेवाले (पति) का कोई अप्रिय कार्य न करे, चाहे वह जीता है, वा मर गया है * ॥ १५६ ॥ बेशक † शुभ फूल फल मूल (पर निर्बाह) से अपने शरीर को दुबला करदे, पर पति के मरजानेपर दूसरे पुरुष का नाम भी न ले (तू मेरा पति हो, यह मुंह से भी न निकाले) ॥ १५७ ॥ जो धर्म एक पति वालियों का है, उस अत्युत्तम धर्म को (पालना) चाहती हुई मरण तक (सख्तियें) सहारती हुई अपने आप पर बस रखती हुई ब्रह्मचारिणी रहे ॥ १५८ ॥ अनेक सहस्र ब्राह्मण जो युवा होकर भी ब्रह्मचारी रहे हैं ‡ वह अपने कुल को जारी रखने के बिना भी स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं ॥ १५९ ॥ पति के मरने पर जो भली स्त्री ब्रह्मचर्य में स्थिर रहती है, वह बिना पुत्र भी स्वर्ग को जाती है जैसे वह ब्रह्मचारी § ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ।
सेहानिन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्चहीयते ॥ १६१ ॥
नान्योत्पन्नाप्रजास्तीह नचाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥१६२॥

---

* १५६-१६६ देखो आगे ९।६४-६८ याज्ञ १।७१—८७ । † बेशक कहने का यह अभिप्राय है, कि शरीर को दुबला बनाना भी उचित नहीं, पर पर पुरुषका संयोग और भी अनुचिततर है (मेधा०) ‡ सनक और बालखिल्य ऋषि (गोवि० कुल्लू०) § विष्णु० २६।१७

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैवसाभवेल्लोके परपूर्वेतिचोच्यते ॥ १६३ ॥

सन्तान के लोभ से जो स्त्री पति को उलांघती है, वह इस लोक में निन्दा को प्राप्त होती है, और पति लोक से हीन होती है ॥ १६१ ॥ क्योंकि (पति से) दूसरे से उत्पन्न हुई वह सन्तान (शास्त्रीय) नहीं होती है, और न ही दूसरे की स्त्री में (उत्पन्न की हुई सन्तान उत्पादक की होती है)और न ही*भली स्त्रियों का दूसरा पति कहीं कहा है॥१६२॥जो अपने निचले(वर्ण वा दर्जे के) पति को छोड़कर ऊंचे का सेवन करती है, वह लोक में निन्दा योग्य ही होती है,और परपूर्वा कहलाती है ॥१६३॥

व्यभिचारात्तु भर्तुःस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
साभर्तृलोकमाप्नोति सद्भिःसाध्वीति चोच्यते॥१६५॥
अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

पति से फिर जाने से स्त्री लोक में निन्दा को प्राप्त होती है (परलोक में) गीदड़ की योनि को प्राप्त होती है,और(कुष्ठादि) पाप रोगों से पीड़ित होती है॥१६४॥मन,वाणी वा देह से जो पति से फिर नहीं आती, वह पतिलोक को प्राप्त होती है, और सत्पुरुषों से साध्वी (भली) कही जाती है† ॥१६५॥ इस आचार से

---

* यह उस सन्तान के विषय में है, जो नियोग से उत्पन्न नहीं हुई (कुल्लू०)। † मेधा० ने १६५-१६६ श्लोक नहीं लिखे।

स्त्री मन, वाणी और देह को वश में रखती हुई यहां श्रेष्ठ कीर्ति को प्राप्त होती है, और परलोक में पतिलोक को ॥ १६६ ॥

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेवच ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१६९॥

ऐसे आचार वाली सवर्णा स्त्री (पति से) पूर्व मरे, तो धर्मज्ञ द्विज उसे अग्निहोत्र के और यज्ञ के पात्रों के साथ दाह करे * ॥ १६७ ॥ पहले मरनेवाली स्त्री को अन्त्येष्टि में अग्नियें देकर फिर विवाह करे, और फिर आधान करे ॥ १६८ ॥ इस विधि से बर्तता हुआ पञ्चयज्ञों को कभी न त्यागे, आयु का दूसरा भाग विवाह करके घर में रहे ॥ १६९ ॥

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

संगति—ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का निरूपण कर छटे में वानप्रस्थ और संन्यास का निरूपण करते हैं :—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

* १६७-१६८ याज्ञ० १। ८८

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषुभार्यांनिक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्‌ निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार धर्मानुसार स्नातक द्विज गृहाश्रम में रह कर पीछे दृढ़ नियम धारकर * इन्द्रियों को यथावत् जीतकर बन में बसे † ॥ १ ॥ गृहस्थ जब अपनी त्वचा ढीली, बाल श्वेत और सन्तान की सन्तान ‡ देख ले, तब बन का आश्रय ले ॥ २ ॥ ग्राम का सब आहार (गेहूं, चावल, आदि) और सारा सामान (गौ, घोड़ा शय्यादि) त्यागकर, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ वा साथ (जाना चाहे तो साथ) ही (लेकर § बन को

---

* नियत दृढ़ निश्चय वाला (गोवि०, कुल्लू०) तपस्वाध्याय आदि नियमों से युक्त (नारा०) † १-३२ वासि० ६ । १९-२०, ९ गौत० ३ । २६-३५ आप० २ । २१।१८-२३; २ बौधा० २।११।१४-१५ ३, १८ । ४-२२ याज्ञ० ३ । ४५-५५ ‡ मेधा० कहता है, कि सन्तान की सन्तान से अभिप्राय पुत्रका पुत्र है, न कि कन्याका पुत्र यह मत शिष्टसम्मत है। मेधा०कुल्लू०के अनुसार तीनों लक्षण जब मिल जाएं, तब वानप्रस्थ ले, पर नारायण के अनुसार इनमें से कोई भी लक्षण उत्पन्न हो तो वानप्रस्थ लेले § स्त्री की इच्छा साथ जाने की हो, तो साथ लेजाए, न हो तो घर छोड़ जाए। कई कहते है कि वृद्ध

जाए ॥ ३ ॥ (श्रौत) अग्नि और गृह्य (अग्नि) और अग्नि का सामान (स्रुक् स्रुव आदि) लेकर ग्राम से निकलकर जंगल में इन्द्रियों को बस में करके बसे ॥ ४॥ नाना प्रकार के, पवित्र, मुनियों के अन्न (सिमाक आदि) वा (जंगली) शाक मूल फल से इन्हीं पांच महायज्ञों को यथाविधि किया करे ॥५॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात् प्रगे तथा ।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥
यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद् बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

चमड़ा (मृगछाला) वा चीर * पहने, सांझ सवेरे स्नान करे, जटा, दाढ़ी (शरीर पर के) रोम और नख सदा धारण करे, (कटाए नहीं) ॥ ६ ॥ जो उसका भक्ष्य (खुराक) हो, उसमे यथाशक्ति बलि और भिक्षा देवे, और जो कोई अपने आश्रम में आवें, उनको जल मूल फलों की भिक्षा से पूजे ॥७॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

स्वाध्याय में सदा सावधान हो, अपने आपको बस में रक्खे, (सब में) मित्रता के बर्तावबाला हो, एकाग्र मन हो, सदा देना चाहे, लेना कभी न चाहे, सब जीवों पर दया करनेवाला हो॥८॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

हो तो साथ लेजाए, युवति हो तो घर छोड़ जाए । मेधा० *चीर= वस्त्र खण्ड (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) कुशा आदि का बना वस्त्र (गोवि०, नारा० राघ०) ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥
वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥
देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम् ॥ १२ ॥
स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥ १३ ॥
वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि ॥ १४ ॥

तीन अग्नियोंमें शास्त्र के अनुसार अग्निहोत्र करे, और अपने समय पर *अमावस्या और पौर्णमासी के पर्व को न त्यागे ॥९॥ नक्षत्रेष्टि † नए अन्न की इष्टि, चातुर्मास्य, तुरायण और दाक्षायन यज्ञ ‡ करे ॥ १० ॥ पवित्र अन्न जो मुनियों के (योग्य) हैं, जो वसन्त, और शरद ऋतु में उत्पन्न होते हैं, और जो स्वयं इकट्ठे किए हैं, उनसे विधि के अनुसार पुरोडाश और चरु अलग २ बनाए ॥ ११ ॥ यह जंगली पवित्रतर हवि देवताओं

---

* योगतः=अपने समय पर (कुल्लू०, राघ०) विधि से [मेधा गोवि०] उद्योग से [नारा०] † मेधा० ऋक्षेष्टि के स्थान दर्शेष्टि पढ़ता है, ‡ तुरायण और दाक्षायण दोनों श्रौतयज्ञ हैं तुरायण देखो शांखा० श्रौतसूत्र ४।११ दाक्षायण देखो आश्व० श्रौतसूत्र २।१४

के लिए होम करे, शेष आप बर्ते, और आप तय्यार किये *लवण को बर्ते ॥ १२ ॥ स्थल वा जल में उपजनेवाले शाकों, (जंगली) याज्ञिय वृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्प मूल फलों को और फलों से उत्पन्न तैलों को खाए ॥१३॥ शहद, मांस और भूमि में उत्पन्न हुई छत्रियें (कुकरमुत्ते) सोहांजना † और लसूड़े के फल त्यागदेवे

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥१५॥
न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

मुनियों का अन्न जो पहले का सञ्चय किया हुआ हो, तथा पुराने वस्त्र और शाक मूल फल, यह सब असूज मास में त्याग देवे ॥१५॥ फाले से कर्षित भूमि की उपज न खाए, चाहे किसी ने छोड़ भी दी हो, और न ग्राम में उत्पन्न होने वाले फल मूल खाए, चाहे (भूख से) पीड़ित भी हो ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनोवास्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टोभवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपिवा ॥१७॥
सद्यःप्रक्षालकोवा स्यान्माससंचयिकोऽपिवा ।
षण्मासनिचयोवास्यात्समानिचयएववा ॥ १८ ॥

---

* फालरी भूमि से निकाला लवण [कुल्लू०] वृक्ष आदि की खार से निकाला [नारा०] † मेधा० के अनुसार भूस्तृण और शिग्रुक पंजाब में दो प्रसिद्ध शाक हैं [पर अब तो इन नामों से प्रसिद्ध कोई शाक नहीं है—सम्पादक]

अग्नि से पका हुआ (जंगली अन्न) खाए, वा काल से पके (फल आदि) खाए, (काटने पीसने के स्थान) चाहे पत्थरों से कूट लेवे, चाहे अपने दांतों को ही ऊखली बनाले ॥ १७ ॥ तत्क्षण धो देनेवाला, * वा महीना भर के लिए संचयवाला हो वा छः मास के लिए हो, वा बरस के लिए संचयवाला हो॥१८॥

नक्तंवान्नं समश्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्यशक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः॥१९॥
चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥२०॥
पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥२१॥
भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥
ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥
उपस्पृशं स्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अपनी शक्ति अनुसार अन्न लाकर (निरा) रात को वा (निरा) दिन को खाए, वा (भोजन के) चौथे वेले वा आठवें वेले खाए

* खाकर बर्तनों को प्रतिदिन धोकर रखदे, बर्तनों में कुछ संचय न रक्खे, । इसी को बौधा० ३।२।११ में सम्प्रक्षालनीवृत्ति कहा है

॥ १९ ॥ वा चान्द्रायण के विधानों (तरीकों) से * शुक्ल और कृष्णपक्षों में बर्ते, वा पक्ष के अन्त में उबाली हुई यवागू (बाड़ी) एकबार खावे ॥ २० ॥ वा पुष्प मूल फल जो अपने समय पर पके और अपने आप गिरे हों उन पर निर्वाह करे, वैखानसमत में स्थित हो † ॥ २१ ॥ भूमि पर चक्र लगाता रहे, वा दिनभर पैरों के अग्र पर खड़ा रहे, वा (बारी २ कभी) खड़ा होने और (कभी) बैठने से समय काटे, सवनों में (प्रातः मध्यान्ह और सायं) जलों के पास जाए (स्नान करे) ॥ २२ ॥ गर्मी में पांच तपों वाला हो (खुले मैदान में चारों ओर जलाई चारों अग्नियों के ताप से और ऊपर से सूर्य के ताप से तपा करे) बरसात में खुले आकाश के नीचे रहे, जाड़े में गीले कपड़े रक्खे, इसतरह धीरे धीरे अपना तप बढ़ाए ॥ २३ ॥ तीन सवनों में स्नान कर पितरों और देवताओं का तर्पण करे, तीव्र तप ‡ करता हुआ अपने शरीर को सुखाए ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥
तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।

---

* शुक्लपक्ष में एक २ ग्रास घटाते जाना और कृष्णपक्ष में बढ़ाते जाना,
† विखानस् मुनि प्रणीत सूत्र वैखानस, जिनमें वानप्रस्थियों के धर्म सविस्तर निरूपण किये हैं, (टीकाकार) [वैखानस शास्त्र का मुझे कोई पता नहीं मिला—सम्पादक) ‡ वैखानस शास्त्र में कहे मासोपवासादितप (मेधा०) ।

गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥
ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥
एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपो विवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥
अपराजितां वा स्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥३१॥
आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम् ।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

* श्रौत अग्नियों को विधि अनुसार † अपने आप में आरोप करके बिना अग्नि के और बिना घर के मुनि होकर रहे, निरे मूल फल खाए ॥ २५ ॥ जो पदार्थ सुख देनेवाले हैं, उन (की प्राप्ति) के लिये प्रयत्न न करे, ब्रह्मचारी रहे, धरती पर सोए, (वृष्टि आदि से) बचानेवालों (वृक्ष गुफा आदिकों) में ममता से रहित हो वृक्ष के नीचे वास करे ॥२६॥ तपस्वी (वानप्रस्थ)

---

* कुछ काल साधनों से जब आत्मा उच्च होजाए, तो इसी आश्रम में उसके उच्च धर्म दिखलाते हैं, † आत्मा में समर्पण की विधि श्रामणक सूत्रों से जाननी चाहिए [मेधा०] याते अग्ने यज्ञिया, [तैत्ति० सं० २।५।८।८] इस मन्त्र से आत्मा में समारोप कर [नारा०]

ब्राह्मणों से निर्वाह के लिये भिक्षा लेवे, वा दूसरे गृहस्थ द्विजों से जोकि बनों में रहते हैं ॥ २७ ॥ (इनसे न मिलने में) अथवा बन में रहता हुआ, ग्राम से आठ ग्रास डोने में हाथ पर वा (मट्टी की थाली के) टुकड़े में लाकर खावे ॥ २८ ॥ वन में रहता हुआ ब्राह्मण यह भी और अन्य भी (वैखानस शास्त्र में कही) दीक्षाएं सेवन करे, और आत्मा की सिद्धि के लिये * उपनिषद् की विविध श्रुतियों का सेवन करे ॥ २९ ॥ जोकि पूर्व ऋषियों से और गृहस्थ ब्राह्मणों से विद्या और तप की वृद्धि के लिए और शरीर की शुद्धि के लिए सेवन कीगई हैं ॥ ३० ॥ अथवा मन को स्थिर करके, निरा जल वायु भक्षण करता हुआ शरीर के गिरने तक सीधा चलता हुआ पूर्वोत्तर दिशा में जाए ॥ ३१ ॥ यह जो महर्षियों के आचरण हैं, इन में से किसी एक से शरीर को त्याग कर भय शोक से अलग हुआ ब्रह्मलोक में पूजा जाता है ॥ ३२ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

* आत्मा को पूर्ण बनाने के लिए।

(अब संन्यासी के धर्म कहते हैं) इसप्रकार (मनुष्य की) आयु का तीसरा भाग वनों में बिता कर आयु के चौथे भाग में (दुनियावी सारे) लगाव त्यागकर परिव्राजक (संन्यासी) के तौर पर फिरे * ॥ ३३॥ आश्रम से आश्रम में जाकर सारे होम कर चुका हुआ, और इन्द्रियों को जीत चुका हुआ, भिक्षा और दान से थका हुआ, परिव्राजक होकर मरने के पीछे वृद्धि (मोक्ष की बरकत) पाता है ॥३४॥ तीनों ऋणों को चुकाकर मन को मोक्ष में लगाए, ऋणों को चुकाए बिना मोक्ष का सेवन करने वाला नीचे जाता है † ॥ ३५ ॥ इसलिये विधि अनुसार वेदों को पढ़कर, धर्म मर्य्यादानुसार पुत्र उत्पन्न करके, और शक्ति अनुसार यज्ञ करके मन को मोक्ष में लगावे ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
आनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३७॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥३८॥
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।

---

* ३३-८५ वासि० ६।१९-२० ; १० गौत० ३।११-२५ आप० २।२१ । २-१७ बौधा० २ । ११ । १६-२६ ; १७ । १-१८ ; २७ याज्ञ० ३ । ५६ । ६५ † संन्यास का क्रम प्रायः यह है, कि ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से बानप्रस्थ और बानप्रस्थ से संन्यास में जावे । क्योंकि संन्यास में न जाने से पतित नहीं होता, पर जाकर फिर गृहस्थ में मुड़ने से वा दुनियावी वस्तुओं का लगाव न त्यागने से पतित होता है । हां यदि कोई गृहस्थ से अलग होते ही अपने सारे लगाव छोड़ सक्ता है, तो वह गृहस्थ से संन्यास लेसक्ता है, जैसा कि आगे श्लोक ३८ में कहा है ॥

तस्यतेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३९॥
यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

वह द्विज जो वेदों को पढ़े बिना, पुत्रों को उत्पन्न किए बिना, यज्ञों से यजन किए बिना मोक्ष चाहता है, वह नीचे जाता है॥३७॥ प्रजापति के लिए इष्टि (यज्ञ) करके जिसकी दक्षिणा (वह अपना) सर्वस्व (देदेता) है, अग्नियों को अपने में आरोप करके ब्राह्मण अपने घर से परिव्राजक बनकर निकले ॥ ३८ ॥ जो सब भूतों को अभय देकर घर से परिव्राजक होकर निकलता है, उस ब्रह्मवादी के तेजोमय लोक होते हैं ॥३९॥ जिस द्विज से प्राणधारियों को तनिक भी भय नहीं होता है, उसको कहीं से भय नहीं होता है, जब वह इस देह को छोड़ता है ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

एकएव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतःस्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमऽसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

घर से निकला हुआ, पवित्रों से युक्त * मुनि † अपने आप सामने लाए गए विषयों में भी बेपरवाह हुआ ‡ चला जाए ॥ ४१ ॥ अकेले की सिद्धि होती है, यह जानता हुआ मोक्ष के लिये सदा अकेला बिना साथ के विचरे, (यदि अकेला विचरता है, तो) न वह किसी को त्यागता है, न किसी से त्यागा जाता है ॥ ४२ ॥ बिना अग्नि के हो, बिना घर के हो, अन्न के लिए ग्राम में जावे (अन्यदा ग्राम से बाहर रहे) बेपरवाह हो, (अपने उद्देश्यमें) न डोले § मनन शील हो, (चित्तको (ब्रह्म में) लगाए रहे ॥ ४३ ॥ (भिक्षा के लिए) ठीकरा (रहने के लिए) वृक्षों के तल (पहनने के लिए) फटे पुराने चीथडे, कोई साथी न रखना और सब में ही (शत्रु में भी) समता (मैत्री) यह मुक्त (बन्धनों से छूटे हुए, पूरे आज़ाद) के लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्वेशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥
दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥४६ ॥

*पवित्रता के साधन दण्ड कमण्डलु आदि (गोवि०कुल्लू०नन्द) मन्त्र जप, अथवा दण्ड कमडलु मृगान आदि, अथवा कृच्छ्र व्रत (मेधा०) पवित्रो पचितः=पवित्र तपजप आदि जो गृहस्थकाल में किए हैं उन से उत्तमताको प्राप्त हुआ (नारा०) ज्ञान वा उपनिषद (राघ०) †मुनि=चुप चाप अपने विचार में मग्न। मुनि से यह अभिप्राय नहीं होता, कि किसी से भी न बोलने का व्रत धारण करे जैसे आज कल मौनी होते हैं, क्योंकि यहां ही आगे ४६ में कहेंगे 'सत्य पूतां वदेद्वाचम्' ‡ समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः, = घर में संचित भोगों में भी इच्छा शून्य (नन्द०) § असंकुसुकः, के स्थान असंचयिकः, (प्राणयात्रा के लिए भी धन का संचय न करने वाला)

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कश्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

इच्छा न मरनेकी रक्खे,न जीने की,काल की ही प्रतीक्षा करे*, जैसे भृत्य भृति (मज़दूरी) की ॥४५॥ दृष्टि से पवित्र हुआ पाँओं रक्खे,(जीव जंतुओं को देखकर चले†) वस्त्र से पवित्र(छाना) हुआ जलपिये, सचाई से पवित्र हुई वाणी बोले, मन से पवित्र हुआ आचरण करे ।४६। सख्त शब्दों को सहारे, किसी का अपमान न करे, इस (नश्वर)देह के लिए किसी से वैर न करे। ४७। (अपने ऊपर) क्रोध करते हुए पर प्रतिक्रोध (पलटे में क्रोध) न करे, किसी ने झिड़क दिया है, तो उस के लिए कुशल कहे (बरकतमांगे) सात द्वारों ‡ में बटी हुई वाणी को झूठा न बोले ४८

पाठ पढ़ता है। *काल भी उस के लिए डराउना नहीं; बल्कि उस की कमाई का फल देने वाला हो'जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द। कब मरि हों कब पाइ हों पूर्ण परमानन्द, है तो यही, पर कब मरि हों कब पाए हों, यह इच्छा न रक्खे, अपने आप होने दे, इतना श्लोक में अधिक बतलाया है (मेधा० नन्द)के अनुसार निर्वेशं, पाठ है। छपे पुस्तकों में निर्देश मिलता है। इस पाठ में यह अर्थ होगा, जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है, इस तरह काल की प्रतीक्षा करे अर्थात् तय्यार रहे † मिलाओ आगे६८ ‡ सात द्वार =पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि । इन से जाने हुए हरएक विषय को वाणी प्रकट करती है। टीका कारों ने भी यह अर्थ मुख्य लिया है, किन्तु बुद्धि के स्थान अहंकार नारा० ने लिया है अथवा छः सिर के छेद, सातवीं बुद्धि। अथवा धर्म,अर्थ, काम, धर्म अर्थ, अर्थ काम, धर्म काम, धर्म अर्थ काम। अथवा सातों लोक भी लिए हैं।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥
न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्ग विद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेतकर्हिचित्॥५०॥
न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णंभिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत ॥ ५१ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥
अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिःस्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥
अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥५४॥

आत्म सम्बन्धी बातों में प्रेमवाला' (योग के आसनों में) बैठ ने वाला, बेपरवाह, विषय भोगों से रहित, निरा अपने आप को साथी बनाकर इस लोक में विचरे । ४९ । न दैव अपद्रव (भूचाल आदि) और सगुन (बताने) से, न नक्षत्र विद्या और अंगविद्या (सामुद्रिक) से, न उपदेश देने से,न (शास्त्र के विषयों पर) वाद करने से कभी भिक्षा लेना चाहिए। ५० । तपस्वियों से ब्राह्मणों से पक्षियों कुत्तों से वा दूसरे भिक्षुओं से घिरे घर में न ज.ए । ५१ । नख, बाल, दाढ़ी मूंछ मुंडाएरहे, कमण्डलु दंड और रंगे कपड़े रक्खे, अपने आप पर वश रखता हुआ कभी

किसी भी प्राणी को पीड़ा न देता हुआ विचरे। ५२। उस के पात्र बिनघात के हों और बिना छेद के हों, उन की जल से पवित्रता कही है, जैसे यज्ञ में चमसों की होती है। ५३। तूंबी, लकड़ी का पात्र, मट्टी का वा बांस का बना पात्र यह स्वायम्भुव मनु ने यति के पात्र कहे हैं। ५४।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥
विधूमे सन्नमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः॥५७॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते॥५८॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥५९॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥६०॥

(दिन में) एक बार भिक्षा करे, (एक बार भी) बहुत भिक्षा में मन न दे, क्योंकि भिक्षा में फंसा यति विषयों में भी फंस जाता है। ५५। जब (रसोई से) धुआं दूर हो चुका हो मूसल बन्द हो, अंगारे ठंडे हो गए हों, (घरके सब) लोग खा

चुके हों, थालियें उठा दी गई हों, ऐसे समय पर यति सदा भिक्षा करे।५६।न मिलने पर उदास न हो, मिलने पर हर्षित न हो निरा जीवन यात्रा के लिए लेवे, उपभोग्य वस्तुओं (दण्ड कमण्डलु कंबल आदि) के लगाव से बचा रहे । ५७ । पूजावाले (पुरतकुल्फ) लाभों का कभी आदर न करे, क्योंकि पूजित लाभों से यति मुक्त हुआ भी बन्ध जाता है । ५८ । इन्द्रिय विषयों से खिचते हों तो थोड़ा अन्न खाने, और एकान्त रहने बैठने से उन को रोके ॥ ५९ ॥ क्योंकि इन्द्रियों के रोकने से, राग द्वेष के नाश से, और प्राणियों की अहिंसा से मोक्ष के योग्य होता है॥६०॥

अवेक्षेत गतीर्नॄणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥
विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

कर्मों के दोषों से होनेवाली मनुष्य की गतियों (भिन्न २ योनियों में प्राप्ति), नरक में गिरने और यम के लोक में तीव्र पीड़ाओं (के सहने) का चिन्तन करे ॥६१॥ तथा प्यारों (पुत्रादि) के साथ वियोग, द्वेषियों के साथ संयोग, बुढ़ापे से दबाया जाने, और रोगों से पीड़ा जाने का भी (चिन्तन करे) ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः॥ ६३ ॥
अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

इस देह से निकलना, फिर (दूसरे) गर्भ में उत्पत्ति, और सहस्रों कोटि योनियों में इस जीवात्माकी गति का (चिन्तन करे) ॥६३॥ शरीर धारियों को जो दुःख का योग है, उस का कारण अधर्म को और जो अविनाशी सुख का संयोग है, उस का कारण धर्म और परम प्रयोजन (मोक्ष) को (चिन्तन करे) ॥६४॥ योग के द्वारा शुद्ध आत्मा की सूक्ष्मता को, और उत्तम अधम देहों में उत्पत्ति को देखे*॥६५॥ जिस तिस आश्रम में रहता हुआ दूषित हुआ † भी सब भूतों में समदृष्टि होकर धर्म का आचरण करे, चिन्ह धर्म का कारण नहीं होता है ॥६६॥ निर्मली वृक्ष का फल यद्यपि जल को निर्मल करनेवाला है, तथापि उसका नाम लेने मात्र से जल निर्मल नहीं होता है ‡॥६७॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

---

* नन्द ने इस श्लोक को छोड़ दिया है † दूषित हुआ, = आश्रम के चिन्हों से रहित हुआ, यहां दोष से अभिप्राय चिन्ह त्याग से ही है, जैसा कि अन्त में कहा है, चिन्ह धर्म का कारण नहीं है ‡ खाली चिन्ह, नाम मात्र लेने की तरह है, कर्त्तव्य का पालन, निर्मली को पीसकर डालने की तरह है ॥

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत्॥६९॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥७१॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥७२॥

जीवों की रक्षा के लिए दिन हो वा रात सदा भूमि को देखकर चले, चाहे शरीर को तंगी भी हो ॥ ६८ ॥ यति दिन वा रात में जिन जन्तुओं को अज्ञानता से मारता है, उनकी शुद्धि के लिए स्नान करके छः प्राणायाम करे * ॥ ६९ ॥ व्याहृतियों और ओंकार से युक्त प्राणायाम तीन भी विधि अनुसार किए हुए ब्राह्मण का परमतप जानना चाहिए ॥ ७० ॥ (अग्नि में) धौंकने से जैसे धातों के मैल जल जाते हैं, इसतरह प्राण के रोकने से इंद्रियों के मैल जल जाते हैं † ॥ ७१ ॥ प्राणायामों से (राग द्वेषादि) दोषों को जलाए, धारणा से (मनको परमेश्वर में लगाने से) पाप को, प्रत्याहार (इन्द्रियों को विषयों से खींचने) से विषयों के लगाव को और ध्यान (ब्रह्म में एकाग्र वृत्ति) से अनीश्वर गुणों (जो गुण ईश्वर में नहीं है, काम, क्रोध, लोभ असूया आदि) को ॥

* प्राणायाम मन्त्र देखो वासि० २१ । १३ † वासि० २५ । ६ बौधा० ४ । १ । २४ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः॥७३॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५ ॥

इस अन्तरात्मा की उत्तम अधम जीवों में गति को ध्यान योग से देखे जो अजितेन्द्रिय पुरुषों से नहीं जानी जासक्ती, ॥ ७३ ॥ (परमात्मा के) यथार्थ दर्शन से युक्त पुरुष कर्मों में नहीं बन्धता है, किन्तु साक्षात् दर्शन से हीन पुरुष संसार को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥ किसी जीव को न सताने से, इन्द्रियों के (विषयों में) न लगाव से, वैदिक कर्मों से * उग्र तपों के करने से इस लोक में (ही) उस पद † को साध लेते हैं ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते ॥७८॥

---

* नित्यकर्म (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) नित्य नैमित्तिक (नारा) गृहस्थधर्म (नन्द०) † उस पद=ब्रह्म में लीन होना (गोवि० कुल्लू० राघ०) ब्रह्मलोक (मेधा०,) नारा०, और नंद 'तत्परं' पाठ पढते हैं, उस परब्रह्म को ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्योति सनातनम् ॥७९॥

हड्डियें जिनमें खंभे हैं, नाड़ियों से युक्त हैं, (नाड़ियें जिनमें रस्सों के स्थान है) मांस और लहू गच के स्थान हैं, जो चमड़े से मढ़ा हुआ है, मूत्र और विष्ठा से भरा हुआ है, अतएव दुर्गन्धि है* ॥ ७६ ॥ बुढ़ापे और शोक से युक्त है, रोगों का घर है, पीड़ा से युक्त है, धूलवाला है, और विनश्वर है, ऐसे पांच भूतों से बने इस घर (शरीर) को त्यागे (त्याज्य घर की तरह त्याग दे) ॥७७॥ वृक्ष जैसे नदी के किनारे को (पराधीन होकर) वा पक्षी जैसे वृक्ष को (स्वतन्त्रता से तजता है) इसप्रकार इस देह को छोड़ता हुआ दुःख रूपी मगर से छूटता है ॥ ७८ ॥ अपने प्यारों पर शुभ कर्म, और द्वेष करनेवालों पर मन्द कर्म, छोड़कर † ध्यान योग से अनादि ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैःशनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
नह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

जब अपनी (हृदय की) भावना से सब विषयों में बेपरवाह

---

* ७६-७७ मैत्रा० उप० ३ । ४ † उसके प्रेमी पुण्य कमाते हैं, और द्वेषी पाप ॥

होजाता है, तब दोनों जगह सुख पाता है, इस लोक में भी * और मरने के पीछे भी ॥ ८० ॥ इसप्रकार धीरे २ सारे लगाव त्यागकर सारे द्वन्द्वों (मान अपमान आदि) से छूटा हुआ केवल ब्रह्म में टिकजाता है ॥ ८१ ॥ यह जो ऊपर (लगाव का त्याग और द्वन्द्वों का छुटकारा) कहा है † ध्यान का फल है, क्योंकि आत्मा को न जाननेवाला कोई भी क्रिया फल को नहीं पाता है॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेवच ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥
इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥ ८४ ॥
अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥८५॥

यज्ञ विषयक, देवता विषयक, आत्म विषयक वेद का तथा वेदांत में जो कहा है, उसका सदा स्वाध्याय करे ॥ ८३ ॥ यह न जाननेवालोंका भी शरण है, जाननेवालों का भी (शरण) है, यह स्वर्ग ढूंढते हुओं का शरण है और अनंत (सुख) ढूंढते हुओं का शरण है ॥ ८४ ॥ इस क्रम पर चलने से जो द्विज परिव्राजक बनता है, वह यहां पाप को झाड़कर परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥

---

* जीवन्मुक्त होकर (नारा०) † गोवि० नारा० नंद० 'ऊपर कहे' से अभिप्राय लेते हैं, पिछले सारे अध्यायों में चारों आश्रमों के लिए जो कुछ कहा है, और तात्पर्य यह कहते हैं, कि पूरा फल सारी क्रियाओं का तभी होता है, जब आत्मज्ञान भी साथ होता है॥

एषधर्मोऽनुशिष्टो वा यतीनां नियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥८८॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि ॥८९॥
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥ ९० ॥

यह अपने आप पर बस रखनेवाले यतियों का धर्म तुम्हें बतलाया है । अब वेद संन्यासियों * का कर्त्तव्य सुनो ॥८६॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति, यह चार अलग २ आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न होते हैं † ॥ ८७ ॥ यह सारे भी जब क्रमशः

---

* वेद संन्यासी = घर में रहते हुए लौकिक काम काज और उनकी वासनाएं भी त्यागकर केवल ईश्वर परायण हुए । वह द्रव्य यज्ञों को त्यागकर ध्यानयज्ञ करते हैं देखो पूर्व ४ । २२-२४ । लौकिक व्यवहार सारा पुत्र पर डालकर उसके ऐश्वर्य से अपनी जीवनयात्रा करते हैं । देखो पूर्व ४।२५७ और आगे ९४ । ९५

† ८७-९३ वासि० ८।१४-१६ ; १०।३० गौत० ३।३६ आप० २।२३-२४ बौधा० २।११।९-३४ विष्णु० ५९।२७-२९ संन्यास के प्रसंग में चारों आश्रमोंके वर्णन का और गृहस्थकी विशेष प्रशंसाका अभिप्राय यह है, कि यथाशास्त्र पालन किया हरएक आश्रम परमगति को प्राप्त कराता है, गृहाश्रम उपकार की दृष्टि से बड़ा उच्च आश्रम है ।

शास्त्रानुसार सेवन किए जाएं, तो कहे अनुसार करनेवाले ब्राह्मण को यह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कराते हैं * ॥८८॥ और इन सब में से भी वेद और स्मृति की मर्य्यादानुसार गृहस्थ श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि वह इन तीनों का भरण पोषण करता है॥८९॥ जैसे सब नदी नद समुद्र में आराम का स्थान पाते हैं, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में आराम का स्थान पाते हैं ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥
दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

इन चारों ही आश्रमवाले द्विजों (ब्रह्मचारी, गृही, वानस्थ, संन्यासी) को दस स्वरूप वाला धर्म प्रयत्न से सेवन करना चाहिए ॥९१॥ धीरज, क्षमा, अपने (मन) परवश † चोरी का त्याग (कोई वस्तु न लेना, जिस पर अपना स्वत्व नहीं) पवित्रता (के नियमों का पालन) इन्द्रियों का रोकना, धी, ‡ (आत्म-) विद्या, सचाई

---

*आश्रम बाहर के चिन्ह हैं, आत्मा का धर्म वह है, जो आगे ९२ में कहा है, वह जिस किसी आश्रममें रहकर पाले, मुक्ति उसकी हथेली पर आ बैठती है ।

† विपद्, दुःख, संकट में धीरज, क्षमा=दूसरे का अपराध भूल जाना, दम=मन पर काबू (उजड्डपन, विद्यामद, धनमद, आदि का न होना, मेधा०, नन्द) तप क्लेश सहना, (गोवि० नारा०) ‡ धी=संदेह वा भूल से रहित ज्ञान (मेधा०, गोवि०) शास्त्रादि तत्त्वार्थ का ज्ञान (कुल्लू०, राघ०) नारा० नन्द के अनुसार धी के स्थान 'ह्रीः' पाठ

क्रोध से बचना, यह दशका धर्म का स्वरूप है ॥ ९२ ॥ जो ब्राह्मण धर्म के इन दस लक्षणों को पढ़ते हैं, और पढ़ने के पीछे उन पर चलते हैं, वह परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥९४॥
संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत ॥ ९५ ॥
एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥
एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥९७॥

जोद्विज दस स्वरूप वाले धर्मका अनुष्ठान करता है,मन को एकाग्र किए हुए है, तीनों ऋण चुका चुका है, वह विधि अनुसार वेदान्त श्रवणकर संन्यासी (त्यागी) बने*॥९४॥(गृहस्थसे अनुष्ठेय) सारे कर्मों को त्यागकर, कर्मों के दोषों (फल की कामनाओं) को परे फेंककर, अपने आपको बस में रखकर, वेद का अभ्यास करता हुआ, पुत्र के ऐश्वर्य में सुख से रहे ॥ ९५ ॥ इसप्रकार कर्मों को त्यागकर, अपने कर्त्तव्य (परमात्मा के साक्षात्कारादि) परायण हुआ, सारी इच्छाओं से रहित हुआ, संन्यास से पाप को नाशकर परमगति को प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥ यह ब्राह्मण † का चार प्रकार का धर्म तुम्हें कहा है, जो पवित्र है और मरने के पीछे अक्षय फलवाला है, अब राजाओं का धर्म जानो ॥९७॥

है, ह्री = गैरत, लज्जा * वासि० १० । २६ † सब से पुराने टीकाकार यहां ब्राह्मण कहने का अभिप्राय ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार लेते हैं। उनके आशय से बीच में जो ३७, ४० में द्विज पद है, वह भी ब्राह्मण के आशय से है, (पर यह होसकता है कि ब्राह्मण प्रायिकवादसे हो, अर्थात् प्रायः ब्राह्मण संन्यास लेते थे)

अथ सप्तमोऽध्यायः

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥
अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥
तपत्यादित्यवच्चैषां चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

अब मैं राजा के धर्म कहूंगा, कि राजा को कैसे बर्त्तना चाहिए, कैसे उसकी सृष्टि हुई, और किसतरह उसको परम सिद्धि (पूरी

कामयाबी) होती है ॥ १ ॥ यथाविधि वैदिक (अभिषेक) संस्कार * को प्राप्त हुए क्षत्रिय को इन सब (चर अचर) की न्याया-नुसार रक्षा करनी चाहिए ॥ २ ॥ क्योंकि जब विना राजा के यह दुनिया (प्रबल पुरुषों के) भय से सब ओर से डोल गई; तब इस सब की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा को उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के सनातन अंशों को लेकर ॥ ३, ४ ॥ जिस लिए इन देवपतियों के अंशों से राजा बनाया गया है, इसलिए तेज † से सब लोगों को मात करता है ॥ ५ ॥ सूर्य की तरह इनके नेत्रों और हृदयों को तपाता है, और कोई भी जगत् में (आंख उठाकर) इसकी ओर देख नहीं सक्ता ॥ ६ ॥ वह अपने प्रभाव (बढ़ी हुई शक्ति) से अग्नि है और वायु है, वह सूर्य है, सोम है, धर्मराज है, कुबेर है, वरुण है, और महेन्द्र है ॥ ७ ॥ राजा बाल भी हो, तौ भी उसका अपमान न करे यह मानकर कि (हमारी तरह) मनुष्य है, क्योंकि मनुष्य के रूप से यह एक भारी देवता स्थित है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ ९ ॥
कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।

* (उपनयन) संस्कार (मेधा०, गोवि०, नारा०, कुल्लू) (उपनयनादि) संस्कार (राघ०) † तेज का अर्थ टीकाकारों ने वीर्य लिया है, पर यहां तेज का प्रसिद्ध अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है जैसे कि अगले श्लोकमें प्रकट कियाहै,'उसकी ओर कोई देख नहीं सक्ता,

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि ॥ ११ ॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥
तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥
तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

अग्नि उस एक ही पुरुष को जलाती है, जो असावधानी से उसके पास आता है, पर राजा की अग्नि (क्रोध) सारे कुल को जला देती है, समेत पशुओं के और धन के ढेर के ॥ ९ ॥ प्रयोजन शक्ति देश और काल को पूरे तौर पर जानकर कार्य की सिद्धि के लिये वह बार २ अनेकरूप बनाता है (कभी मित्र, कभी शत्रु कभी उदासीन) ॥ १० ॥ जिसके प्रसाद में बड़ी लक्ष्मी *बसती है, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु बसता है, क्योंकि वह सब के तेज से बना है ॥ ११ ॥ जो कोई भूल से उसके साथ

* पद्मा=जिसके हाथ में कमल है, (नारा० नन्द०) कमल में रहनेवाली (राघ०) पद्मा और श्री दोनों पर्यायवाचक शब्द इकट्ठे कहने से बड़ी लक्ष्मी अर्थ अभिप्रेत है (मेधा०, गोवि०, कुल्लू)

द्वेष करता है, वह निःसन्देह नष्ट होता है, क्योंकि उसके नाश के लिये राजा जल्दी मन को लगाता है ॥ १२ ॥ इसलिए राजा जो धर्म (व्यवस्था=मर्यादा) इष्टों के विषय में और जो अनिष्ट (धर्म) अनिष्टों के विषय में बांधे, उस धर्म को न हिलाए * ॥ १३ ॥ उस (राजा) के निमित्त ईश्वर ने दण्ड को रचा, जो उसका पुत्र है, धर्म स्वरूप है, सब भूतों का रक्षक है, ब्रह्म के तेज से बना है † ॥ १४ ॥ उसके भय से सब स्थावर जंगम भूत भोग के लिए समर्थ होते हैं ‡ और अपने धर्म (मर्यादा) से नहीं हिलते हैं ॥ १५ ॥ (अपराध का) देश और काल, और (अपराधी की) शक्ति और जानकारी को पूरा २ देखकर, अन्याय से बर्तनेवाले मनुष्यों पर यथायोग्य दण्ड चलाए § ॥१६॥

सराजापुरुषो दण्डः स नेता शासिता चसः ।
चतुर्णामाश्रमाणांच धर्मस्य प्रातिभूःस्मृतः॥ १७ ॥
दण्डःशास्ति प्रजाः सर्वा दण्डएवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १८ ॥

*यह मर्यादा लौकिक विषयों में जाननी चाहिए, मेले उत्सवों के मनाने रोकने आदि के विषय में राजा जो आज्ञा दे उसे पालना चाहिए † याज्ञ० १ । ३५३ ‡ भोग के लिए समर्थ होते हैं, दण्ड न हो, तो जिसकी लाठी तिसकी भैंस होजाए, बलवाले दुर्बलों के धन स्त्री आदि छीन लें, उनसे आगे अधिक बलवाले छीन लें । स्थावर भी जो फल पुष्प शाली हैं, उनको जलाने के लिए भी काट डालें, वा अपने खाने के लिए भी तोड़ डालें, § स्थावर भी समय पर फल फूल देते हैं, मनुष्य भी अपने स्वत्व पर रहते हैं, ॥ वासि० १९ । ९ गौत० १२ । ५१; याज्ञ० १ । ३६७ विष्णु० ३ । ९१ ।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९ ॥
यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥ २० ॥
अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यञ्च न स्यात् कस्मिंश्चित्प्रवर्त्तेताधरोत्तरम्॥२१॥

दण्ड (वास्तव) राजा है, (उसके होते ही राजशक्ति है) वह पुरुष है, (उसके सामने सब स्त्रियोंकी तरह दुर्बल हैं), वह (कारोबार का) चलानेवाला है, वह शासन करनेवाला है, और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (ज़ामिन) माना गया है ॥ १७ ॥ दण्ड सारी प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड रक्षा करता है, दण्ड सोए हुओं में जागता है, दण्ड को बुद्धिमान् धर्म जानते हैं, ॥ १८ ॥ ठीक २ विचार करके धारण किया दण्ड सारी प्रजाओं को प्रसन्न करता है, बिन सोचे चलाया हुआ सब ओर नाश करता है * ॥ १९ ॥ यदि राजा अप्रमत्त होकर दण्ड के योग्यों पर दण्ड न चलाए, तो अधिक बलवाले दुर्बलों को शूल पर मछलियों की तरह पकाखावें ॥ २० ॥ पुरोडाश को कौआ खाजाए, हवि को कुत्ता खाजाए † (किसी की) किसी पर मलकीयत न हो सब ऊपर तले होजाए ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

* याज्ञ० १। ३५५ † सब का वीं कुत्तीं जाए=निष्फल जाए ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगायकल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥२३॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥२४॥

सारा लोक दण्ड से जीता हुआ है, (स्वभाव से) शुचि पुरुष दुर्लभ है, दण्ड के भय से सारा जगत् भोग के लिये समर्थ होता है ॥ २२ ॥ देवता, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी नाग यह भी दण्ड से पीड़ित हुए भोग के लिए समर्थ होते हैं ॥ २३ ॥ दण्ड की भूल से (न देने से वा उलट पलट देने से) सब वर्ण बिगड़ जाएं सारी मर्यादाएं टूट जाएं, और सब लोगों में बेचैनी होजाए॥२४॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

दण्डोहि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाऽकृतात्मभिः।
धर्माद्विचालितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥२८॥

जहां काला, लाल नेत्रोंवाला दण्ड (चुन २) पापियों को ताड़ता हुआ विचरता है, वहां प्रजाएं व्याकुल नहीं होतीं, यदि (दण्ड

का) चलानेवाला ठीक देखता है * ॥ २५॥ उसका चलानेवाला राजा को कहते हैं, जो सत्यवादी है, ठीक समझकर काम करता है, बुद्धिमान् है, धर्म, काम और अर्थ का तत्त्व जानता है †॥२६॥ जो राजा उस (दण्ड) को अच्छे प्रकार चलाता है, वह त्रिवर्ग (धर्म,अर्थ,काम) से बढ़ता है, और जो लालची, विषम ‡ क्षुद्रात्मा है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥ २७॥ दण्ड बड़ा भारी तेज है, जो अजितेन्द्रिय से धारण नहीं किया जासक्ता, किन्तु धर्म से फिसले राजा को ही उसके बान्धवों समेत नष्ट कर देता है॥२८

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥३०॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥३२॥

उस के पीछे दुर्ग (किला) देश, चर, अचर सहित लोक और अन्तरिक्ष में होनेवाले मुनि और देवताओं को पीड़ा देता है ॥ २९ ॥ वह (राजा) दण्ड को न्याय से नहीं चला सक्ता, (निर्णय करने में) जिसके सहायक

* विष्णु० ३ । ९६ † गौत० ११ । २ ‡ विषम = एक दृष्टि से न देखनेवाला, अर्थात् विषम दण्ड देनेवाला; क्रोधी (गोवि०कुल्लू०राघ०)

कोई नहीं, वा जो अनजान है, वा लोभी है, वा बुद्धि को मांझे हुए नहीं है, वा विषयों में फंसा है * ॥ ३० ॥ किन्तु दण्ड को वह चला सक्ता है, जो शुद्ध † है. अपने बचन का पालन करता है ‡ शास्त्र के अनुसार चलता है, अच्छे साथियों वाला है, बुद्धिमान् है ॥ ३१ ॥ अपने राज्य में न्याय से बर्तनेवाला, शत्रुओं पर तीक्ष्ण दण्डवाला हो, मित्रों में सरल हो और ब्राह्मणों में क्षमा युक्त हो, उनके तीव्र शब्दों को सहारे § ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥३३॥
अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

जो राजा इसप्रकार बर्तता है, वह चाहे शिल और उञ्छ से भी जीविका करता हो, (कुछ भी कोश उसके पास न हो) तौ भी इसका यश लोक में इसतरह फैलता है, जैसे पानी पर तैल की बूंद ¶ ॥ ३३ ॥ इससे उलटा चलनेवाले अजितेन्द्रिय राजा का यश लोक में सिमटता है, जैसे घी की बूंद पानी में ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥
तेन यद्यत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

---

* ३०—३१ गौत० ११।४ याज्ञ० १।३०८—३०९, ३५४ † शुद्ध= ईमानदार, लोभ में न आनेवाला ‡ सत्यसन्ध निरा सचाई का तर्फदार (मेधा०) § याज्ञ० १।१३३ विष्णु० ३।९६ ¶ विष्णु० ३।९७

अपने२ पद के अनुसार अपने२ धर्म में लगे हुए सारे वर्णों और आश्रमों का राजा रक्षक के तौर पर रचा गया है ॥३५॥ प्रजा की रक्षा करने के हेतु उसको और उसके नौकरों को जो२ कुछ करना चाहिए, वह २ मैं तुम्हें क्रमशः ठीक २ कहूंगा ॥३६॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥
तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥३९॥
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्थाअपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥
वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेवच ॥ ४१ ॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेवच ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यंचैवगाधिजः ॥ ४२ ॥

राजा (प्रतिदिन) प्रातःकाल उठकर वेद विद्या में बढ़े हुए (नीति शास्त्र के) जानने वाले ब्राह्मणों को पूजे और उनके शासन में ठहरे * ॥३७॥ वृद्ध ब्राह्मण जो वेदवेत्ता और शुद्ध (छल,कपट, बहानों से शून्य) हैं उनका सदा सेवन करे; क्योंकि

* ३७-३८ विष्णु० ३। ७६-७७

वृद्धोंका सेवन करनेवाला राक्षसोंसे भी पूजा जाता है॥३८॥विनीत (सुसभ्य,सुशील)होकर भीउनसे विनय सीखे,क्योंकि विनीतस्वभाव वाला राजा कभी नष्ट नहीं होता है॥३९॥ (हाथी,घोड़े,कोश आदि) बड़े सामानवाले भी अनेक राजे विनय के न होनेसे नष्ट हुए हैं,और बन में रहने वाले (राज्य का कोई सामान न रखने वाले) भी विनय से राज्यों को प्राप्त हुए हैं ॥ ४० ॥ विनय के न होने से वेन नष्ट हुआ है, तथा राजा नहुष, राजा पिजवन का पुत्र सुदास्, सुमुख और निमि † ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनय से राज्य को प्राप्त हुए हैं, कुबेर धन के ऐश्वर्य को, और गाधि का पुत्र (विश्वामित्र) ब्राह्मणपन को (प्राप्त हुआ है) ॥४२॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकींचात्मविद्यां वार्तारम्भांश्चलोकतः॥४३॥
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हिशक्नोति वशेस्थापयितुं प्रजाः॥४४॥
दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानिच ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

वेद के जाननेवालों से वेद विद्या को, तथा सनातन दण्ड नीति (ईशन करने की विद्या=(Science of Government), तर्क विद्या, और आत्म-विद्या को (इन २ के जाननेवालों से) और वृत्ति के (रोजगार, खेती, पशुपालन, व्योपार, कला आदि

---

* विनीत=विनयवाला विनय=काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, हर्ष=खुशी को सम्भाल न सकना,इन छःशत्रुओं के पराधीन न होना

† वेन मान मद से, नहुष मद क्रोध से, सुदास् मद क्रोध से, सुमुख लोभ से,निमि हर्ष से(नारा० इनकी कथाएं महाभारतसे जानो(मेधा०

का निर्माण इत्यादि) कामों को (योग्यता प्राप्त=तजरुबाकार) लोगों से सीखे * ॥ ४३ ॥ इन्द्रियों के जय में दिन रात यत्न करे, क्योंकि (केवल) जितेन्द्रिय (पुरुष) प्रजाओं को वश में रख सक्ता है ॥ ४४ ॥ दस काम से उत्पन्न होने वाले और आठ क्रोध से उत्पन्न होने वाले (इन १८) व्यसनों को यत्न से त्यागे जिनका अन्त दुःख है, (चाहे आरम्भ में सुख भी दें) † ॥ ४५॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥
मृगयाऽक्षोदिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजोदशकोगणः ॥४७॥
पैशुन्यं साहसं मोह ईर्ष्याऽसूयऽर्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥४८॥

क्योंकि काम से उत्पन्न होनेवाले व्यसनों में फंसा हुआ राजा अर्थ और धर्म से हीन होजाता है, और क्रोध से उत्पन्न हुओं में फंसा हुआ अपने आप से ही हीन होजाता है (अपना जीवन खो बैठता है) ॥ ४६ ॥ शिकार, जुआ, दिन को सोना, परनिन्दा, स्त्रियें, मद, राग रंग, वृथा घूमना, यह दस काम (सुख की इच्छा) से उत्पन्न होनेवाला गण है ॥ ४७ ॥ चुगली, साहस (भलों को भी बांधना आदि) द्रोह (बहाने से मरवा डालना आदि) ईर्ष्या, (दूसरों के गुणों को न सहारना) असूया (दूसरों के गुणों में दोष लगाना) अर्थ का दूषण (अन्याय से किसी की मलकीयत ज़ब्त कर लेना वा देने योग्य धन का न देना) वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता, यह आठ क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसन हैं॥

* गौत० ११ । ३ याज्ञ० १ । ३१० † ४५-४८ विष्णु० ३ । ५०-५१ ।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

इन दोनों का भी—सब विद्वान् जिसको मूल बतलाते हैं, उस लोभको यत्न से छोड़े, यह दोनों समुदाय उससे उत्पन्न होते हैं॥४९॥ (मद्य-) पान, जुआ स्त्रियें और शिकार यथाक्रम इस चौके को कामजगण में भी बड़ा हानिकारक जाने॥५०॥ कड़ा दण्ड देना, वाणी की कठोरता और अर्थ दूषण (धन का छीन लेना वा देने योग्य न देना) यह त्रिक क्रोधज गण में भी हानिकारक है ॥ ५१ ॥ यह सात का समुदाय जो सब जगह प्रबल होता है, इस में से भी आत्मवान् राजा पहले २ को बहुत भारी समझे ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥
मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥५५॥

व्यसन और मृत्यु में से व्यसन अधिक हानि कारक है, व्यसनी नीचे २ जाता है, और बिना व्यसन मरा स्वर्ग को जाता है ॥५३॥ मन्त्री सात वा आठ बनाए, जो मूल से आए हों (अपने बड़ों से राजकीय नौकर हों) शास्त्र के जानने वाले हों, शूरबीर हों, जिनके विचार कई बार सफल हो चुके हैं, अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हैं, और परीक्षित हैं (कि कोई धोखा नहीं देते हैं, पूरे ईमानदार वफादार हैं) ॥५४॥ चाहे काम आसान भी हो, वह भी अकेले से कठिन होजाता है, क्या फिर राज्य विशेष साथी के बिना जो कि बड़े फल वाला है (अतएव बहुत बडा काम है) ॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥
तेषां स्व स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥

उनके साथ प्रति दिन सोचे मामूली सन्धि विग्रह (मेल और लड़ाई) स्थान*, समुदय †, (अपनी और राज्य की) रक्षा, और हाथ आए में शांति फैलाना ॥५६॥ पहले उन सबके अलग २ अभिप्राय को और फिर मिले हुओं के (मंत्र कर निश्चित हुए सब के एक) अभिप्राय को जान कर अपनी भलाई करे ॥ ५७ ॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

---

* स्थान चार हैं, सेना, कोश, पुर, राष्ट्र (गोवि० कुल्लू० नारा० राघ) अथवा स्थान अपने देश से न फिसलना (मेधा०) आसन= ठहरना (नन्द०) † समुदय=धन का आगम और वृद्धि (Revenue)

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणिनिक्षिपेत् ।
तेन सार्धंविनिश्चित्य ततः कर्मसमारभेत ॥५९॥
अन्यानपिप्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थ समाहर्तॄ नमात्यन्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥
निर्वर्तेतास्ययावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६१॥

पर उन में से जो सब से उत्तम,विद्वान् ब्राह्मण है उसके साथ राजा छः गुण से सम्बन्ध रखने वाला उत्तम मन्त्र विचारे* ॥५८॥ सदा उस पर भरोसा करके सारे काम सौंपदे, उसके साथ निश्चय करके हरएक काम आरम्भ करे ॥ ५९ ॥ (मन्त्र के सहायक कह दिये, अब काम करने के सहायक बतलाते हैं) और भी अधिकारी बनावे, जो शुद्ध बुद्धिमान्, पक्के †, भली भान्ति धन के इकट्ठा करने वाले और अच्छी तरह परीक्षा किये गए हैं ॥ ६० ॥ इसके काम की आवश्यकता जितनों से पूरी होसके, उतने अधिकारी बनावे,जो आलस्य रहित, उत्साह वाले, और काम करने में निपुण हों ॥

तेषामर्थ नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥
दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥

उन में से जो चतुर, कुलीन, शुचि, पर साथ ही शूरवीर हैं, उन को धन (इकट्ठा)करने में लगाए (अर्थात) खानों में और कार-

* याज्ञ० १।३११ † नारा०अवस्थितान्,के स्थान 'कुलोद्गतान्' पाठान्तर भी बतलाता है।

स्थानों में, पर जो भीरु हैं, उनको घरके भीतरी काम में लगाए*॥६२॥ और दूत का उसको अधिकार दे, जो सारे शास्त्रोंमें निपुण हो, इंगित (इशारा) आकार (चेहरे की शकल) और चेष्टा (शरीर की हरकत) का जानने वाला हो, शुचि उत्साही और कुलीन हो ॥६३॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥
अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनायिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥६५॥
दूतएव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा नवा ॥६६॥
सविद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥

राजा का दूत वह अच्छा होता है, जो अनुरक्त† हो, शुचि, निपुण, अच्छी स्मृति वाला, (जो काम उस के हाथ में है, उसके) देश और काल को जानने वाला, सुन्दर शरीर, निर्भय और अच्छा बोलने वाला हो॥६४॥सेना अमात्य (जो सेना के काम में नियुक्त है उस अमात्य) के अधीन होती है, (और प्रजा का) बस में रखना सेना के अधीन होता है, कोष और राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं, सन्धि और उलट (युद्ध) दूत के अधीन होते हैं ॥६५॥ क्योंकि दूत ही राजाओं को मिलाता है, और मिले हुओं को फोड़ता है, दूत वह कर्म करता है, जिस से (राजे आपस में) फूट जाते हैं वा

---

* विष्णु३।१८,२१ † अनुरक्त=अनुराग वाला (Loyal) (मेधा-गोवि०

नहीं * (मिल जाते हैं) ॥६६॥ वह (दूत) इस (परराज) के जो कारोबार हैं, उनके विषय में उसके आकार, इंगित और चेष्टा को जाने, और उसके विश्वासियों के इंगित और चेष्टाओं से जो कुछ वह भृत्यों के विषय में करना चाहता है, उसे जाने॥६७॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

परराज जो करना चाहता है, वह सब (दूत द्वारा) ठीक २ जान कर ऐसा प्रयत्न करे, जैसे वह अपनेको पीड़ा‖न दे सके॥६८॥

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥
धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥
सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥
त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।

राघ०) लोगोंका प्यारा (कुल्लू०) ‡ 'भिद्यन्ते येन वा नवा' के स्थान नन्द० 'भिद्यन्ते येन मानवा' और गोवि० 'भिद्यन्तेयेनबान्धवाः' पढता है, इसके जन वा बान्धव उससे फट जाते हैं§ निगूढेंगितचेष्टितैः' का अर्थ राघ० और गोवि ' अपने इंगित और चेष्टाओं को छिपा कर उसके आकारादि को जाने ' नन्द० के अनुसार ' ऐसे पुरुषों द्वारा जाने जिनके इंगित और चेष्टित गुप्त रहे ' ‖ भृत्य = अपने नौकर चाकर जो किसी बात से क्षुब्ध हैं, वा लोभी हैं, वा अपमानित हैं। राघ० गोवि-और नन्द० यह अभिप्राय लेते हैं, कि वह दूत ऐसा काम करे, जिससे अपने ऊपर वा अपने राजा के ऊपर कोई हानि न पड़े।

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवंगमनरामराः ॥ ७२ ॥
यथादुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

ऐसे देश में वास करे जो जांगल* है, जहां अनाज बहुत है, जहां आर्य बहुत हैं, जो गंदा नहीं (जहां रोगादि नहीं होते) सुहावना है, जहां चारों ओर के अधीन सरदार आज्ञाकारी हैं, जहां (अपनी और प्रजा की) जीविका अच्छी हो सक्ती है †॥६९॥ मरु (थल) का दुर्ग, वा जल का दुर्ग वा वृक्षों का दुर्ग वा मनुष्यों का दुर्ग वा पहाड़ों के दुर्ग का आश्रय लेकर पुर में बसे ‡॥७०॥ सारे प्रयत्न से पहाड़ के दुर्ग का आश्रय ले, क्योंकि बहु गुणों वाला होने से पहाड़ का दुर्ग इन सब में बढ़िया है ॥७१॥ इन (छः प्रकार के दुर्गों) में से पहले तीनों का आश्रय मृग, बिलों में रहने वाले (चूहे आदि) और जलचर लेते हैं, अगले तीनों का आश्रय क्रम से वानर मनुष्य और देवता लेते हैं ॥ ७२ ॥ जैसे यह जब अपने दुर्ग के आश्रित हों, तो शत्रु इनको क्लेश नहीं दे सक्ते हैं, तैसे (इन) दुर्गों का आश्रय लिये राजा को शत्रु नहीं मार सक्ते हैं॥७३॥ कोट (पनाह, फसील) पर खड़ा एक धनुर्धारी सौ के साथ युद्ध कर सक्ता है, और सौ दस हज़ार के साथ इसलिये दुर्ग बनाया जाता है ॥ ७४ ॥

तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥७५॥

---

* जांगल का पूरा लक्षण—जहां जल घास थोड़ा हो, वायु बहुत हो धूप बहुत हो, बहुत अनाज आदि से युक्त हो (गोवि० राघ० कुल्लू०)

† याज्ञ १।३२० विष्णु ३ । ४५ ‡ विष्णु ३ । ६ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥
तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥७७॥
पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥७८॥
यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥७९॥

वह (दुर्ग) शस्त्रों से, धन से, बोझ ढोने वाले पशुओं से, ब्राह्मणों से, कारीगरों से, यन्त्रों (कलों) से चारे और जल पूर्ण हो ॥ ७५ ॥ उसके मध्य में बहुत खुला अपना घर बनाए जो सब ओर से रक्षित हो, सब ऋतुओं (में रहने) के योग्य हो * शुभ हो, जल और वृक्षों से युक्त हो † ॥ ७६ ॥ उस में रहता हुआ स्त्री विवाहे, जो अपने वर्ण की हो, अच्छे लक्षणों वाली हो, बड़ी कुल में उत्पन्न हुई हो, मनोहर हो, सुरूपा हो, गुणों वाली हो ॥ ७७ ॥ पुरोहित बनावे और ऋत्विजों को चुने, और वह इस के गृह्य और श्रौत कर्म करें‡॥७८॥राजा पूरी दक्षिणा वाले अनेक प्रकार के यज्ञ करे, और धर्म के अर्थ ब्राह्मणों को भोग (भोग्यवस्तुएं) और धन देवे § ॥७९॥

---

* सब ऋतुओं के फल फूल आदि से युक्त (मेधा०गो०वि०कुल्लू०राघ०)
† आप २ । २५ । २—३ ‡ वासि० १९ । ३—६ गौत० ११।१२—१८ बोधा० १ । १८ । ७—८ याज्ञ० १ । ३१२—३१३ विष्णु० ३ । ७०
§ आप २ । २६ । १ याज्ञ १ । ३१४ विष्णु ३ । ८१, ८४ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥
अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥८१॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥
न तं स्तेना नचामित्रा हरन्ति न च नश्यति ।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयोनिधिः ॥८३॥
न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यतिकर्हिचित् ।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

वार्षिक कर (Revenue) राज्य से विश्वासी पुरुषों द्वारा उगाहे; लोक में शास्त्र पर चले * और प्रजाजनों में पिता तुल्य बर्ते † ॥ ८० ॥ अनेक प्रकार के अध्यक्ष (Supervisors) बनाए जो उस२ (काम की अपनी २ शाखा) में निपुण हों, वह इस के कार्य कर्त्ता पुरुषों के सारे कार्यों को देखें ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण जो गुरु कुल से वापिस आए हैं, उनकी पूजा करे, क्योंकि ब्राह्मण में रखी (निधि) राजाओं की अनखुट्ट निधि कही है ‡ ॥ ८२ ॥ न उसको चोर वा शत्रु हरते हैं, और न नष्ट होती है, इसलिये राजा को एक अनखुट्ट निधि ब्राह्मणों में रखनी चाहिये ॥८३॥ हवि जो ब्राह्मण के मुख में होमी है, वह न कभी बह जाती है, न बिगड़ती है § न कभी नष्ट होती है, अतएव दूसरे अग्निहोत्रों से बढ़कर है

---

* अर्थात् शास्त्र में कहे से अधिक कर वा अधिक काम न ले † याज्ञ १ । ३२१ ‡ याज्ञ १ । ३१४ § न सूख जाती है (कुल्लू०) दुःख नहीं उत्पन्न करती है (राघ० यही अर्थ वासि० ३ । ७ पर

समम ब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
प्राधीते शतसाहस्र मनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥
पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥८६॥

दान जो अब्राह्मण को (दिया) है, वह बराबर होता है * नाम म त्र के ब्राह्मण को दिया दुगुना फल देता है, अच्छे पढ़े † को दिया क्ष गुणा देता है, वेद के पार पहुंचे को दिया अनन्त फल देता है ॥ ८५ ॥ पात्र के गुणों के अनुसार और (दाता की) श्रद्धा के अनुसार दान का फल थोड़ा वा बहुत परलोक में होता है

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥
संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥८८॥
आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसतो महीक्षितः ।
युध्यमानाःपरं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥८९॥

प्रजा का पालन करते राजा को बराबर का बढ़कर वा दुर्बल (कोई शत्रु युद्ध का) आह्वान दे, तो क्षात्र धर्म को

कृष्ण पण्डित ने लिया है) * मेधा० न च्यवते=नहीं गिरती है, पाठ पढता है, नारा० इस पाठ को मुख्यता देता है † उस वस्तु के देने का जितना फल शास्त्र बतलाता है, उतना (गोवि० कुल्लू० राघ०) दया के बराबर (नारा०) ‡ मेधा० नारा० प्राधीते के स्थान आचार्य पढते हैं * * गौत० ५ । २० ॥

स्मरण करता हुआ युद्ध से न हटे * ॥८७॥ संग्राम से न लौटना, प्रजाका पालन और ब्राह्मणों की सेवा, यह राजा के लिये कल्याण के सर्वोत्तम साधन हैं ॥ ८८॥ वह राजे, जो संग्राम में परस्पर एक दूसरे को मारना चाहते हुए पराङ्मुख न होकर पूरी शक्ति के साथ लडते हैं, वह स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ८९ ॥

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्नि ज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥९१॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थ मुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

रण में जब लड़ रहा है, तो धोखे के शस्त्रों से † शत्रुओं को न मारे, न नोकदार (फलों वाले) ‡ न विष लिबड़ों, न अग्नि से जलते फाले वालों से § ॥ ९० ॥ (रण में) स्थल पर चढ़े ¶

---

* गौत० १० । १६ आप २ । २६ । २ बौधा० १ । १८ । ९ याज्ञ १ । ३२२—३२३ विष्णु ३ । ४३—४५ ॥

† लकडी आदि के अन्दर छिपे हुए, वा बम आदि ‡ जिनका निकालना अन्दर से दूसरे मांस को भी चीरता आए § बौधा० १।१८। १० ¶ लड़ाई छोड़कर अलग ऊंचे स्थल पर जा खडा है, (नारा०) आप रथ पर हो, तो भूमि पर खडे को न मारे, (मेधा०, कु०, राघ०)

को न मारे, न नपुंसक को, न जिसने हाथ जोड़ दिये हैं न जिस के बाल बिखर गए हैं, न जो बैठ गया है, न उसको जो 'मैं तेरा हूं' कह रहा है (शरणागत) है, * ॥ ९१ ॥ न सोए हुए को, न जिसका कवच टूट गया है, न नंगे † को, न शस्त्र हीन को, न उसको जो आप न लड़ता हुआ केवल देख रहा है, न दूसरे के साथ जुटे को ॥ ९२ ॥ न जिसके शस्त्र टूट गए हैं, न जो (पुत्रादि के मरने से) पीड़ित है, न जो बहुत परिक्षत (ज़ख्मी) हुआ है, न डरे हुए को, न लौटे हुए को (मारे), उत्तमों के धर्म को स्मरण करता हुआ (अर्थात् सच्चे योद्धा इनको नहीं मारते हैं) ॥ ९३ ॥ जो (क्षत्रिय) संग्राम में डरकर भागता हुआ शत्रुओं से मारा जाता है, वह अपने स्वामी के सारे पाप को प्राप्त होता है, जो कुछ उसका है, ‡ ॥ ९४ ॥ और इस लौटकर मारे गए का जो कुछ परलोक के लिये कमाया पुण्य है, उस सारे को स्वामी लेलेता है ॥ ९५ ॥

रथाश्वं हास्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥९६॥
राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥९७॥
एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मःसनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥९८॥

---

* ९१-९३ गौत० १० । १८ आप० २ । १०--११ बौधा० १ । १८ । ११ याज्ञ० १ ।३२५ † नंगे से तात्पर्य लड़ाई में जिसकी टोपी आदि उतर गई है, वा 'भग्न' पाठ है, तो मन से भांज खागया है, मैं नहीं लड़ता हूं, कह रहा है, (मेधा०) ‡ ९४--९५ याज्ञ० १ । ३।२४ ।

रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन अनाज, पशु, स्त्रियें (खाने पीने के) सब पदार्थ (गुड़ लवण आदि) और चांदी सोने से भिन्न धातें इनमें से जो जिसको जीतता है, वह उसकी है * ॥ ९६ ॥ (सिपाही अपनी) लूटका उत्तम भाग राजा को देवें, यह वैदिक श्रुति † है, और राजा ने भी जो अलग (अकेले आप) नहीं जीता है, वह सब योधों को बांट देना चाहिए ॥९७॥ यह योधाओं का निर्दोष सनातन धर्म बतलाया है, इस धर्म से क्षत्रिय को गिरना नहीं चाहिए, जब वह रण में शत्रुओं को मारता है ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थ प्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥१०० ॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥१०१॥

जो अभी नहीं पाया है, उसके पाने की इच्छा करे, जो पालिया है, उसकी यत्न से रक्षा करे, सुरक्षित को बढ़ाए और बढ़े हुए को योग्यों में बांट देवे ‡ ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकार का पुरुषार्थ का साधन समझे, सावधान होकर इसको सदा अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥ जो अभी नहीं पाया है, उसको अपनी दण्डशक्ति (सेनाबल) से पाने की इच्छा करे, और जो पालिया है, उसको पूरे ध्यान से रक्षा करे सुरक्षित को वृद्धि के साधनों (जल, स्थल व्यापार, नहरों आदि) से बढ़ाए और बढ़े हुए को योग्यों पर बांट दे।

* ९६-९७ गौत० १० । २०-२३ † देखो ऐतरेय ब्राह्मण ३ । २१
‡ वसिष्ठ० २६ । ६ याज्ञ० १ । ३१६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृत-सर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥१०२॥
नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणिभूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥
अमाययैव वर्तेत न कथञ्चन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥१०४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥
बकवाच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

उसका दण्ड * सदा तय्यार रहे, पुरुषार्थ सदा प्रकट हो, मन्त्र सारे सदा गुप्त रहें, और सदा शत्रु के छिद्रों का खोजी हो ॥१०२॥ जिसका दण्ड सदा तय्यार है, सारा जगत् उस से डरता है, इसलिए सब जीवों को दण्ड से ही अधीन करे ॥१०३॥ माया (छल कपट) के बिना ही बर्ते, माया से कभी न बर्ते, अपने आप को सदा ढांपे रखकर † शत्रु से चलाई माया को जाने (अपने पक्ष की पूरी रक्षा करता हुआ शत्रुओं की माया को गुप्तचरों द्वारा जानता रहे, जिससे कि वह इसके अपने अधिकारियों वा मित्रजनों में फूट न उत्पन्न कर सकें) ॥१०४॥ इस के छिद्र को शत्रु न जाने, पर आप शत्रु के छिद्र को जाने, कछुए की तरह

---

* दुष्टोंको डांटने के लिए, (नारा० नन्द०) दण्ड = सेना (मेधा० गोवि० कुल्लू०) † मेधा० 'स्वसंवृतः' के स्थान 'अतन्द्रितः'

(राज्य के) अंगों (मन्त्री आदि) को ढांपे रक्खे, और अपने छिद्र का बचाव करे ॥ १०५ ॥ बगले की तरह अपने प्रयोजनों में ध्यान रक्खे * शेर की तरह पराक्रम दिखलाए † भेड़िये की तरह झपट लेजाए ‡ और ससे (खरगोश) की तरह निकलजाए § ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥
सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११

इसप्रकार विजय में लगे हुए राजा के जो विरोधी हों, उन सब को साम आदि (चार) उपायों से बस में लाए ॥ १०७ ॥

सावधान रहकर पढ़ता है, * इस देश को लेना है इस शत्रु को नीचा दिखाना है, इत्यादि † जैसे शेर मस्त हाथी पर बेधड़क जा कूदता है, और मार डालता है, इसतरह निडर हो झपट २ कर प्रबल शत्रुओं को भी नीचे गिराए ‡ भेड़िया जैसे रखवालों के होते हुए भी जरा भी प्रमाद होने पर झपटकर पशु को लेजाता है, इसतरह अवसर पाते ही झपटकर छीन ले, § जैसे ससा अनेक शिकारियों को व्यामोह देकर निकलजाता है, इसतरह आवश्यकता के समय निकल जाए ॥

यदि वह पहले तीन उपायों से न ठहरें, तो केवल दण्ड (शक्ति) से दबाकर धीरे २ उनको वश में लाए ॥ १०८ ॥ साम आदि चार उपायों में से पण्डितजन सदा साम और दण्ड को ही राज्य की वृद्धि के लिये सराहते हैं (साम में अपना कुछ क्षय नहीं होता और दण्ड में अपनी हानि तो होती है,पर कार्यसिद्धि अधिक होती है) ॥१०९॥ जैसे चोना * घास को निकाल फेंकता है, और अनाज को रख लेता है, वैसे राजा राष्ट्र की रक्षा करे, और विरोधियों (चोर आदि) को मारे॥ ११०॥ जो राजा भूल से उतावली के साथ अपनी प्रजा को सताता है, वह जल्दी बान्धवों समेत राज्य से और जीवित से फिसल पड़ता है ॥ १११ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्तेराष्ट्रकर्षणात॥११२॥
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥११३॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥११४॥

जैसे शरीर को सताने से प्राणधारियों के प्राण नष्ट होते हैं, वैसे प्रजा के सताने से राजाओं के भी प्राण नष्ट होते हैं, (प्रजा की रक्षा अपने शरीर के तुल्य करनी चाहिये) ॥ ११२ ॥ राष्ट्र के शासन में सदा यह (अगला) नियम बर्ते, क्योंकि जो राजा अपने राष्ट्र पर अच्छा शासन करता है, वह आसानी से बढ़ता है ॥ ११३ ॥ दो, तीन, पांच वा बहुत से गाओं † के मध्य में किसी (विश्वासी

* खेत में इकट्ठे उगे अनाज और घास में से घास को चुन २ कर बाहर निकालने वाला † ग्राम शतानाम् = सौ गाओं के मध्य में। यहां शत = सौ बहुतों के अभिप्राय में है,पूरे सौ से नियम नहीं अर्थात् जितने गाओं में एक थाना रखने से काम ठीक चले । पर प्रायः टीकाकारों ने सौ गाओं ही अर्थ किया है । नारा०शतानाम् बहुवचन से सौ वा दो सौ चार सौ आदि भी लेता है॥

अधिकारी) के अधिकार में राष्ट्र के शासन (चोरादि से रक्षा और कर आदि के उगाहने) के लिए एक स्थानक (थाना) बनाए ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥
ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैःस्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥११६॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥
यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥११८॥
दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पंच कुलानि च ।
ग्रामं ग्राम शताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम्॥११९॥

एक गाओं का अधिपति बनाए, ऐसे ही (उन दसों पर) दस ग्राम का अधिपति, बीस का अधिपति, सौ का अधिपति और सहस्र का अधिपति * ॥ ११५ ॥ ग्राम का अधिपति अपने ग्राम में उत्पन्न हुए दोषों का स्वयं क्रमवार दस ग्राम के अधिपति को पता दे, † दस का अधिपति बीस के अधिपति को ॥ ११६ ॥ बीस का अधिपति वह सब सौ के अधिपति को निवेदन करे, सौ का अधिपति सहस्र पति को स्वयं निवेदन करे ॥ ११७ ॥ ग्राम वासियों ने जो अन्न पान लकड़ी आदि

---

* ११५-१२४ आप० २। २६। ४-५ याज्ञ० १ । ३३७ विष्णु० ३। ७-१५ † जो आप सुलझा लिए हैं, उनका भी, और जो अभी नहीं सुलझे, वा उससे सुलझने कठिन हैं, उनका भी

* प्रतिदिन राजा को देने होते हैं, उनको ग्राम का अधिपति (वृत्ति के लिए) लेवे ॥ ११८॥ दस का अधिपति कुल † को भोगे, बीस का अधिपति पांच कुलों को, सौ ग्राम का अध्यक्ष एक ग्राम को, सहस्र का अधिपति पुर को (भोगे) ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०
नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥
स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥
ये कार्यिभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

इन (अधिकारियों) के जो ग्रामसम्बन्धी कार्य हैं, और उनके अलग कार्य ‡ हैं, उनको राजा का एक और मन्त्री देखे, (जो राजा प्रजा दोनों का) हितैषी हो और (अपने काम में) आलस्य से रहित हो ॥ १२० ॥ और नगर २ में एक ऐसा ऊंचे दर्जे का पुरुष जो उग्ररूप (रोब दाबवाला) नक्षत्रों में ग्रह

---

*न कि वार्षिक कर आदि † कुल पारिभाषिक शब्द है ग्राम का एक भाग जोकि किन्हीं प्रान्तोंमें पट्ट और किन्हीं में उप्ट प्रसिद्ध है, (मेधा० जितनी भूमि बारह बैलों से जोती जासकती है, (गोवि०, कुल्लू०, नारा०, राघ०) जितनी एक किसान का भाग है, (नन्द) ॥

‡ उनके आपस के झगड़े (नारा०) § ग्रह=प्रधान ग्रह शुक्रादि (कुल्लू०, राघ०) मंगल (मेधा०) चन्द्र (नन्द०) सूर्य (गोवि०)

की तरह (तेजस्वी) हो उनको सारे कार्यों का निरीक्षक नियत करे ॥ १२१ ॥ वह स्वयं सदा उन सब (अधिपतियों) का वारी से दौरा करे, और उन पर छोड़े गुप्तचरों से अपने २ प्रान्तों में उनके वर्ताव की पूरी जांच करे ॥ १२२ ॥ क्योंकि राजा के नौकर जो (लोगों की) रक्षा के लिए नियत किये गए हैं, वह प्रायः दूसरों का धन लेने वाले ठग बन जाते हैं, उन से इन प्रजाओं की रक्षा करे ॥ १२३ ॥ उनका सारा धन लेकर राजा उनको देश से बाहर निकाल दे, जो पापी हृदय वाले कार्य वालों से (रिश्वत के तौर पर) धन लेवें ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥
पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

(राजकीय) सेवा में युक्त स्त्रियों (दासियों) और नौकरों चाकरों की उनके दर्जे और काम के योग्य प्रतिदिन की जीविका नियत करे ॥ १२५ ॥ निचले (संमार्जन=झाड़ने आदि के काम में नियुक्त दास को एक पण* और छः महीने पीछे पोशाक और हर महीने अनाज का एक द्रोण † देना चाहिए । और ऊंचे भृत्य को छः पण ‡ देवे ॥ १२६ ॥

---

* पण देखो आगे ८ । १३६ † द्रोण=छः आढक=१०२४ मुट्ठी ‡ छः पण प्रतिदिन, इसीप्रकार छः पोशाक छः महीने पीछे और छः द्रोण प्रतिमास अनाज । इसी रीति पर मध्यम को निकृष्ट से सब कुछ तिगुना ।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥१२७॥
यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१२८॥
यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥१२९॥

खरीद और बिक्री (का भाव), मार्ग (की दूरी), खुराक (का खर्च), छोटे २ खर्च, और योगक्षेम * देखकर व्यापारियों पर कर लगाए ॥ १२७ ॥ राजा यह सोचकर सदा देश में कर नियत करे, कि जिससे राजा और उन कर्मों के कर्त्ता दोनों फल से युक्त हो ॥ १२८ ॥ जैसे जोक, बछड़ा और भौरा थोड़ी २ खुराक खाते हैं, वैसे राजाको थोड़ा२ वार्षिक कर लेना चाहिए ॥

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादशएवच ॥१३०॥
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥१३२॥

पशु और सोने का पचासवां भाग (लाभ से) राजा को लेना चाहिए, अनाज का आठवां छठा वा बारहवां भाग †

* मार्ग वा स्थान पर चोर डांकुओं से रखवाली और और टूटने फूटने से रखवाली के खर्च ।

† वासि० १९ । २६-२७ गौत० १० । २४-२७ आप० २ । २६

॥१३०॥ वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, ओषधि, रस (लवण आदि) पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, घास, चमड़ा बैत की बनी वस्तु, मट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी हरएक वस्तु का छटा भाग लेवे ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥१३३॥
यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

(भूख से) मरता हुआ भी राजा श्रोत्रियसे कर न लेवे, और न ही इस के देश में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित हो * ॥ १३३॥ क्योंकि जिस राजा के देश में श्रोत्रियसे भूख से पीड़ित होता है, उसका राष्ट्र भी जल्दी भूख से पीड़ित होता है ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञाऽयं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

इसका शास्त्र ज्ञान और आचरण (की पवित्रता) जानकर धर्म युक्त वृत्ति नियत करे सब ओर इसकी रक्षा करे, जैसे पिता औरस पुत्र की (रक्षा करता है)† ॥ १३५ ॥ राजा से रक्षा किया हुआ (ऐसा ब्राह्मण) प्रतिदिन जो धर्म करता है, उससे राजा की आयु, धन और राष्ट्र बढ़ता है॥ १३६॥

१ बौधा० १ । १८ । १, १३, १५ विष्णु० ३ । २२-२५, २९-३० कई अनाजों पर थोड़ा कइयों पर बहुत बड़ा परिश्रम करना होता है । या किसी जगह वर्षा पर्याप्त होती है, किसी जगह थोड़ी होती है,

* वासि० १९ । २३ गौत० १० । ९ आप० २ । २६ । १०, [illegible]

विष्णु० ३ । २६, ७९ । १२५-१२६ याज्ञ० ३ । ४४ ।

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥
कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥१३८॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनोमूलमात्मानं तांश्चपीडयेत् ॥१३९
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥
अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणेनृणाम्॥१४१॥
एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ताहि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

(शाक पत्रादि के) व्यवहार से जीवन करते हुए साधारण पुरुष से राजा यत् किञ्चित् भी नाम मात्र कर दिलाए ॥१३७॥ शिकलीगर, कारीगर, (लोहार आदि) और मज़दूरी पर जीविका करनेवाले शूद्र, इनसे राजा महीना २ एक २ कर्म (कर के

तौर पर) कराले * ॥१३८॥ न अपना मूल काटे (कर न लेने से) और न दूसरों का [प्रजाजनों] का अतितृष्णा से, क्योंकि अपना मूल [वा प्रजा का मूल] काटता हुआ अपने आपको और उनको पीड़ा देता है ॥ १३९ ॥ राजा (हरएक) कार्य को देखकर तीक्ष्ण और मृदु होवे, तीक्ष्ण और मृदु राजा सब का प्यारा होता है ॥ १४० ॥ जब (राजा प्रजाजनों के) कार्य देखने में थक जाए तो, धर्म के जाननेवाले, बुद्धिमान् † जितेन्द्रिय, कुलीन मुख्य मन्त्री को उस आसन (न्यायासन) पर बिठलाए ‡ ॥१४१॥ इसप्रकार अपने (शासन के) सारे कार्य का विधान करके उद्योगी और अप्रमत्त होकर इन प्रजाओं की रक्षा करे § ॥ १४२ ॥ जिसके राष्ट्र से (अपनी सहायता के लिए) चिल्लाती हुई प्रजाएं डाकुओं से छीनी जाती हैं, और राजा और उसके भृत्य (चुप चाप) देखते रहते हैं, वह (राजा) मरा हुआ है, जीता नहीं है॥१४३॥ क्षत्रिय का परम धर्म प्रजा का पालन ही है बतलाए फल (प्रजा की पूरी रक्षा करके मर्यादाका कर) भोगने वाला राजा धर्म से युक्त होता है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्यप्रविशेत्सशुभांसभाम्॥१४५॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वाःमन्त्रयेत्सहमन्त्रिभिः॥१४६॥

* वासि० १९ । २८ गौत० १० । ३१ विष्णु० ३ । ३२ † 'प्राज्ञ,' के स्थान मेधा० शान्तं पढ़ता है ‡ याज्ञ० २ । १-२ विष्णु० ३ । ७२-७५ § १४२-१४४ वासि० १९ । १ गौत० १० । ७-८ आप० २ । १०६ बौधा० १ । १८ । १ याज्ञ० १ । ३३४-३३५ विष्णु० ३ । १

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥१४८
जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यंगान्मन्त्रकालेऽपसारयेत्॥१४९॥
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतोभवेत ॥ १५० ॥

रात के पिछले पहर उठकर, शौच करके, एकाग्र हो, होम करके, और ब्राह्मणों को पूज करके शुभ सभा में प्रवेश करे ॥ १४५ ॥ वहां स्थित हुआ (दर्शन के लिए आई) सारी प्रजाओं को मधुर संभाषण करके विसर्जन करे सारी प्रजाओं को विसर्जन करके मन्त्रियों के साथ विचार करे ॥ १४६ ॥ पर्वत की पीठ पर वा प्रासाद(महल)पर चढ़कर एकान्त हो, अथवा एकान्त*जंगल में बेमालूम मन्त्र विचारे† ॥१४७ ॥ जिसके मन्त्र को दूसरे लोग मिल करके नहीं जान पाते, वह राजा सारी पृथिवी को भोगता है, चाहे कोश से हीन भी हो ॥ १४८ ॥ मूढ, गूंगे, अन्धे, बहिरे तिर्यग्योनि वाले (तोते, मैना, आदि) स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और अंगहीन को मन्त्र काल में अलग करदे ॥ १४९ ॥ (ऐसे) हीन पुरुष तथा तिर्यग्योनि वाले और विशेषतः स्त्रियें मन्त्र को फोड़ देती है, इसलिए इसमें (इनके अलग रखने में) यत्नवाला हो ॥१५०

* निःशलाके = जहां तिनका नहीं, अर्थात् अपने सिवाय और कोई नहीं, † १४७—१४८ याज्ञ० ३४३ ।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान् सार्धं तैरेकएव वा ॥१५१॥
परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१५२॥
दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुर प्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥१५३॥
कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥१५४॥

दोपहर के समय वा आधीरात के समय जब मन और शरीर में कोई थकावट न हो, तब उन (मन्त्रियों) के साथ वा आप अकेला अपने धर्म, धन, और भोगों का विचारकरे॥१५१॥ यह जो (प्रायः) आपस में विरुद्ध होते हैं, इनका (विरोध हटा कर) इकट्ठा कमाना, कन्याओं का (योग्य वर को) देना, और (राज-) कुमारों की रक्षा (दोषों से और दुष्ट संगों से बचाना और शिक्षा दिलाने) का (चिन्तन करे)॥ १५२ ॥ (दूसरे राज्यों में) दूत का भेजना, (प्रारब्ध) कार्य की समाप्ति, अन्तःपुर (की स्त्रियों) की प्रवृत्ति, और अपने गुप्तचरों की चेष्टाओं को (अन्य गुप्तचरों द्वारा) (जाने)॥ १५३॥ आठ प्रकार का कर्म *

---

* आठ प्रकार का कर्म कामन्दकी नीति के अनुसार—खेती, व्यापार, दुर्ग बनाने, पुल बनाने, हाथियों का बांधना, खानों का खुदवाना, जंगलों की लकडी का व्यापार और सेना की छावनियें डालनी॥ आठ प्रकार का कर्म उशना के अनुसार, कर आदि का लेना, भृत्य आदि को मासिक वा पारितोषिक आदि देना, देश वृद्धि के कार्यों

समग्र पांच का समुदाय,† अनुराग और अपराग ‡ और मण्डल § की प्रवृत्ति को ठीक २ विचारे ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।
उदासीन-प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥
एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।

में लोगों को प्रेरणा, हानिकारकों से रोकना, अपने कामों की कठिनाइयों को सुलझाना, व्यवहार का देखना, दुष्टों को दण्ड देना, शुद्धि ॥ टीकाकारों में से नन्द ने कामन्दक के अनुसार लिखा है, गोवि०, कुल्लू०, राघ०,नारा०,राम० ने उशना के अनुसार लिखा है मेधा० ने यह दोनों मत बतला दिए हैं, और तीसरा मत यह भी बतलाया है, नए काम का आरम्भ, आरब्ध का पूरा करना, पूरा किए को और उन्नत करना, कर्म का फल उठाना, साम, दान, दण्ड और भेद † पांच का समुदाय—इसमें टीकाकारों ने दो मत दिखलाए हैं—एक तो यह कि यह पांच प्रकार के गुप्तचर हैं, कापटिक=बनावटी विद्यार्थी, जो विद्यार्थी होने के हेतु बिना रोक टोक सब से मिल सकें। उदास्थित=बनावटी साधु, गृहपति=किसान, वैदेहिक=व्यापारी, तापस=तपस्वी। यह सब प्रगल्भ पुरुष हों, जो अपना मेल जोल बढा सकें। और सब प्रकार के विचारों से मन्त्री को सूचित करते रहें। अथवा दूसरा अभिप्राय पांच के समुदाय से यह लिया है, कर्मों के आरम्भ का उपाय, उसके चलाने के काम करनेवाले पुरुषों और धन की सम्पदा, रुकावटों का इलाज, देश काल का विभाग, और कार्य की सिद्धि ‡ अपनी प्रजा का अपने में अनुराग और उससे उलट अपराग। इसी प्रकार दूसरे राजों की प्रजा का अनुराग अपराग भी जाने § बारह प्रकार का मण्डल (जो आगे १५५—१५६ में कहेंगे, इसकी प्रवृत्ति—अर्थात् उनमें से कौन राजा किसी दूसरे राजा के साथ सन्धि विग्रह आदि क्या करना चाहता है।

अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताःस्मृताः ॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥१५७॥

मध्यम (राजा) की प्रवृत्ति, विजिगीषु की चेष्टा, उदासीन की प्रवृत्ति और प्रयत्न के साथ शत्रु की (प्रवृत्ति को जाने) *॥१५५॥ यह चार प्रकृतियें संक्षेप से मण्डल का मूल हैं, और आठ और कही हैं, यह सब बारह (प्रकृतियें) कही हैं † ॥ १५६ ॥ इनमें से फिर एक २ के साथ पांच २ और कही हैं-मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग,

---

* १५५—१५९ याज्ञ० १। ३४४ विष्णु० ३। ३८ अपना राज्य और अपने पडोस और पडोसियों के पडोस के जो राज्य हैं, इन सब के राजाओं का एक नाम राजमण्डल है। हरएक राजा का यह कर्त्तव्य है, कि वह निरा अपने राज्य से ही अभिज्ञ न हो, किन्तु सारे राजमण्डल से पूरा २ अभिज्ञ हो। यह राजमण्डल मानों एक शरीर है, इसके अंग इसकी प्रकृतियां कहलाती हैं। यह प्रकृतियां संक्षेप से कहें, तो चार प्रकार की हैं, विस्तार से कहें, तो १२ प्रकार की है, पूरे विस्तार से कहें, तो ७२ प्रकार की है । जो क्रमशः १५५, १५६, १५७ श्लोकों में कही हैं। इनमें से मुख्य चार यह हैं-विजिगीषु, शत्रु, मध्यम, और उदासीन। विजिगीषु=बुद्धि और उत्साह से भरा हुआ, जो अधिक देश पाने के लिए उमंगों से भरा है, कोई अवसर व्यर्थ जाने नहीं देता है। शत्रु तीन प्रकार का होता है। सहज, कृत्रिम और भूम्यनन्तर। सहज=स्वाभाविक—बडों से जिस के साथ वैर आरहा है। कृत्रिम=जिसकी शत्रुता का कोई विशेष कारण हुआ है। भूम्यनन्तर=जिसके साथ अपनी सीमा टकराती है। मध्यम, जो विजिगीषु और उसके शत्रु के मध्य में है, जो यूं तो किसी के भी दबाने में असमर्थ है, पर जब वह दोनों आपस में लड़ रहे हों, तो दबा सक्ता है। उदासीन जो न शत्रु है, न मित्र, (देखो कामन्दकी नीतिसार ८। १८ और आगे १५८) † यह आठ कामन्द

कोश, और सेना। इसप्रकार यह सब (१२ असली और हरएक के साथ की पांच २ (अर्थात् ६० मिलाकर) बहत्तर कही है ॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥
तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥
सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिंतयेत्सदा ॥ १६० ॥
आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥
संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अपने पड़ोसी (जिसकी राज्य-सीमा अपनी राज्य-सीमा से टकराती है) को शत्रु (के तौर पर) समझे, और (ऐसे) शत्रु के साथी को भी (शत्रु समझे) अपने शत्रु के पड़ोसी (मिलती

की नीतिसार ८।१६—१७ के अनुसार इसप्रकार हैं। (क) विजिगीषु के लिये, शत्रु की भूमि के अगली ओर (१) मित्र (२) शत्रु का मित्र, (३) मित्र का मित्र, (४) शत्रु के मित्र का मित्र, (ख) पिछली ओर (१) पार्ष्णिग्राह (=एड़ी पकड़ने वाला अर्थात् आप अगले देश पर चढ़ाई करे, तो पीछे उसके देश पर चढ़ाई करने वाला। (२) आक्रन्द (पार्ष्णिग्राह पर हमला करनेवाला) (३) पार्ष्णिग्रहासार [पार्ष्णिग्राह का सहायक) आक्रन्दासार (आक्रन्द का सहायक) ॥

सीमा वाले) को अपना मित्र (समझे) इन दोनों (शत्रु मित्र) से जो परे (अलग) है उसे उदासीन (न शत्रु न मित्र) समझे ॥ १५८ ॥ इन सब को यथा सम्भव मिले हुए वा अलग २ (प्रयोग किए) साम आदि (चार) उपायों से वश में लावे, अथवा केवल बहादुरी और नीति से ॥ १५९ ॥ सान्धि (मेल) विग्रह (युद्ध) यान (चढ़ाई) आसन (ठहरे रहना) द्वैधी भाव (विभक्त होना=अलग २ होजाना) और संश्रय (किसी का सहारा लेना) इन छः गुणों को सदा चिन्तन करे * ॥ १६० ॥ और कार्य (की सिद्धि) का पूरा ध्यान करके आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैध और संश्रय का प्रयोग करे ॥ १६१ ॥ राजा, सन्धि और विग्रह दो प्रकार का जाने, यान और आसन भी दो प्रकार के, और दो ही प्रकार का संश्रय माना है ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तदात्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥१६३॥
स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले कालएव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहःस्मृतः ॥१६४॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यान मुच्यते ॥१६५॥

उस समय वा भविष्यत के लाभ के लिए दो प्रकार की सन्धि जाननी चाहिए, कुछ दूर चढ़ाई करने से हुई, वा उलट अपने स्थान पर बैठे रहने (से हुई)† ॥१६३॥ विग्रह दो प्रकार का

* १६०—१६१ याज्ञ० १।३४५—३४६ विष्णु० ३।३९ † दूसरे के साथ मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना वा एक ओर से आप और दूसरी ओर से अपने साथी का चढ़ाई करना यह दो प्रकार की सन्धि है,

माना गया है, जो (लड़ाई के) समय * पर वा बिना समय के किया गया है, एक अपने कार्य के लिये स्वयं किया, दूसरा (जब किसी ने) मित्रका अपकार किया हो, (तो बदला लेने के लिए) ॥ १६४ ॥ अकस्मात असावश्यक कार्य पड़ने पर † अकेले का वा मित्र के साथ मिलकर (शत्रु पर) चढ़ना दो प्रकार का यान कहलाता है ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१६६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥
अर्थसम्पादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयःस्मृतः ॥१६८॥

दो प्रकार का आसन माना गया है, एक तो दैव से वा पूर्व कर्म ‡ से जब दुर्बल हो तब, दूसरा मित्र के अनुरोध से ॥ १६६ ॥ कार्य सिद्धि के लिए सेना की और स्वामी की अलग अलग स्थिति करनी यह छः गुण के जाननेवालों से दो प्रकार का द्वैध कहा गया है § ॥ १६७ ॥ दो प्रकार का संश्रय माना

(कुल्लू०) * लड़ाई का समय देखो १८२ † शत्रु का व्यसन देखकर

‡ दैव से=अतिवृष्टि आदि वा मरी आदि से राष्ट्र दुर्बल हो, पूर्व कर्म=अपने किसी किए पहिले काम से, वा शत्रु के किए काम से दुर्बल हुआ हो § अर्थात सेनापति समेत सेना का शत्रु को रोकने के लिए सामने डट जाना, और राजा का चुने सिपाहियों के साथ एक साथ दूसरी ओर से हमला आकरना एक द्वैध-राजाका सामने डटजाना और सेनापति का दूसरी ओर से हमला आकरना दूसरा द्वैध (नारा०) सेनापति का सेना समेत सामने डटना, और राजा का किले में रहना, एक द्वैध इससे विपरीत स्थिति दूसरा द्वैध है।

गया है, एक तो जब शत्रु से पीड़ित होरहा है, तब अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये, दूसरा (यह अमुक राजा के आश्रित है ऐसा) भलों में प्रसिद्ध करने के लिए (जिससे कि उस पर कोई हमला न करे)॥१६८॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदासन्धिंसमाश्रयेत् ॥१६९॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदाकुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥१७१॥

जब राजा भविष्यत् में निःसन्देह अपनी अधिकता और उस समय (युद्ध) में थोड़ी क्षति समझे, तब सन्धि कर लेवे ॥ १६९ ॥ जब अपनी (मन्त्री आदि) सारी प्रकृतियों को उत्साहित * जाने, और अपने आपको बहुत ऊंचा (सारी शक्तियों से उन्नत) समझे, तब विग्रह करे ॥ १७० ॥ जब उत्साह से अपनी सेना को हृष्ट पुष्ट और शत्रु की (सेना को) उलटा समझे, तब शत्रु पर चढ़ाई करे

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१७२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१७३॥

* छपे पुस्तकों में 'प्रकृष्टाः' पाठ है। पर जो अर्थ टीकाकारों ने लिये हैं, उससे 'प्रकृष्टाः' नहीं, 'प्रहृष्टा,' होना चाहिए, सो वैसा

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१७४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥
यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत ॥ १७६ ॥

पर जब वाहन (भार ढोने वाले पशु) और (सेना-) बल से दुर्बल हुआ २ हो, तो धीरे २ शत्रुओं को तसल्ली देता हुआ ठहरा रहे (आसन बर्ते) ॥ १७२ ॥ जब राजा शत्रु को सर्वथा बलवत्तर समझे, तब सेना को दो भाग में करके अपना कार्य साधे ॥१७३॥ जब दूसरी शक्तियों का आसानी से आक्रमण करने योग्य होजाए, तब जल्दी किसी धार्मिक बलवाले राजा का आश्रय ले ले॥ १७४॥ जोकि अपनी प्रकृतियों का और शत्रु की सेना का निग्रह कर सके, उसको सदा सारे यत्नों से गुरु की तरह सेवन करे ॥१७५॥ यदि वहां भी दोष देखे, जिसका कारण सहारा लेना हुआ है, तो निःशंक होकर वहां भी वह युद्ध ही करे॥१७६

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१७७॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।

ही रक्खा है † गोवि० के अनुसार यह पाठ 'सयुद्धं' है। मेधा० कुल्लू०, राघ०, नन्द के अनुसार 'सुयुद्धं' है। पर पहले पाठ में अर्थ अधिक स्पष्ट है, इस लिये वह रक्खा है ॥

अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१७८॥

नीति का जाननेवाला राजा सारे (चारों) उपायों से ऐसा यत्न करे, कि जिससे इसके मित्र उदासीन और शत्रु बहुत बढ़ न जाएं॥१७७॥ सारे कार्यों का भविष्यत् और वर्त्तमान विचारे, और होचुके सारे कार्यों के गुण दोषों को ठीक २ विचारे ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभि भूयते ॥१७९॥
यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥१८०॥

भविष्यत् में गुण दोष के जानने वाला, वर्त्तमान में जल्दी फैसला करनेवाला, और होचुके में कार्यशेष (अवशिष्ट कर्त्तव्य) का जाननेवाला शत्रुओं से नहीं दबाया जाता है ॥ १७९ ॥ इसप्रकार सारा विधान करे, कि जैसे इसको मित्र, उदासीन और शत्रु हानि न पहुंचा सकें, यह संक्षेपतः नीति है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ।
तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥
मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ।
फाल्गुणं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम्॥१८२॥
अन्येष्वपि तु कालेषु यदापश्येद्ध्रुवं जयम् ।
तदायायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

जब राजा शत्रु के राष्ट्र पर चढाई करे, तो इस विधि से

धीरे २ शत्रु के पुर की ओर जाए ॥ १८१ ॥ शुभ मास * मंगसिर में, वा फाल्गुण चैत्र महीनों में, अपनी सेना (शक्ति) के अनुसार राजा चढ़ाई करे † ॥ १८२ ॥ और कालों में भी जब अपना निःसन्देह विजय देखे, वा शत्रु का कोई व्यसन (छिद्र) उत्पन्न होजाए, तो लड़ाई छेड़कर चढ़ाई करे ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधायच ॥ १८४ ॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिक-कल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

मूल (अपने असली राज्य) में प्रबन्ध करके (ताकि पीछे कोई गड़बड़ न हो वा कोई दूसरा न चढ़आए) और यथाविधि यात्रा की सारी सामग्री को साथ लेकर ‡ गुप्तचरों को भली भान्ति (शत्रु के देश में) लगाकर तीन प्रकार के मार्ग § को और छः प्रकार की अपनी सेना ¶ को शोधकर युद्ध के योग्य विधान से धीरे २ शत्रु के पुर को जाए ॥ १८४, १८५ ॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

---

* शुभ इसलिए, मंगसिर में नया अनाज बहुतायत से होजाता है, और मार्ग सूखे होते हैं † याज्ञ० १।३।४७ विष्णु० ३।४० ‡ शत्रु के भृत्यों को अपने अधीन करके (मेधा०, गोवि, कुल्लू०, राघ०) दूसरे राज्य में अपनी छावनी डालकर (नारा०) § तीन प्रकार के मार्ग—उजाड़ के दलदलों के और जंगलों के (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० नन्द०) गाओं, जंगलों और पर्वतों के (नारा०) ¶ छः प्रकार की सेना, हाथी, घोड़े, रथ प्यादे, सेनापति और काम करनेवाले (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०, राघ०) और देखो कामन्दकी नीतिसार १६।६।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तुशकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१८७॥
यतश्चभयमाशंकेत्ततो विस्तारयेद् बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशंकेत प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्॥१८९॥

जो गुप्त तौर पर शत्रु का सेवन करनेवाला है ऐसे मित्र के विषय में तथा जो (भृत्य शत्रु के पास) जाकर फिर आया है, उसके विषय में पूरा सावधान हो, क्योंकि वह कष्टतर शत्रु है (यदि शत्रुता करे, तो बड़ी हानि पहुंचाता है) ॥ १८६ ॥ दण्ड व्यूह से, वा शकट से, वा वराह और मकर से, वा सूची से, वा गरुड़ से, मार्ग पर चले * ॥ १८७ ॥ जिस ओर से भय की शंका हो, उस ओर सेना को फैलाए. स्वयं सदा पद्म-व्यूह † से छावनी डाले

---

* व्यूह=निवेश=सफबन्दी=युद्धक्षेत्र को जाते समय वा युद्ध करते समय सेना का निवेश-सफबन्दी (arraying his troops) यह व्यूह जिस आकार का हो, उसी नाम से बोला जाता है। दण्डे के आकार का व्यूह=दण्डव्यूह अर्थात् आगे सेनाध्यक्ष, मध्य में, राजा, पीछे सेनापति, दाएंबाएं हाथी उनके पास घोडे, फिर प्यादे, इसप्रकार सब ओर से तुल्य रचना वाला लम्बायमान व्यूह दण्ड व्यूह है। इसीप्रकार दूसरे व्यूह भी अपने २ नाम के सदृश हैं। शकट=छकडा=पिछली ओर स्थूल, वराह=सूअर=आगे पीछे सूक्ष्म मध्य में स्थूल। मकर=मगर=मुख और जघनमें स्थूल, सूची =सूई-पतली लम्बी पंक्ति, गरुड=मध्य में पंखों की तरह दूर तक फैली हुई। सविस्तर देखो कामन्दकी नीतिसार अध्याय १९

† पद्म व्यूह=कमल की सी रचना-चारों ओर गोल वृत्त में सेना को फैला राजा केन्द्र में रहे॥

॥ १८८ ॥ सेनापति और सेनाध्यक्ष का सब दिशाओं में स्थापन करे, और उस दिशा को सामने रक्खे जिससे भय की आशंका हो ॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१९०॥
संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥
कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान् ।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ॥ १९३ ॥
प्रहर्षयेद्बलंव्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥१९४॥

चारों ओर सिपाहियों के दल स्थापन करे, जो विश्वासी हों, (लड़ने ठहरने आदि के लिए भेरी आदि के शब्द आदि का) सङ्केत किए हुए हों, ठहराव और युद्ध में कुशल हों (अवसर न चूकें) भीरु न हों, और बिगडने वाले न हों ॥ १९० ॥ थोडों को इकट्ठा करके युद्ध कराए, बहुत हों तो बेशक फैलादे, सूची वा वज्र व्यूह से रचना करके इनको लडाए ॥ १९१ ॥ समस्थल में रथ और घोडों से युद्ध करे, पानी वाले स्थान में नौका और हाथियों से वृक्ष और झाडियों से घिरे स्थान में धनुषों से, स्थल* में तल-

* स्थल=पत्थर वृक्ष झाडी गढे आदि रहित देश (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) पर्व तस्थल (राघ०)

वार ढाल और (भाले आदि) शस्त्रों से ॥ १९२ ॥ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेन (देश) वासियों को * और भी लम्बे बौनों (जान तोड़ कर लडनेवालों) को सेना के आगे जोड़े ॥ १९३ ॥ अपनी सेना को व्यूह रचना में लाकर उनको (उत्साह भरे वचनों से) उत्साहित करे, और सावधानी से उन की परीक्षा करे, और शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुओं की चेष्टाओं को जाने ॥ १९४ ॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥
उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

शत्रु को रोककर बैठे, इसके राष्ट्र को तंग करे, और लगातार इसके चारे जल इन्धन को बिगाड़ दे (रस्ते रोककर जाने न दे) ॥ १९५ ॥ (पानी के) तालाब, कोट (शहर पनाह) और खाइयें तोड़ डाले, (जहां से दाव लगे) उस पर हमला करे और रात्रि के समय डराए(ढोल आदि बजाकर,वा गोले आदि छोड़कर) ॥१९६॥फोड़ने योग्यों (शत्रु के मन्त्री आदि, वा भाई आदि) को फोड़ देवे, और उस (शत्रु) से किए (फोटक) को समझे, और जब दैव अनुकूल हो, तब निर्भय हो जय की इच्छा से लड़े

* मत्स्य=विराट् देश जयपुर के उत्तर में, पञ्चाल=कनौज, शूरसेन=मथुरा प्रान्त ।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्ध्यमान योः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्मादयुद्धं विवर्जयेत ॥१९९॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
तथा युध्येत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

(जहांतक हो) साम, दान और भेद, इन इकट्ठे मिले हुए वा अलग २ [प्रयोग कियों] से शत्रुओं के जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध से कभी नहीं ॥ १९८ ॥ जिसलिए युद्ध करते हुओं का संग्राम में जय अनियत होता है, (बलवानों का भी) पराजय भी होता है, इसलिए युद्ध को त्यागे ॥ १९९ ॥ पूर्वोक्त तीनों उपायों में से कोई न होसके, तो (युद्ध की सारी सामग्री से) सम्पन्न होकर ऐसा लड़े, कि शत्रु को अवश्य जीत ले ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१॥
सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत् तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥२०२॥

जीतकर देवताओं को और धार्मिक ब्राह्मणों को पूजे, परिहार * देवे,और (वहां की प्रजा के लिए) अभयदान का ढिंढोरा दे ॥ २०१ ॥ इन सब (प्रजा और मन्त्री आदि) के अभिप्राय को संक्षेप से जानकर, वहां उस वंश में उत्पन्न हुए को स्थापन करे, और उससे संकेत (अहद) कर लेवे ॥ २०२ ॥

* परिहार शब्द, विस्तृत अर्थों में है । संस्थाओं वा ब्राह्मणों के लिए जागीरें, प्रजाओं से वर्ष वा दो वर्ष के लिए कर छोड़ देना आदि

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥२०४॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

उनके (देश वासियों के) धर्मयुक्त (आचारों) को प्रमाण करे, जैसे वह (उनके धर्म में) कहे हों, और इस (नए राजा) को उसके प्रधान पुरुषों समेत रत्नों (बहु मूल्य उपहारों) से पूजे ॥ २०३ ॥ प्यारी वस्तुओं का लेना अप्रिय बनानेवाला और देना प्रिय बनानेवाला है (इनमें से) ठीक समय पर बर्त्ता (हरएक) प्रशंसा के योग्य होता है (इसलिए उस समय देना ही उचित है) ॥ २०४ ॥ हरएक काम इस (लोक) में दैव और मनुष्य के यत्न पर निर्भर है । पर इन दोनों में से दैव (का इलाज) तो चिन्ता से परे है, (सोचा जा नहीं सक्ता), मनुष्य के काम में क्रिया * (उपाय, इलाज) सम्भव है (इसलिये दैव को अपनी इच्छा पर चलने देकर आप अपने कार्य में विचार और पौरुष से ही साधने का यत्न करे) † ॥ २०५ ॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥२०७॥

* पुरुषकार (राघ०) † याज्ञ० १ । ३४८

अथवा (यदि शत्रु सन्धि करना चाहे, तो) सावधान हो प्रयत्न से उसके साथ सन्धि करके लौट जावे, यह देखता हुआ, कि (पौरुष का) फल मित्र, भूमि वा सोना (यही) तीन प्रकार का होता है (अर्थात् मित्रता भी बड़ा फल है) * ॥२०६॥ मण्डल में पार्ष्णिग्राह (पीछे आकर अपने देश पर आक्रमण करनेवाले) और आक्रन्द (उसको आक्रमण करने से रोकनेवाले) को देख कर (जिस पर आप आक्रमण किया है, उस राजा से) यात्रा का फल लेवे † चाहे वह मित्र होगया है, वा अमित्र ही रहा है॥२०७॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥२०८॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

सोने और भूमि की प्राप्ति से राजा वैसा नहीं बढ़ता है, जैसे ऐसे स्थिर मित्र को पाकर, जो उस समय चाहे दुर्बल ही हो, पर भविष्यत् में समर्थ होनेवाला हो ‡ ॥ २०८ ॥ धर्मज्ञ, कृतज्ञ, और जिसकी प्रकृतियें (प्रजा और मन्त्री आदि) उस पर प्रसन्न हैं, जो प्रेम करनेवाला है, और काम को पूरा करके छोड़ने वाला है, ऐसा मित्र दुर्बल भी प्रशंसा किया जाता है ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥२१०॥

---

* २०६-२१० मेधा० के भाष्य में नहीं हैं † ऐसा न हो कि आप नया देश ग्रहण करने में रहे, और पिछले को पार्ष्णिग्राह दबा ले, यदि ऐसा सन्देह होजाए, तो अगले शत्रु से झट सन्धि स्वीकार कर पिछली सम्भाल में सावधान होजाए ॥ ‡ याज्ञ० ॥ १ । ३५२ ।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सतत मुदासीनगुणोदयः ॥२११॥

बुद्धिमान् कहते हैं, ऐसा शत्रु बड़ा भयंकर होता है, जो समझ वाला, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता कृतज्ञ और धैर्यवाला हो, (ऐसे से जहांतक बने, सन्धि कर लेनी और रखनी चाहिए) ॥ २१०॥ आर्यता, (योग्य अयोग्य) पुरुषों की पहचान, वीरता दया को अनुभव करनेवाला होना, बहुत उदारता, यह उदासीन के गुणों का उदय है (दूसरा अवश्य किसी का मित्र और किसी का शत्रु होता है) ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥२१२॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥२१३॥

सदा अरोगता देनेवाली, खेती देनेवाली और पशुओं की वृद्धि करनेवाली भूमि को भी राजा अपने (बचाव के) लिये बिन सोचे त्यागदे (यदि उसके त्याग से अपना निस्तारा हो) ॥२१२॥ आपदा (के दूर करने) के लिए धन की रक्षा करे, धन से भी स्त्रियों की रक्षा करे, और अपने आपको सदा स्त्रियों से भी और धन से भी रक्षा करे, (जब राजा की अपनी रक्षा में स्त्रियों के मरने और धन के लुट जाने बिना कोई उपाय न रहे, तो ऐसा सहले)॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेदबुधः ॥२१४॥
उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५॥

बुद्धिमान् (राजा) जब (कोश का क्षय, प्रकृतियों का कोप और मित्र का व्यसन आदि) सारी विपत्तियों को एक साथ उत्पन्न हुआ देखे (तो घबरा न जाए, अपितु) मिले हुए वा अलग २ सारे (चारों) उपायों को बर्ते (अपने आपको और राज्य को बचाने के लिए) ॥ २१४ ॥ उपाय बर्तने वाले * को, और उपाय से पाने योग्य (फल) को और सारे उपायों को इन तीनों का पूरा सहारा पकड़कर † अर्थ सिद्धि के लिए यत्न करे

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्यमध्यान्हेभोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥
तत्रात्मभूतः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥२१७॥
विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

इन सब विषयों का अपने मन्त्रियों के साथ विचार करके व्यायाम और स्नान करके, मध्यान्ह में खाने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २१६ ॥ वहां विश्वासी, कभी न बिगड़ने वाले, (जिस समय जो व्यञ्जनादि बनाना चाहिये, और भोजन में जिस समय देना चाहिए उस) काल के जाननेवाले नौकरों से, (तय्यार किए) सुपरीक्षित अन्न को विष के दूर करने वाले मन्त्रों से खाए ‡ ॥ २१७ ॥ विष के दूर करनेवाले औषधों से

* उपाय बर्तनेवाला=आपराजा (गोवि०, कुल्लू०, नारा० राघ०) मन्त्री आदि (नन्द) † सहारा पकडकर=मन से इनके बल अबल आदि का निश्चय करके (नारा०, राघ०) इन पर निर्भर करके (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) ‡ २१५-२२० याज्ञ० १।३२६ विष्णु० ३।८०, ८७-८८

इस के (खाने के) सारे पदार्थों को युक्त करे, * और विष के दूर करनेवाले रत्न सदा सावधान हो धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥२१९॥
एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥२२०॥
भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणिचिन्तयेत् ॥२२१॥
अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि ॥२२२॥

परखी हुई स्त्रियें जिनका वेष और भूषण स्वच्छ है वह सावधान होकर पंखा, जल, धूप से इसका सेवन करें ॥ २१९ ॥ इसप्रकार गाड़ी, बिस्तरा, आसन, (रोटी से भिन्न भी) खाने की वस्तु, स्नान, अनुलेपन और भी जो सजावट की वस्तुएं हैं, उन सब में सावधान हो ॥२२०॥ जब खाचुके, तब अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ जी बहलाकर फिर ठीक समय पर कार्यों का चिन्तन करे ॥ २२१ ॥ (जंगी पहरावे से) सजा हुआ फिर अपने शस्त्रधारी जनों को देखे, सारे वाहन, शस्त्र और वर्दियों को देखे

---

* कुल्लू के अनुसार 'योजयेत्' पाठ है युक्त करे। (मेधा०, गोवि०, नारा०,नन्द) के अनुसार 'नेजयेत् है,अर्थ-धोवें और राघ० के अनुसार 'शोधयेत् है। अर्थ-शोधे।

सन्ध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥
गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तः पुरं पुनः ॥२२४॥
तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥२२५॥
एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥२२६॥

फिर सन्ध्या उपासकर शस्त्र पहने हुए घर के अन्दर (बैठकर) गुप्त बातों के कहने वालों * के और गुप्तचरों के (किये) काम सुने † ॥ २२३ ॥ वहां से दूसरे कमरे में जाकर, उन लोगों को विसर्जन कर, (सेविका) स्त्रियों से युक्त हुआ भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे॥२२४॥ वहां फिर कुछ खाकर, बाजों की ध्वनियों से प्रसन्न हुआ ठीक समय पर सोवे और थकावट को दूरकर (तरो ताजह होकर) ठीक समय पर उठे ॥२२५॥ राजा अरोग हो, तो यह सारा काम आप अनुष्ठान करे, अस्वस्थ हो, तो यह सब भृत्यों के ऊपर डाल देवे ॥

इति श्रीसप्तमोऽध्याय समाप्तः

---

* मन्त्री आदि (नारा०) पुर के कई लोग (मेधा०) † याज्ञ० १ । ३२९ ‡ याज्ञ० १ । ३३० ।

अथाष्टमोऽध्यायः

संगति—राज्यकार्यों को कहकर अब प्रजा के न्याय का प्रकार बतलाते हैं :—

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥१॥
तत्रासीनःस्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२॥
प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥३॥

व्यवहारों (मुकद्दमों) को देखना चाहता हुआ राजा विनीत होकर ब्राह्मणों और मन्त्र के जाननेवाले मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करे * ॥ १ ॥ वहां बैठकर वा खड़ा होकर † दाएं हाथ को उठाकर ‡ विनयवाले वेष और भूषणों से युक्त हुआ, कार्य वालों के कार्य, जो अलग २ अठारह मार्गों में बांधे गए हैं, उनको, देश में देखे और शास्त्र में देखे हेतुओं § से प्रतिदिन देखे (विचारे) ¶ ॥ ३ ॥

---

* वासि० १६।२ गौत० १३।२६ याज्ञ० १। ३५९; २।१ विष्णु० ३।७२ † बडे कार्यों में अवश्य बैठकर धैर्य के साथ निबेडे, छोटे चाहे खड़ा रहकर निबेड़ले (मेधा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०) ‡ दाईं भुजा को उठाकर (कुल्लू०) दायां हाथ वस्त्र से बाहर रखकर (नारा०, नन्द०, राघ०, गोवि०) और देखो पूर्व ४।५८ § देश में देखे, देश, जाति और कुल के आचार, शास्त्र में देखे प्रमाणपत्र और साक्षी आदि ¶ वासि० १६।४-५ गौत० ९। १९-२४ ॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मोविभागश्च द्यूतमाह्वयएव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥
एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

उन (अठारह) में से पहला (१) ऋण का न देना * (२) निक्षेप (अमानत) (३) बिना स्वामी होने के वेचना (४) मिलकर कारोबार (५) दिये हुए का फेर लेना ॥ ४ ॥ (६) वेतन का न देना (७) इकरार का पूरा न करना (८) खरीद और बिक्री का पश्चत्ताप (९) पशुओं के मालिक और पालक का झगड़ा ॥ ५ ॥ (१०) सीमा (हद) के झगड़े का धर्म (कानून) (११, १२) वाणी और दण्ड की कठोरता (गाली देना वा मारपीट) (१३) चोरी (१४) साहस (बलात्कार) (१५) पर स्त्री का लेलेना ।६। (१६) पति पत्नी का धर्म (१७) (भाइयों का) विभाग (१८) जुआ और प्राणधारियों

* ऋणा दानम्=ऋण+आदानम्=ऋण का लेना भी अर्थ होसका है

का जुआ । यह अठारह इस (जगत्) में व्यवहार २ की स्थिति में * स्थान है ॥७॥ बहुधा † इन्हीं अठारह स्थानों में विवाद करते हुए मनुष्यों के कार्यों का निर्णय सनातन मर्यादा के आश्रय करे ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥९॥
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थितएव वा ॥१०॥
यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।
राज्ञश्चाधिकृतोविद्वान् ब्रह्मणस्तां सभांविदुः ॥११॥

जब (काम की अधिकता से वा रोगादि से) राजा स्वयं कार्यों का देखना न कर सके, तब विद्वान् ब्राह्मण को कार्यों के देखने में लगाए ‡ ॥ ९ ॥ वह (ब्राह्मण) तीन § दूसरे सभासदों से युक्त हुआ, सभा में ही प्रविष्ट होकर, वहां बैठा हुआ वा खड़ा होकर इसके कार्यों को देखे ॥ १० ॥ जिस सभा में वेदवेत्ता तीन ब्राह्मण और राजा का अधिकारी एक विद्वान् बैठता है, उसको ब्रह्मा की सभा कहते हैं ॥ ११ ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२॥

---

* जिस पर विवाद की स्थिति है, (गोवि०) विवाद की स्थिति=विवाद के निर्णय में (नारा०) † बहुधा कहने से और भी विवाद स्थान हैं, जैसा कि नारद ने कहे हैं (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०, नारा०, राघ०) नन्द० ने यह श्लोक छोड़ दिया है ।

‡ वासि० १६ । २ गौत० १३ । २६ याज्ञ० २ । ३ विष्णु० ३ ।७३.

§ घट से घट तीन (मेधा०) ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्राऽनृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

जहां सभा में धर्म अधर्म से बींधा हुआ आता है, और (सभासद) इसके शल्य (कांटे) को नहीं काटते हैं, वहां सभासद (स्वयं अन्याय से) बींधे हुए हैं ॥१२॥ या तो सभा में प्रवेश नहीं करना चाहिए * या ठीक २ कहना चाहिए, न कहता हुआ वा उलटा कहता हुआ दोनों तरह से मनुष्य पापी होता है ॥ १३ ॥ क्योंकि जहां धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से मारा जाता है और (सभासद) देखते रहते हैं, वहां सभासद मरे हुए

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नोधर्मोहतोऽवधीत्॥१५॥
वृषोहि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥१८॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनोगच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९॥

* व्यवहार निर्णय के लिए (गोवि०, कुल्लू०, राघ०)

धर्म मारा हुआ मार देता है, धर्म रक्षा किया हुआ रक्षा करता है, इसलिए धर्म को नहीं मारना चाहिए, न हो, कि मारा हुआ धर्म हमें मारदे *॥ १५ ॥ भगवान् धर्म वृष [श्रेष्ठ वा बल] है, उसका जो लोप करता है, उसको वृषल (शूद्र) कहते हैं, इसलिए धर्म का लोप न करे ॥ १६ ॥ धर्म ही एक मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है (साथ नहीं त्यागता) और सब कुछ शरीर के साथ नाश को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ (अन्याय करने में फल भागी बतलाते हैं) पाद (चौथाई) अधर्म के करनेवाले को, चौथाई साक्षियों को, चौथाई सब सभासदों को और चौथाई राजा को प्राप्त होता है † ॥१८॥ पर जहां (ठीक न्याय होने से) निन्दा के योग्य (अर्थी वा प्रत्यर्थी) निन्दा जाता है, वहां राजा निष्पाप होता है, सभासद सब छूट जाते हैं, पाप अपने करने वाले को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदाति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥
यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥२२॥

*यह वचन सभ्यों की ओरसे प्राड्विवाकको कहा गया है,यदि वह अन्याय पर चलें (गोवि०, कुल्लू०, राघ०) नन्द० 'नः' के स्थान 'वः'=तुम्हें, पढ़ता है † गौत० ८। २ बौधा० १।१९। ८ इस श्लोक में 'सभासद' से सभासद और प्राड्विवाक' दोनों अभिप्रेत हैं ॥

जातिमात्र से जीनेवाला ब्राह्मणब्रुव* बेशक राजा का धर्म प्रवक्ता (न्यायनिर्णेता) हो, पर शूद्र † कभी नहीं॥२०॥ जिस राजा के शूद्र धर्म निर्णय करता है, उसका वह राष्ट्र उसके देखते हुए कीचड़ में गौ की तरह फंसता है ॥ २१ ॥ वह राष्ट्र जहां शूद्र बहुत हैं ‡ नास्तिकों से दबा हुआ है, द्विजों से शून्य है, वह जल्दी दुर्भिक्ष और रोगों से पीड़ित होकर नष्ट होता है ॥ २२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥
अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२४॥

न्यायासन पर बैठकर, शरीर को ढांपे हुए एकाग्र हो लोकपालों को नमस्कार करके कार्यों के देखने का आरम्भ करे॥२३॥ दोनों अर्थ और अनर्थ और केवल धर्म और अधर्म को जानकर § वर्ण क्रम से कार्यवालों के सारे कार्य देखे ॥ २४ ॥

---

*जो अपने आपको ब्राह्मण कहता है, पर है जातिमात्र से जीविका वाला, ब्राह्मणके योग्य विद्या और कर्म नहीं रखता (मेधा०, गोवि०) जाति मात्रो पजीवी=जातिमात्र से जीनेवाला=विद्यादि से हीन, और ब्राह्मणब्रुव=जिस का ब्राह्मण होना ही संदिग्ध है। हां वह आप अपनेको ब्राह्मण कहता है। (कुल्लू०,राघ०)जातिमात्र से जीनेवाला=संस्कारों से हीन,और ब्राह्मणब्रुव=संस्कार होकर विद्या न पढ़ा हुआ(नारा०)
† केवल शूद्र के निषेध से यह अभिप्राय है, कि ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और वैश्य न्यायदेखसक्ते हैं,‡शूद्र संख्यामें अधिक हैं,(गोवि०, कुल्लू०, राघ०) न्याय निर्णय करनेवाले अधिक शूद्र हैं (मेधा) शूद्रों को ही अधिक ऊंचे अधिकार हैं, (नन्द०) § अर्थ=कैसा निर्णय लोगों को प्रसन्न करेगा, अनर्थ=कैसा अप्रसन्न करेगा, पर

बाह्यैर्विभावयेल्लिंगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥
बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्सस्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥२७॥
वशाऽपुत्रासु चैव स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥
जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चोरदण्डेन धार्मिकःपृथिवीपतिः ॥२९॥
प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥
ममेदमिति योब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्‌द्रव्यमर्हति ॥३१॥
अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

जहां धर्म से विरोध आता हो वहां केवल धर्म अधर्म का ही विचार करे, (गोवि०) अर्थ अनर्थ=प्रजा की रक्षा और उच्छेद (कुल्लू०) मेधा०, राघ० इसप्रकार अन्वय करते हैं, केवल धर्म अधर्म को ही अर्थ अनर्थ जानकर=अर्थात् धर्म ही अर्थ और अधर्म ही अनर्थ है ऐसा जानकर ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ।
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्म मनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

बाहर के चिन्हों अर्थात्—स्वर, रंग, इशारा, आकृति, नेत्र, और चेष्टा से * लोगों के अन्तरीय अभिप्राय को लखे ॥२५॥ क्योंकि आकृति, इशारे, गति (पाओं आदि का फिसलना आदि) चेष्टा, भाषण, और नेत्र तथा मुख के विकारों से अन्तर्गत मन जाना जाता है ॥ २६ ॥ बालक जिसका स्वामी है, उस धन की राजा तब तक रक्षा करे जबतक वह (गुरुकुल से) वापिस आए अथवा जब बचपन से निकल जाए†॥२७॥बन्ध्या, वा जिसका कोई पुत्र न हो, वा जिसके वंश में कोई पुरुष नहीं रहा, तथा पतिव्रता, विधवा, और स्थिर रोगवाली स्त्रियों के विषयमें भी इसीतरह रक्षा का प्रबन्ध करे ॥ २८ ॥ जब तक वह जीती हैं, यदि उनके धन को बान्धव छीनें, तो धार्मिक राजा उनको चोर के तुल्य दण्ड देवे ॥ २९ ॥ (जिसका स्वामी मालूम नहीं) उस धन को राजा तीन वर्ष रखे रक्खे, तीन वर्ष से पहिले स्वामी लेसक्ता है पीछे राजा लेलेवे ‡ ॥३०॥ यह मेरा है, जो यह कहे उसको यथाविधि

---

* २५—२६ याज्ञ० २। १५ स्वर गद्गद आदि, गोवि० ने स्वर के स्थान मुख लिखा है=चेहरे का रंग । वर्ण=रंग असली रंग से और तरह का होजाना, इशारे=नीचे देखना आदि, आकृति=पसीना आना, रोंगटे खड़े होना, देह कांपना आदि, नेत्र—दीन दृष्टि वा उद्धत दृष्टि आदि। चेष्टा=हाथ को मलना आदि† द्विज जब गुरुकुल से वापिस आए, तब और शूद्र जो गुरुकुल में नहीं गये, वा द्विज जो बचपन में ही वापिस आगए हैं, वह जब बचपन से निकल जाएं, तब । बचपन १६ वर्ष तक होता है । देखो नारद ३। ३७ ।‡३०—३४ वासि० १६।२०- गौत०१०। ३६—३८ आप० ८। २८। ७—९ याज्ञ० २। ३३ अर्थात् जो राजपुरुषों ने कहीं गिरी पड़ीवस्तु पाई है । उसका ढिंढोरा पिटवाकर तीन वर्ष तक उसके स्वामी की प्रतीक्षा में रहे

पूछे, यदि वह इसका रूप संख्या आदि ठीक बतलाता है, तो वह स्वामी होने से इस धन को पाने योग्य है॥३१॥यदि नष्ट हुए द्रव्य का वह देश, काल, रंग, आकृति, और परिमाण, ठीक नहीं बतलाता है तो उस (धन) के बराबर दण्ड के योग्य होता है ॥३२॥ खोया हुआ जो पाया धन है उस से राजा सब पुरुषों के धर्म को स्मरण करता हुआ छटा दसवां वा बारहवां हिस्सा लेवे * ॥३३॥

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत॥३४॥
ममायमितियोब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत षड्भागं राजाद्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

खोया हुआ धन जो (राजपुरुषों ने) पाया है, वह (विशेष) अधिकारियों की रक्षा में रहे, उसको जो चोर चुरावें, उनको राजा हाथी से मरवा डाले॥३४॥जो मनुष्य स्वयं पाई वा दूसरों से पाई दबी हुई निधि (खज़ाने) को सचाई से कहे कि यह मेरा है, तो राजा उससे छटवां वा बारहवां हिस्सा लेलेवे † ॥३५॥

अनृतं तु वदन्दण्डयः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥३६॥

---

* छठा, दसवां, बारहवां यह व्यवस्था—रक्षा के समय के अनुसार है (मेधा०, राघ०) उसको पाने के परिश्रम के अनुसार है (गोवि०) धन के स्वामी के गुणी वा निर्गुणताके अनुसार है (कुल्लू० नारा०) मेधा० ने ३३ श्लोक को ३४ के पीछे लिखा है॥

† ३५—३९वासि०३।१३-१४ गौत०१०।४३—४५याज्ञ०२।३४।३५ विष्णु० ३ । ५६-६४ यहां भी छटे बारहवें की व्यवस्था गुण आदि की अपेक्षा से है ।

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् ।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥
यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्माद् द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥
निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥
दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

झूठ बोले तो उसके अपने* धनका आठवां हिस्सा वा उसी निधि को गिनकर कोई थोड़ा सा हिस्सा दण्ड देवे ॥ ३६ ॥ विद्वान् ब्राह्मण बड़ों से दबी निधि को देखकर सारी ही लेलेवे, क्योंकि वह सब का अधिपति है ॥ ३७ ॥ राजा पृथिवी में जो पुराना गड़ा हुआ धन देखे, उसमें से आधा ब्राह्मणों को देकर आधा अपने खज़ाने में डाले ॥ ३८ ॥ पृथिवी में जो पुरानी निधियें और धातु हैं राजा उनके आधे का भागी है। क्योंकि वह भूमि का अधिपति है † ॥ ३९ ॥ चोरों से चुराए धन को पाकर राजा उसके स्वामी को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, देदेवे, राजा स्वयं उसको बर्ते, तो चोर के पाप को प्राप्त होता है ‡ ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

---

* जो उसका अपना निज का धन है † क्योंकि वह धन राजा की भूमि में सुरक्षित रहा है, इसलिए वह आधे का भागी है ‡ गौत १०।४६-४७ आप० २।२६।८ याज्ञ० २।३६ विष्णु०३।६६—६७

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वेस्वे कर्मण्यवस्थिताः॥ ४२॥
नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथञ्चन ॥ ४३ ॥
यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥
सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥
सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

धर्म्म का जाननेवाला राजा जाति के धर्म, देश के धर्म, श्रेणियों * के धर्म और कुल के धर्म्मों को देखकर अपना धर्म्म (कानून नियत करे) † ॥ ४१ ॥ अपने (जाति, देश, कुल) के कर्म्मों को करते हुए मनुष्य चाहे दूर (देशान्तर में) भी हों, तौ भी (अपने देश जाति, और कुल के) लोगों को प्यारे होते हैं, जो अपने २ कर्मों में स्थिर हैं॥४२॥ राजा वा इसका कोई अधिकारी स्वयं कार्य को उत्पन्न न करे, और न ही दूसरेसे सामने लाए गए व्यवहार की उपेक्षा‡ करे §॥४३॥ जैसे शिकारी लहू के गिरते जाने से (वींधेहुए) मृग की खोज लगाता है, इसी तरह राजा

* सौदागरों और खेलों की कम्पनियों † वासि० १९ । ७ गौत० ११।२० आप०२। १५।१ बौधा० १।२।१-८ याज्ञ० १। ३६० विष्णु० ३।३
‡ किसी लिहाज़ से बेपरवाही या उलट पलट न करे § गौत० १३।२७

अनुमान से धर्म की खोज लगाए॥४४॥व्यवहार के काम देखने में प्रवृत्त हुआ (राजा वा राजपुरुष) सत्य, अर्थ, अपना आप साक्षी देश, काल और रूप को ठीक २ देखे * ॥ ४५ ॥ विद्वान् और धार्मिक द्विजों ने जो आचरण किया हुआ हो, उसको धर्म (कानून के तौर पर) निश्चय करे, यदि वह देश जाति और कुल के विरुद्ध न हो ॥ ४६ ॥

संगति—व्यवहार के सामान्य नियम कहकर अब ऋण के न देने के विषय में कहते हैं :—

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थ मुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥
यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

ऋणी से धन के साधन के लिए जब धनी (राजा को) प्रेरे, तो (राजा प्रमाणों से) सिद्ध हुए धनी के धन को ऋणी से दिलावे ॥ ४७ ॥ जिन २ उपायों से धनी अपने धन को पाए, उन २ उपायों से वश करके ऋणी से दिलावे ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

---

* सत्य=बनावट को दूर करके जितना अंश सचाई है उसको देखे । अर्थ=सिद्धि, इससे क्या सिद्धि है । आत्मा =मेरा किसी ओर झुकाव किसी सम्बन्ध से तो नहीं, साक्षी-किस हैसीयत के हैं । देश-इस देश में रिवाज कैसा है, काल=इस समय क्या योग्य है, वा कैसे समय पर इसने लेना देना आदि किया है, रूप=व्यवहार का गौरव वा लाघव ॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥५०॥
अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

धर्म से, व्यवहार से, छल से, आचरित से, और पांचवें बल से * अपने लगाए धन को साधे ॥ ४९ ॥ जो धनी ऋणी से स्वयं अपना धन साधे, राजा उसे अपराधी न ठहराए, जब कि वह उस धन को साधता है, जो उसका अपना है † ॥ ५० ॥ (लिये) धन के विषय में इनकार करनेवाले से प्रमाण से सिद्ध हुआ धन धनी को दिलावे, और उसकी शक्तिके अनुसार कुछ दण्ड ‡ देवे॥

अपन्हवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥
अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापन्हुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥५४॥

---

* धर्म से=ऋणी के हृदय में धर्म-भाव के उभारने से, व्यवहार से=व्यवहार का बल दिखलाने से (निर्धन हो, तो उसी को कोई व्यवहार कराकर लाभ लेने से-मेधा०) छल से=विवाह पर जाना है, इत्यादि बहाने से उससे भूषण आदि लेकर बन्धक कर लेने से। आचरित से=धरना मार बैठने से, बल से, उसको रोके रखने आदि से। यह पांच उपाय अपने आप धन साधन के हैं † याज्ञ० २। ४० विष्णु० ६। १९ ‡ दण्ड के लिए देखो आगे १३९ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥५५॥

(इसका धन) दो, ऐसा कहने पर जब सभा में (मैंने कोई नहीं देना है, इसप्रकार कोई) ऋणी इनकार कर देवे, तो अभियोक्ता (नालिश करनेवाला) उस स्थान के साक्षी * बतलाए, वा और भी साधन (पत्र आदि) बतलाए ॥ ५२ ॥ जो (ऋण देने के) देश में अनुपस्थित को (साक्षी) † बतलाता है, और बयान देकर उससे इनकारी होजाता है, और जो अगली पिछली परस्पर विरुद्ध बातों को नहीं समझता है ‡ ॥ ५३ ॥ वा जो कुछ कहना है, कहकर फिर उस से फिर जाता है, वा जो यथार्थ कही बात को (क्यों तूने रात को बिना साक्षी के दिया इत्यादि) पूछने पर समाधान नहीं कर सक्ता ॥ ५४॥ वा भाषण के अयोग्य (निर्जन आदि) स्थान में साक्षियों के साथ अलग बात चीत करे (वा दावे के स्थिर करने के लिए वा जिरह के तौर पर) चुन २ कर पूछे प्रश्न को न चाहे, वा जो सभा से निकल जाए ॥ ५५ ॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥५७॥

---

* देश्यं = साक्षी जो उस स्थान में उपस्थित हो, (कुल्लू० राघ०) 'देश्यं' के स्थान मेधा०, गोविन्द, नारा०, नन्द के अनुसार 'देशं' पाठ है । अर्थ जहां दिया है, वह स्थान † मेधा०, गोवि०, नारा०, नन्द के अनुसार 'अदेश्यं' के स्थान 'अदेशं' पाठ है । न ठीक स्थान-अर्थात् जहां ऋणी गया ही न हो, वा एकान्त आदि ‡ ५३-५६ याज्ञ० २।१६

वा कहो ऐसा कहने पर जो कुछ न कहे, वा जो कहे हुए को सिद्ध न करे, वा जो पहले पिछले * को न जाने, वह उस अर्थ से हीन होजाता है(हरजाता है)॥५६॥मेरे साक्षी हैं, ऐसा कहने पर'बतला' कहा हुआ जो न बतलाए,धर्म में स्थित प्राड्विवाक इन कारणों से उस (धनी) को भी हीन बतलाए ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता नचेद् ब्रूयाद्वध्योदण्ड्यश्च धर्मतः ।
नचेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥
योयावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥५९॥

अर्थी यदि (प्रत्यर्थी से उत्तर पाकर फिर) कुछ भी न कहे, तो वह धर्म से ताड़ना वा दण्ड के योग्य † होता है, और (प्रत्यर्थी) यदि तीन पक्ष के अन्दर न कहे, तो वह धर्मानुसार (मुकद्दमा) हार देता है ॥ ५८ ॥ (प्रत्यर्थी) जो जितने धन से इनकार करता है, और (अर्थी) जो जितने (धन) के विषय में झूठ कहता है, उन दोनों अधर्मज्ञों को उससे दुगुना दण्ड देना चाहिए ‡ ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।
त्र्यवरः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥
यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥६१॥

---

* पहले पिछले को=यहां क्या साधन है । और क्या साध्य है इस को (कुल्लू०राघ०) यह पहले कहना चाहिए, यह पीछे (नारा०,नन्द)
† भारी दोष में ताड़ना के योग्य, हलके में दण्डके योग्य ‡ याज्ञ०२।५९

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥६२॥
आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

(सभा में) बुलाकर पूछा हुआ (ऋणी) यदि इन्कारी होता है तो धनी ने राजा के (अधिकारी) ब्राह्मणों के सामने * न्यूनातिन्यून तीन साक्षियों द्वारा सिद्ध करना चाहिए ॥ ६० ॥ धनियों ने व्यवहारों के विषय में जैसे साक्षी बनाने चाहियें, वैसे बतलाऊंगा, और जैसे उन्होंने सत्य कहना चाहिए, (वह भी कहूंगा) † ॥६१ ॥ अर्थी से बतलाए,गृहस्थ, पुत्रोंवाले, उस देश के वासी क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र जाति के साक्षी होने योग्य होते हैं, न कि जो कोई बिना आपात्तिकाल के ॥ ६२ ॥ सब वर्णों में सच्चे पुरुष जो अपने धर्म के जाननेवाले हैं और लालची नहीं, वह कार्यों में साक्षी बनाने चाहिएं, इनसे उलटों को छोड़ दे ॥ ६३ ॥

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्त्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।
न श्रोत्रियो न लिंगस्थो न संगेभ्योविनिर्गतः ॥६५॥

* अथवा राजा और ब्राह्मणों के सामने यह अर्थ भी होसकता है † ६१—७२ वासि०१६।२८-३० गौतम १३।१—४ आप० २।२९-७ बौधा० १। १९-१३ याज्ञ० २। ६८-७२ विष्णु० ८। ७—९ ॥ अर्थात् लड़ाई, झगड़े आदि में सभी साक्षी होसक्ते हैं, देखो आगे ६९ ।

नाध्यधीनो न वक्तव्यो नदस्युर्न विकर्मकृत ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥६६॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो नक्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
नश्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥६७॥
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६८॥
अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्येवा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥
स्त्रिया प्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥७०॥

(साक्षी) न अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले * बनाने चाहियें, न मित्र, न साथी † न वैरी, न वह जिनके दोष (पहली साक्षियों में) देखे गये हैं, न रोग से पीड़ित, न जिन पर दोष लगा हुआ है ‡ ॥ ६४ ॥ साक्षी न राजा को बनाना चाहिए (उसको साक्षी की तरह पूछना अयोग्य है) न कारीगर, न नट (अपने २ काम में व्यग्र रहने से) न वेद पाठी, न ब्रह्मचारी न संगों से अलग हुआ (=संन्यासी) (अपने २ काम में व्यग्र होने से और साक्षी की तरह पूछने के अयोग्य होने से) ॥ ६५ ॥ न अत्यन्त पराधीन (गर्भ दास) न (लोगों में) निन्दित, न घातक, न खोटे कर्म करनेवाला, न बूढ़ा, न बच्चा, न अकेला, न अन्त्यज (धर्म के न जानने से) न हीन इन्द्रियों वाला (अन्धा, बहिरा, आदि-

* मुकद्दमे से जिनका सम्बन्ध है † नौकर आदि ‡ पातकी समझे गये हैं

पूरा प्रत्यक्ष न होने से) ॥ ६६ ॥ न (पुत्र शोकादि से) पीड़ित न (मद-) मत्त, न पागल, न थकावट से पीड़ित, न काम से पीड़ित न क्रुद्ध, न चोर (बुद्धि ठिकाने न होने से) ॥ ६७ ॥ स्त्रियों की साक्षी स्त्रियें हों, द्विजों के अपने जैसे द्विज, शूद्रों के श्रेष्ठ शूद्र हों और अन्त्यजों के श्रेष्ठ अन्त्यज हों * ॥ ६८ ॥ घर के अन्दर वा जंगल में (उपद्रव हुआ हो तब), वा प्राण के विनाश में, जो कोई भी देखनेवाला है वह झगड़नेवालों का साक्षी होसकता है ॥ ६९ ॥ और साक्षी के न होने पर स्त्री, बाल, बूढ़ा शिष्य, बन्धु, दास और नौकर को भी साक्षी कर लेना चाहिये ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥
बहुत्वंपरिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥७४॥
साक्षी दृष्ट श्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्य संसदि ।
अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥७५॥

बाल, बूढ़े, रोगी और अस्थिर मनवाले (मत्त और पागल) यह साक्ष्य में यदि झूठ बोलें, तो इनकी वाणी स्थिर नहीं होती है,

* वासि०१६ । ३०॥

उसको समझे ॥७१॥ सब प्रकार के साहसों (किसी का घर जला देने आदि) में चोरी और (स्त्री के साथ) धक्का, करने में बाणी और दण्ड की कठोरता में साक्षियों को (गृहस्थ हों, पुत्रों वाले हों इत्यादि रूप से) न परखे ॥७२॥साक्षियों के विरोध में (राजा) बहुत्व (जिधर बहुत हों) को स्वीकार करे, जब (दोनों ओर) बराबर हों, तो गुणों में जो ऊंचे हैं उनको, गुणियों के विरोध में द्विजोत्तमों*को †(स्वीकार करे)॥७३॥सामने देखने और सुनने से साक्षीपन सिद्ध होता है, उसमें सत्य कहता हुआ साक्षी धर्म और अर्थ से हीन नहीं होता है ‡॥ ७४॥ देखे, सुने के विरुद्ध आर्य सभा § में कहता हुआ, साक्षी अधोमुख हुआ नरकको जाता है, और परलोक में स्वर्ग से हीन होता है¶ ७५॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन।
पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथा दृष्टं यथाश्रुतम् ॥७६॥
एकोऽलुब्धस्तु साक्षीस्याद्बह्व्यःशुच्योपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः॥७७॥
स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
ततोयदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

---

* द्विजों में उत्तम=ब्राह्मण (गोवि०, नारा०) धार्मिक क्रियाओं के करनेवाले द्विज (कुल्लू० राघ०) † याज्ञ० २। ७८, ८० विष्णु० ८। ३९ ‡ ७४-७५ वासि० १६-३६ गौत० १३-७ आप० २ । २९ । ९-१० बौधा० १।१९।१४-१५ विष्णु० ८। १३—१४। अर्थ से हीन नहीं होता है=उसे दण्ड नहीं मिलता।(नारा० कुल्लू०)§आर्य सभा=न्याय सभा (मेधा०) ब्राह्मणों की सभा (गोवि०)¶ स्वर्ग जो दूसरे पुण्यों से कमाया है उससे भी हीन होजाता है

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थि प्रत्यर्थि सन्निधौ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेनसान्त्वयन्॥७९॥

(पत्र में साक्षी के तौर पर) न लिखा हुआ भी जहां जिसने कुछ देखा वा सुना हो, वह उस विषय में पूछा हुआ उस बात को बतलाए, जैसा उस ने देखा वा सुना है ॥ ७६ ॥ लोभ से रहित पुरुष अकेला भी साक्षी होसकता है, पर स्त्रियें बहुत भी जो पवित्र भी हों नहीं, क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती, तथा और भी, जो दोषों से युक्त पुरुष हैं (वह साक्षी न हों) ॥ ७७ ॥ (साक्षी) निरा स्वभावतः * जो कुछ कहे, वह व्यवहार निर्णय के लिए स्वीकार करने योग्य होता है, इससे भिन्न जो कुछ इधर उधर की बातें कहे, वह धर्म (निर्णय) के लिए निष्प्रयोजन है, इसलिये स्वीकार करने योग्य नहीं है ॥७८॥ सभा के अन्दर आए साक्षियों को प्राड्विवाक अर्थी प्रत्यर्थी के सामने प्रिय बोलता हुआ इस विधि से पूछे † ॥७९॥

यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥८०॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥
साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम्।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥८२॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।

* अर्थात् बिन विचारे झटपट, न कि सोच२ कर, वा घबराकर।
† गीत ८।५

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥८३॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणांसाक्षिणमुत्तमम् ॥८४॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः॥८५॥
द्यौर्भूमिरापोहृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्॥८६॥

जो इस कार्य में इन दोनों (अर्थी प्रत्यर्थी) की आपस की चेष्टा तुम जानते हो, वह सब सचाई से कहो, क्योंकि तुम्हारी इस में साक्षिता है * ॥ ८० ॥ साक्षी अपनी साक्षिता में सत्य बोलता हुआ (मरकर) उत्तम लोकों को,और यहां अत्युत्तम यश को प्राप्त होता है,यह बाणी(सचाई)ब्रह्म(वेद वा ब्रह्म) से पूजित है ॥ ८१ ॥ साक्षिता में झूठ बोलने वाला सौ जन्म तक वरुण के फांसों † से बेबस बांधा जाता है, इसलिये साक्षिता ठीक २ कहे ॥ ८२ ॥ साक्षी सत्य से पवित्र होता है, धर्म सत्य से बढ़ता है, इसलिये हरएक वर्ण के विषय में साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ८३ ॥ आत्मा ही आत्मा का साक्षी है,

---

* ८०-१०१ वासि १६ । ३२—३४ गौत ८ । १४-२२ आप २ । २९ । ९—१० बौधा० १ । १९ । ९—१२ याज्ञ २ । ७३-७१ विष्णु ८ । १९—३७ † झूठों का वरुण की फांसों से बांधा जाना अथर्व ४ । १६ । ६ में कहा है । वरुण की फांसें भयंकर सर्प-रज्जु वा जलचर (मेधा०) सर्प रज्जु वा जलोदर (कुल्लू०) जलोदर रोग का वरुण के विरुद्ध चलने से विशेष सम्बन्ध ऋग्वेद ७ । ८९ । १ और ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १५ शुनःशेप की कथा में आया है

तथा आत्मा ही आत्मा का शरण (रक्षक) है, सो तू मनुष्यों के उत्तम साक्षी अपने आत्मा का (झूठ बोलकर) अपमान न कर ॥ ८४ ॥ पाप करने वाले समझते हैं, कि हमें कोई नहीं देखता, पर उनको देवता देखते हैं, और अपने अन्दर का पुरुष (देखता है) ॥ ८५ ॥ द्यौ, पृथिवी, जल, (अपना) हृदय * चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात, दोनों सन्ध्याएं और धर्म यह सब प्राणियों के (शुभ, अशुभ) वृत्त के जानने वाले हैं ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वापूर्वाह्णेवैशुचिःशुचीन्॥८७॥
ब्रूहीतिब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥
ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहःकृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

(प्राड्विवाक) स्वयं पवित्र हो, पवित्र हुए पूर्व मुख वा उत्तर मुख खड़े द्विजों को प्रातःकाल के समय देवता और ब्राह्मणों के सामने सच्ची साक्षिता पूछे ॥८७॥ 'कहो' ब्राह्मण से इतना ही पूछे 'सत्य कहो' यह क्षत्रिय से, वैश्य को उसके गौ,

---

* हृदय=हृदय में रहने वाला आत्मा (कुल्लू०) यहां द्यौ आदि के देखने से यह अभिप्राय है, कि पाप करने वाला पुरुष इन को जड़ समझ इन से नहीं झिजकता, जैसाकि मनुष्यों से झिजकता है, पर वह नहीं जानता कि वास्तव में यह सब मनुष्यों से बढ़कर देखने वाले हैं, जबकि इनके अन्दर से अन्तर्यामी देख रहा है॥

बीज और सोने* से, और शूद्र को हरएक पातक से (पातक का भय देकर पूछे) ॥ ८८ ॥ (अर्थात्) ब्रह्म हत्या करने वाले के वा स्त्री वा बालक के घाती के, तथा मित्र द्रोही वा कृतघ्न के जो २ लोक कहे हैं, वह २ झूठ बोलने वाले के हों ॥ ८९ ॥

जन्मप्रभृति यत्किंचित् पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥९०॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥

जन्म से लेकर, हे भद्र ! जो २ तूने पुण्य किया है, वह तेरा सारा कुत्तों को प्राप्त हो (व्यर्थ जाए) यदि तू अन्यथा कहे ॥ ९० ॥ 'मैं अकेला हूं' हे भले ! तू जो ऐसा अपने आपको समझता है (ऐसा मत समझ, क्योंकि) पाप पुण्यों का देखने वाला यह मुनि (चुपचाप परमात्मा) सदा तेरे हृदय में स्थित है ॥९१॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ९२॥
नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३॥
अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥९४॥
अन्धोमत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह ।
योभाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥

---

* तुझे गौ आदि के चुराने का पाप लगे (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) तेरे पशु बीज सोना नष्ट होजाएं यदि तू झूठ बोले (नारा०)

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥९६॥

वैवस्वत यम देवता जो यह तेरे हृदय में स्थित है, उसके साथ यदि तेरा(झूठ बोलने से) विवाद नहीं है,तो मत गंगा को जा मत कुरुक्षेत्र को जा * ॥ ९२ ॥ वह (शरीर से) नंगा,सिर से मूंडा हुआ, (आंखों से) अन्धा हुआ, भूख प्यास से पीड़ित हो, (हाथ में) कपाल लिये, भिक्षुक बन, शत्रु के घर जाए, जो झूठी साक्षिता देवे ॥ ९३ ॥ जो धर्म निर्णय के लिये पूछा हुआ झूठ बात बतलाए, वह पापी महा अन्धकार में नीचे सिर किये नरक को जाए ॥ ९४ ॥ जो सभा में गया हुआ सचाई से हीन विन देखी बात कहता है, वह मनुष्य अन्धे की तरह कांटों समेत मछलियें खाता है † ॥ ९५ ॥ जिस के कहते हुए उसका (सच झूठ) जानने वाला आत्मा शंका नहीं करता है, देवता उनसे बढ़कर किसी को श्रेष्ठ नहीं मानते ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् ।
तावतः संख्यया तस्मिन्शृणुसौम्यानुपूर्वशः ॥९७॥
पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥
हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥९९॥

गौ आदि पर हाथ धराकर पूछे (नन्द०) * गंगा और कुरुक्षेत्र में जाना—दण्ड भोगने के लिये,वा प्रायश्चित्त करने के लिये संभावित हो सका है, पर मनु में आगे कहीं कुछ नहीं लिखा † जैसे कांटों समेत मछली खाने से सुख आपाततः है, दुःख ही अधिक होता है, इसी तरह रुपये के लोभ आदि से झूठी गवाही देने वाला दुःख ही अधिक पाता है ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥
एतान्दोषानऽवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥
गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रैष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥१०२॥

जिस साक्षिता में झूठ बोलता हुआ, जितने बान्धवों को मारता है, * हे सौम्य ! उसमें क्रमशः उतनों को गिनती से सुन ॥ ९७ ॥ पशुओं के (विषय में) झूठ (बोलने) में पांच (बान्धवों) को मारता है, गौ के झूठ में दस को मारता है, घोड़े के झूठ में सौ को मारता है, पुरुष † के झूठ में सहस्र को मारता है ॥ ९८॥ सुवर्ण के लिये झूठ बोलता हुआ उत्पन्न हुओं और न त्पन्न हुओं को मारता है, भूमि के लिए झूठ बोलता हुआ सब को ‡ मारता है इसलिये भूमि के विषय में झूठ मत बोल ॥ ९९ ॥ (तालाब, बावड़ी आदि से लेने योग्य) जलों में, स्त्रियों के मैथुन रूपी भोग में, जल से उत्पन्न होने वाले रत्नों (मोती आदि), और पत्थरमय रत्नों (हीरा आदि) में भूमि की तरह (पाप) कहते हैं ॥ १०० ॥ झूठ बोलने में इन सारे दोषों को देखकर तू जैसा सुना जैसा देखा है, वह

* मारता है=नरक में डालता है, (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०, नारा०) अथवा मारने के पाप का भागी होता है (मेधा०, कुल्लू०, ९८—९९ पर) मारता है=स्वर्ग से गिराता है (राघ०)

† पुरुष=दास, यह दास है कि नहीं (नन्द०) ‡ सब को=सब प्राणधारियों को (गोवि०,कुल्लू) सहस्र से अधिक को (नारा०,राघ०)

सब ठीक २ कहो ॥ १०१ ॥ गौओं की रक्षा से, बाणिज से, कारीगरी से, नटपन से, दासपन से, और ब्याज से जीविका करनेवाले ब्राह्मणों को भी शूद्र की नाईं आचरण करे (शूद्रवत् पूछे) * ॥

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥१०३
शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥१०४॥
वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥१०५॥
कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥१०६ ॥

इस (साक्षिता) को धर्म (=दया आदि) हेतु से व्यवहारों में जान बूझकर भी अन्यथा कहता हुआ मनुष्य स्वर्ग लोक से नहीं गिरता है, क्योंकि ऐसी (शुभ संकल्प से बोली गई) वाणी को दैवी कहते हैं † ॥ १०३ ॥ (कहां अन्यथा कहना पाप नहीं, सो दिखलाते हैं) जहां सत्य कहने में शूद्र, वैश्य, क्षत्री, ब्राह्मणों का बध होता है ‡ वहां झूठ बोल देना चाहिए, क्योंकि वह सत्य

---

* वासि० ३ । १ ।

† १०३-१०४ वासि० १६ । ३६ गौत० १३। २४—२५ याज्ञ०२।८ विष्णु० ८ । १५ ‡ किसी धार्मिक से जब भूल से कोई वध होजाए, उसके बचाने में यह नियम है, न कि पापी के बचाने में, जैसा कि गौतम ने कहा है-'नानृतवदने दोषो तज्जीवनं चेत्तदधीनं न तु पापीयसो जीवनम्, =झूठ बोलने में दोष नहीं, यदि उसका जीवन इस के अधीन हो, पर पापी का जीवन नहीं,

से बढ़कर है ॥१०४॥ उस झूठ बोलने के पाप का उत्तम प्रायश्चित्त करते हुए वह (साक्षी) वाग्देवता वाले मन्त्रों से चरु के साथ सरस्वती याग करें * ॥ १०५॥ कूष्माण्ड मन्त्रों से, वा "उद्" इस वारुणी ऋचा से, वा जल देवतवाले तृच [तीन ऋचा के सूक्त] से यथाविधि अग्नि में घृत होमे † ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥
यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥१०८ ॥
असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥१०९॥
महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ११० ॥
न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥
कामिनीषु विवाहेषु गवांभक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥११२ ॥

एक नीरोग पुरुष यादि (सम्मन मिलने से) तीन पक्ष के

---

* १०१-१०६ बौधा० १।१।१९।,१६।याज्ञ० २।८३ विष्णु० ८।१६

† कूष्माण्ड मन्त्र तैत्तिरीय आर० १०। ३-५ "उदु" वारुणी ऋचा "उदुत्तमं वरुण" ऋग्० १।२४।१५, जल देवता वाला तृच 'आपोहिष्ठाः" इत्यादि ऋग्वेद १०।९।१-३ ।

अन्दर साक्षिता न कहे, तो (धनी को) वह सारा धन देवे, और उस सारे का दसवां भाग (राजा को दण्ड देवे) * ॥१०७॥ जिस गवाही दे चुके साक्षी के सात दिन के अन्दर रोग, वा अग्नि (घर का दाह आदि) वा (निकट के) ज्ञाति (पुत्रादि) का मरना देखा जाए, उससे ऋण और दण्ड दिलाना चाहिए † ॥ १०८ ॥ जिनमें साक्षी नहीं है, ऐसे व्यवहारों में परस्पर झगड़ते हुओं की असली सचाई का पता न लगे, तो शपथ ‡ से भी पता लगाए § ॥ १०९ ॥ महर्षि और देवताओं ने (संदिग्ध) कार्य (के निर्णय) के लिए शपथें की है, वसिष्ठ ने भी पैजवन (पिजवन के पुत्र सुदास्) राजा के सामने शपथ की थी ॥ ११० ॥ बुद्धिमान् पुरुष बहुत छोटे भी काम में ¶ झूठी शपथें न करे, क्योंकि झूठी शपथ करनेवाला लोक परलोक में (निन्दा और नरक की प्राप्ति से) नाश को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥ स्त्रियों के विषय में

---

* याज्ञ० २।७६ † याज्ञ० २।११३ अर्थात् घोर रोग, वा घर आदि का दाह वा पुत्रादि का मरण उसकी झूठी गवाही का चिन्ह है, जब एक सच्चे पुरुष के विरुद्ध झूठ बोलकर उसके हृदय को भारी दुःख पहुंचाया है, तो उसकी आह ने उस के किये उपद्रव का फल दिलाया है, यह अभिप्राय है। (यह कहीं २ तो सच भी होता है, पर यह निःसन्देह इसी का फल हुआ है, ऐसा जानना मनुष्य की बुद्धि से परे है, इस लिए यह निर्णायक नहीं होसक्ता-संपादक) ‡ शपथ=सौगन्द तथा और दूसरे दिव्य उपाय जो आगे कहेंगे (मेधा०) § गौत० १३। १२-१३ विष्णु० ९।२-९ ¶ क्योंकि बडे भारी कामों में झूठी शपथका दोष भी भारी होता है। पर यदि 'स्वल्पे ऽप्यर्थे' के स्थान 'स्वल्पे कार्ये' पाठ हो, तो यह अभिप्राय होगा, बहुत छोटी बातों में वृथा शपथ=यूं ही सुगन्ध न खा लिया करे, यह अभिप्राय राघवानन्द

विवाहों में, गौओं के चारे में, इन्धन में, और ब्राह्मण की रक्षा में शपथ में पातक नहीं है * ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥
अग्निं वाऽऽहारये देनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥११४ ॥
यमिद्धो नदहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।
न चार्तिमृच्छाति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥११५॥
वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतःस्पशः ॥११६॥

ब्राह्मण को सचाई की, क्षत्रिय को घोड़े और शस्त्रों की, वैश्य को गौ बीज और सोने की † और शूद्र को सारे पातकों की शपथ देवे ॥ ११३ ॥ वा अग्नि इससे (शूद्र से) उठवाए, जलों में इसे डुबाए, वा अलग २ इसे पुत्र और स्त्री के सिर पर हाथ धराए ॥ ११४ ॥ (ऐसा करने पर) जिसको जलता अग्नि जला नहीं देता, जल डुबा नहीं देते, न जल्दी (पुत्र स्त्री के

ने लिया है *बहुत स्त्रियें हों, तो उनके चित्त को प्रसन्न रखने के लिए तूही मेरी प्यारी है, इत्यादि कहना, विवाह में अर्थात् तेरे सिवाय और नहीं विवाहूंगा, गौओं के लिये घास आदि लेने में और हवन के लिए लकड़ी लेने में, (नारा०) (सच तो यह है, कि झूठ सर्वत्र झूठ ही है-सम्पादक)

† क्षत्रिय और वैश्य को इन वस्तुओं का स्पर्श कराए, और कहलावे कि यह हमारे निष्फलहों, यदि हम झूठ बोलें. (मेधा०,गोवि० कुल्लू)

वियोग की) पीड़ा को प्राप्त होता है, उसे शपथ में शुद्ध समझना चाहिए ॥ ११५ ॥ जैसा कि वत्स (ऋषि) को जब उसके छोटे (वैमात्र) भाई ने दोष लगाया (कि तू ब्राह्मण नहीं, तू शूद्रा का पुत्र है) तो (वह यह कहकर कि यदि मैं सत्य कहता हूं, कि मैं ब्राह्मण हूं, तो अग्नि मुझे नहीं जलाएगा, अग्नि में से निकल गया और) अग्नि ने-जो कि जगत् का गुप्तचर * है उसकी सचाई से उसका रोम भी न जलाया ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत ॥११७॥
लोभान्मोहाद्भयान्मैत्र्यात्कामात् क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते॥११८॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

जिस २ विवाद में (साक्षियों ने) झूठी साक्षिता दी है, यह निश्चय होजाए, तो वह २ कार्य फिर लौटाया जाए, किया हुआ भी न किया हुआ हो† ॥११७॥ लोभ से, घबराहट से, भय से, मित्रता से, काम से, क्रोध और बालकपन से साक्षिता झूठी कही जाती जाती है ॥११८॥ इन (लोभादि) में से किसी एक निमित्त के होने पर जो साक्षिता झूठ कहे, उसके दण्डविशेष क्रमशः कहूंगा ‡ ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

---

* गुप्तचर = लोगों के शुभ अशुभ का जाननेवाला है ॥ † विष्णु० ८ । ४ दण्ड दिया हुआ भी लौटा दिया जाए, (गोवि०कुल्लू०,राघ०)
‡ ११९-१२३ याज्ञ० २ । ८१

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद्‌ द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेवतु॥१२१॥
एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान् मनीषिभिः ।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्म नियमाय च ॥ १२२ ॥

लोभ से हजार पण * मोह से प्रथम साहस (२५० पण) भय से दो मध्यम साहस (हजार पण) मैत्री से चौगुना प्रथम साहस (हजार पण) दण्ड देवे ॥ १२० ॥ काम से प्रथम साहस दस गुना (=२५०×१०=२५०० पण) क्रोध से तिगुना उत्तम साहस (१०००×३ = ३००० पण) अज्ञान से पूरे दो सौ पण और बालकपन से सौ पण दण्ड देवे ॥ १२१ ॥ झूठी साक्षिता में बुद्धिमानों से कहे यह दण्ड बतलाए हैं, ताकि सत्य का लोप न हो, और झूठ रुके ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥
दश स्थानानि दण्डस्य मनुःस्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥१२४॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥१२६॥

* पण उस समय का पैसा था, प्रथम साहस २५० पण, मध्यम साहस ५०० पण, उत्तम साहस १००० पण देखो आगे १३८ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्त्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥१२८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥
वधेनापि यदात्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

धार्मिक राजा झूठी गवाही देनेवाले तीन वर्णों को दण्ड देकर निकालदे, पर ब्राह्मण को निरा निकालही दे * ॥१२३॥ स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के दस स्थान बतलाए हैं, जो तीनों वर्णों के विषय में हैं, पर ब्राह्मण विना किसी क्षति के (देश से) निकलजाए † ॥ १२४ ॥ (वह दस यह हैं) उपस्थ, पेट, जीभ, दोनों हाथ, पांचवें दोनों पाओं, नेत्र, नासा, दोनों कान, धन और सारा देह (छोटे अपराधों में धन दण्ड, और बड़े अपराधोंमें इन २ अंगों का काटना वा फांसी) ॥ १२५ ॥ अभिप्राय (निश्चयतं) ‡ (अपराध का) स्थान (ग्राम जंगल आदि), अपराध

---

* 'विवासयेत्' निरा निकालही दे, (कुल्लू०, नारा०, राघ०, नन्द) वस्त्र उतरवा कर नगा करदे (गोवि०) नंगा करदे, और घर से निकालदे (मेधा०) † गौतम १२ । ४६-४७ आप० २ । २७ ; ८ । १७—१९ विष्णु० ५ । २-८ ‡ अनुबन्ध=अभिप्राय (गोवि०) किसी अपराध को बार २ करना (कुल्लू०, नारा०) नन्द 'अनुबन्ध के स्थान 'अपराध' और 'सारापराधौ' के स्थान 'सारा सारां =बल बर्बलता' पढता है,

का काल (रात्रि आदि) (अपराधी के धन और देह का) सामर्थ्य और अपराध (के गौरवलाघव) को देखकर दण्डनीयों को दण्ड देवे *॥१२६॥(सारी बातों को देखे बिना) अधर्म से दण्ड देना लोक में (जीते जी)यश का नाशक है और (मरे पीछे) कीर्त्ति का नाशक है, और परलोक में स्वर्ग का विरोधी है, इसलिये उसे त्यागे †॥ १२७॥ अदण्डनीयों को दण्ड देता हुआ और दण्डनीयों को दण्ड न देता हुआ राजा बड़े अपयश को प्राप्त होता है, और नरक को जाता है ॥ १२८ ॥ पहले पहल वाणी का दण्ड (झिड़क) देवे, इसके पीछे (फिर अपराध करे तो) धिक्-दण्ड (लानत, फिटकार) देवे, (फिर करे तो) तीसरा धन दण्ड देवे, इसके पीछे (फिर करे तो) बध दण्ड देवे (बैत लगावे वा अंग काट दे) ॥ १२९ ॥ जब बध से भी इनको रोक न सके, तो इन पर सारे दण्ड लगावे‡॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥
जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥
त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपास्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३॥
सर्षपाः षड्यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

---

* गौत० १२ । ५१ याज्ञ० १ । ३६७ † १२७—१२८ याज्ञ० १।३५६ ‡ विष्णु० १९ । ४३ ‡ १२९-१३० याज्ञ० १ । ३६६ ॥

(क्रय विक्रयादि-) लोक व्यवहार के लिए तांबे, चान्दी, सोने की जो२ संज्ञा लोक में प्रसिद्ध हैं, वह (दण्डादि के उपयोग के लिए) पूर्णतया कहूंगा *॥ १३१ ॥ रोशनदान के अन्दर से आती सूर्य की रश्मियों में जो सूक्ष्म रज (बारीक ज़र्रे) दीखते हैं, प्रमाणों में से उस सब से पहले प्रमाण (माप) को त्रसरेणु कहते हैं ॥ १३२ ॥ आठ त्रसरेणुओं की परिमाण में एक लिक्षा जाननी चाहिए, तीन लिक्षा एक राई, तीन राई, एक श्वेत सरसों ॥ १३३ ॥ छः सरसों का एक मध्य (न बहुत मोटा, न बहुत छोटा) यव, तीन जौ की एक रत्ती, पांच रत्ती का एक मासा, सोलह मासे का एक सुवर्ण (तोला)

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥१३५॥
ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥१३६॥
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१३७॥
पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥

चार सुवर्ण का पल (छटांक), दस पल का धरण, बराबर की दो रत्तियें इकट्ठी तोली हुई एक चान्दी का मासा होता है ॥ १३५ ॥ सोलह मासे का चान्दी का धरण और पुराण

* १३१—१३८ याज्ञ० १ । ३६१-३६५ विष्णु० ४ । १-१४

होता है, तांबे का कर्ष * कार्षापण वा पण जानो ॥ १३६ ॥ दस धरण का चांदी का एक शतमान होता है, प्रमाण से चार सुवर्ण एक निष्क (मोहर) होता है ॥ १३७ ॥ दो सौ पचास पणों का प्रथम साहस, पांच सौ का मध्यम साहस और हजार का उत्तम साहस कहा है ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पंचकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

वासिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वित्तविवर्धनीम्
अशीतभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

देने योग्य ऋण को (ऋणी) स्वीकार करले, तो पांच (पण) सैकड़ा दण्ड देने योग्य है, इन्कार करे, (और प्रमाणित हो जाए) तो इससे दुगुना (दण्ड) यह मनु की आज्ञा है † ॥ १३९ ॥ धन के बढ़ाने वाली ब्याज, जो वासिष्ठ ‡ ने बतलाई है, वह लगाए, अर्थात् ब्याजी सौ पर अस्सीवां भाग १।) सैकड़ा लेवे § ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥१४२॥

नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
नचाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्तिनविक्रयः ॥१४३॥

---

* कर्ष = १६ मासे = ८० रत्तियें । † याज्ञ० २ । ४२ विष्णु० ६। २०-२१ ‡ देखो वसिष्ठ धर्म शास्त्र २।५१ § याज्ञ०२।३७ गौत० १२। २९ यह नियम बन्धक वाले ऋण के विषय में है, यह १४१ पर नारा० राघ० और नन्द० ने लिखा है

नभोक्तव्योबलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथाभवेत् ॥ १४४ ॥
आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

अथवा भलों की मर्यादा जान दो (पण) सैंकड़ा लेवे, क्योंकि दो (पण) सैंकड़ा लेता हुआ धनी (ब्याज लेने में) पापी नहीं होता है * ॥ १४१ ॥ (ब्राह्मण आदि) वर्णों से क्रमशः बराबर दो, तीन, चार, पांच मासिक वृद्धि लेवे† ॥ १४२ ॥ फल देने वाले बन्धक (गौ, भूमि, दास, आदि) में ब्याज की वृद्धि (धनीको) नहीं मिलती, और लम्बी देर के पीछे भी बन्धक का न दान न विक्रय होता है ‡॥ १४३॥ बन्धक धक्के से नहीं भोगना चाहिए, § यदि भोगे तो ब्याज छोड़ देवे, (अथवा बन्धक रक्खे जाने के समय जो उसका मूल्य था उस) मूल्य से उस को सन्तुष्ट करे, अन्यथा बन्धक का चोर होगा ¶ ॥ १४४ ॥ बन्धक और अमानत दोनों दीर्घकाल तक पड़े हुए भी समय को नहीं लंघ जाते, (जब स्वामी चाहे तभी) देने होते हैं ‖ ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रोवहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

---

*१४१-१४२वासि०२।४८ याज्ञ०२।३७ विष्णु०६।२ † यह नियम नारा०, राघ० नन्द०के अनुसार बन्धक रहित ऋणके विषय में है । मेधा०, गोवि० के अनुसार धनी का निर्वाह थोड़ी ब्याज पर न चले, तो इतनी ले सक्ता है, ‡ गौत० १२।३२ विष्णु० ६।५ § यह कपड़े आदि जिनका भोगने से मूल्य घट जाता है । बनके विपय में है, ¶ याज्ञ० २।५९ विष्णु० ६।५ ‖ याज्ञ० २ ५८ विष्णु० ६।७-८ ।

यत्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥
अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते ।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

धेनु, ऊंट, सवारी का घोड़ा, और जो सिधाने योग्य (बैल,आदि सिधाकर) काम में लगाया गया है, इन [वस्तुओं] को जब कोई मित्रता से भोग रहा हो, तो यह कभी खोई नहीं जातीं*॥१४६॥ ✝ (स्वामी के) सामने दूसरों से भोगी जाती हुई जिस किसी वस्तु को स्वामी बराबर दस वर्ष चुपचाप देखता रहता है (भोगने वाले को रोकता नहीं) तो वह उस वस्तु को (दस वर्ष के पीछे) नहीं पा सकता है ✝ ॥१४७॥ (स्वामी) यदि न पागल है, न बालक है और उसकी आंखों के सामने वस्तु भोगी जारही है, तो व्यवहार से वह वस्तु उसकी नहीं रही, भोगनेवाला उस वस्तुको पाने योग्य है

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः ।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥
यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

बन्धक, (ग्राम आदि की) सीमा, बालक का धन, खुली अमानत, और बन्द अमानत, स्त्रियें (दासी आदि), राजा का धन और श्रोत्रिय का धन यह भोग से खोए नहीं जाते (दस वर्ष पीछे भी

---

* अगले श्लोक में दस वर्ष पीछे भोग से स्वत्व का नाश कहेंगे वह नियम मित्रता से भोगी जाती वस्तुओंमें नहीं लगे, यह अभिप्रेत है। ✝ १४७-१४८ वासि० १६।१६-१७ गौत० १२।३७ याज्ञ० २ । २४

स्वामी ले सकता है * ॥ १४९ ॥ जो मूर्ख (स्वामी की) अनुज्ञा बिना (चोरी २) बन्धक को भोगता है, उसे उस भोग के बदले में आधी ब्याज छोड़नी चाहिये † ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता ।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्॥१५१॥

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ।
कुसीदपथमाहुस्तं पंचकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् ।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥१५३॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत् पुनःक्रियाम् ।
स दत्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥१५४॥

एकबारगी ली ब्याज (मूल से) दुगुने से बढ़ नहीं जाती, अनाज, फल, बोझ ढोनेवाले पशुओं के विषय में पांच गुने से बढ़ नहीं जाती ॥ १५१ ॥ अधिक (ब्याज) जो ठहराई मर्यादा से बढ़कर है, वह (व्यवहार से) सिद्ध नहीं होती, इसे बहुत ब्याज खानेवालों का मार्ग कहते हैं, (अधिक से अधिक) पांच सैकड़े पीछे योग्य है ॥ १५२ ॥ वर्ष उलांघकर ब्याज न ले, न (शास्त्र में) न बतलाई (पांच से अधिक) ले, तथा चक्र की ब्याज, काल की ब्याज, कारित (ब्याज) और कायिक (ब्याज) न लेवे ‡ ॥१५३॥ जो (ऋणी) ऋण देने के असमर्थ हुआ फिर लेख (तमस्सुक) कर देना चाहे, वह पिछली ब्याज धनी को देकर लेख को बदल ले (नया कर दे) ॥ १५४ ॥

---

* वासि० १६ । १८ गौत० १२ । ३८—३९ याज्ञ० २ । २१ † जो धक्के से भोगता है, उसे सारी ब्याज छोड़ देनी चाहिए, यह पूर्व कह आए हैं ‡ चक्रवृद्धि=ब्याज की ब्याज । काल वृद्धि=दुगुना आजाने के पीछे की ब्याज, कारित=इतना समय पीछे दुगुनी ब्याज होगी, ऐसा ऋणी ने कर दिया । कायिक=ब्याज में शरीर से कर्म कराते रहना ।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती सम्भवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति॥१५५॥
चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात॥१५६॥
समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥१५७॥

यदि (ब्याज का) धन भी न दे सके, तो बिना दिए उसी (नए लेख) में सारे धनको चढ़ादे,[तब उस पर]जितनी वृद्धि हो,उतनी देने योग्य है ॥१५५॥ चक्र वृद्धि*में देश काल का नियम करके † देश काल को उलांघने वाला उसके (पूरे) फल को नहीं पाता है ॥ १५६ ॥ किन्तु जल थल से जाने में चतुर, देश, काल और वस्तु ‡ के जाननेवाले जो वृद्धि स्थापन करदें, वही वहां मिले ॥

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ।
अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत् स्वधनादृणम् ॥१५८॥
प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।
दण्ड शुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

---

* चक्र वृद्धि=पहिये से लाभ अर्थात् छकड़े आदि द्वारा बोझ ढोने में जो लाभ नियत किया हो, † इतनी दूर ले जाने में, वा इतने समय में यह लूंगा ‡ जितनी दूरतक लेगया है, जितना समय साथ रहा है, जैसी वस्तु लेजानेवाली है, अर्थात् सम्भाल करके वा बिना सम्भाले इत्यादि समझने वाले ।

अदातरि पुनर्दाता विज्ञात प्रकृतावृणम्।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥
निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः ।
स्वधनादेव तद्द्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६० ॥

जो मनुष्य जिसके दिखलाने के लिए ज़ामिन हो वह यदि (धन देने के समय) उसे न दिखलाए तो वह अपने धन से धनी का ऋण देवे* ॥ १५८ ॥ ज़मानत का धन, वृथा दान (मीरासी आदि को देना कहा हुआ) जुए का रुपया, शराब का रुपया दण्ड और कर की बाकी (पिता के मरने पर) पुत्र देने योग्य नहीं है ॥ १५९ ॥ पर दिखलाने की ज़मानत में पूर्व कही विधि लगती है देने का ज़ामिन मरजाए तो उसके वारिसों से भी दिलाए ॥ १६० ॥ जो देने का ज़ामिन नहीं हुआ (किन्तु दिखलाने का, वा विश्वास का ज़ामिन है) ऐसा जिसके विषय में ज्ञात है, उस ज़ामिन के मरने पर पीछें धनी किस हेतु से धन पाए (अर्थात् नहीं पासक्ता) ॥ १६१ ॥ पर यदि ज़ामिन को (ऋणी से) धन मिल चुका हुआ है, और पूरा मिल चुका हुआ है, तब वह लिए धन वाला ज़ामिन अपने धन से ही देवे (अथवा जितना लिया हो, उतना देवे) यह मर्यादा है ॥१६२॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ १६३ ॥
सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यतेधर्मान्नियताद्व्यावहारिकात ॥ १६४ ॥

---

* १५८-१६० गौत० १०।४२ याज्ञ० २।४७, ५३-५४ विष्णु०६।४१

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ।
यत्र वा प्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

(मद्य आदि से) मत्त, पागल, (शोकादि से) पीड़ित, अ-स्वतन्त्र, बाल, और बूढ़े से किया, तथा असम्बद्ध (पुरुष) से किया (ऋण आदि का) व्यवहार नहीं सिद्ध होता है । (ऐसा ऋण आदि धनी को नहीं मिल सक्ता) * ॥ १६३ ॥ वह भाषा (इकरार) जो (शास्त्रीय-) धर्म से वा नियत व्यवहार (रिवाज) से विरुद्ध कीगई है, † वह चाहे (लेख आदि से) पक्की भी कर लीगई हो, तथापि वह सच्ची नहीं होती (उसका विषय अनुष्ठेय नहीं होता) ॥ १६४ ॥ छल से किए बन्धक (गिरवी), विक्रय, दान और प्रतिग्रह, अथवा (इनके अन्यत्र भी) जहां कहीं (अमानत आदि में) छल देखे (वास्तव में बन्धक आदि न किये हों) उस सब को उलट देवे [स्वीकार न करे] ॥ १६५ ॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः ।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥
कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्नविचालयेत्॥१६७॥
बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

ऋण लेने वाला यदि नष्ट हो [मर गया हो वा बेपता होगया हो] पर उस ऋण का (व्यय यदि उसने सारे) कुटुम्ब के लिए

* याज्ञ० २। ३२ † स्त्री वा सन्तान का बेचना इत्यादि

किया हो) तो वह (ऋण) [लेने वाले के] बान्धवों को चाहिए, कि अपने२ धन से देवें, चाहे अलग २ भी होगये हों,* ॥ १६६ ॥ (घर के स्वामी के) अपने देश में विद्यमान होते हुए, वा विदेश में होते हुए भी उसके कुटुम्ब के लिये पराधीन (नौकर आदि) भी जो व्यवहार (लेन देन) करे, इसको बुद्धिमान् न हिलाए † ॥१६७॥ बल से दिया, बल से भोगा, बल से लिखवाया बल से किये यह सारे व्यवहार मनु ने न किये कहे हैं ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥१६९॥
अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥१७०॥
अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥१७१॥
स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात ।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

तीन (पुरुष) दूसरे के लिये क्लेश उठाते हैं, साक्षी, ज़ामिन और जज । ‡ और चार पुरुष (दूसरों के द्वारा) बढ़ते हैं, ब्राह्मण, धनी, बानिया और राजा ॥१६९॥ (धन से) क्षीण भी राजा अग्राह्य धन (किसीसे) न लेवे, और (धन से) समृद्ध भी ग्राह्य थोड़े भी

*अर्थात् ऋण लेने के समय इकट्ठे थे पीछे चाहे अलग भी होगये हों । याज्ञ०२।४५ † न हिलाए, मैं नहीं दूंगा न कहे । याज्ञ० २।८९ विष्णु० ७।६ ‡ कुल=जज (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) न अलग हुए भाई बन्द जो किसी मरे हुए का कुछ न लेकर उसका ऋण शोधते हैं, (नारा०)

धन को न छोड़े * ॥ १७० ॥ क्योंकि अग्राह्य के ग्रहण से और ग्राह्य के त्याग से राजा की दुर्बलता पाई जाती है, वह परलोक में और इस लोक में नष्ट होता है ॥ १७१ ॥ अपना हक लेने से, वर्णों की परस्पर प्रीति बढ़ाने से, और दुर्बलों की रक्षा से, राजा का बल बढ़ता है, वह लोक और परलोक में बढ़ता है ॥ १७२ ॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये ।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥
यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥
कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति ।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

इसलिए राजा यम की तरह अपने प्रिय अप्रिय को छोड़कर, क्रोध को जीत, और इन्द्रियों को बस में करके, यम के बर्त्ताव (सब में समता) से बर्ते ॥ १७३ ॥ जो राजा मोहवश अधर्म से कार्य करता है, उस दुरात्मा को जल्दी शत्रु बस में कर लेते हैं ॥१७४॥ और जो काम क्रोध को रोककर धर्म से सारे व्यवहारों को देखता है, प्रजा उसकी ओर झुकती हैं, जैसे समुद्र की ओर नदियें ॥ १७५ ॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥१७६॥
कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।

* वासि० १९। १४—१५ ॥

समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥१७७॥
अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत्॥१७८॥

अपनी स्वतन्त्रता से धन लेने का यत्न करते हुए धनीं पर जो (ऋणी) राजा के पास नालिश करे, उस (ऋणी) को राजा (ऋण का) चौथा हिस्सा दण्ड भी दे, और उसका (धनी का) वह धन भी दिलावे *॥१७६॥ बराबर की जाति वा निचली जाति का ऋणी (ऋण न दे सके, तो) कर्म से भी धनी का ऋण चुकादे, पर जो ऊंची जाति का है, वह धीरे २ दे ही ॥१७७॥ इसप्रकार राजा आपस में झगड़ते हुए मनुष्यों के कार्य साक्षी और कागज़ आदि से सिद्ध करके ठीक करे ॥ १७८ ॥

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥१७९॥
यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥
यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
याच्यः प्राड् विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥

कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुत बान्धवों वाले, धनी आर्य के पास बुद्धिमान् को अमानत रखनी चाहिये ॥ १७९ ॥ जो मनुष्य जिसप्रकार से [=मुहर लगाकर वा बिना मोहर, किसी के सामने वा अकेले] जिसके हाथ में अमानत रक्खे,

* विष्णु० ६।१९ देखो पूर्व ४९—५० ॥

वह वैसे ही लेवे, जैसे देना होता है वैसे लेना होता है* ॥१८०॥
जो मांगने पर अमानत रखनेवाले को अमानत देता नहीं है, उससे जज मांगे, पर रखनेवाले के सामने [न मांगे] ॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥१८२॥
स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथा कृतम् ।
न तत्र विद्यते किञ्चिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥
तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥१८४॥

साक्षी के अभाव में [जज] अवस्था और रूप [से भले प्रतीत होने] वाले अपने गुप्तचरों से बहाने से उसके घर में अपना सोना ठीक रीति से अमानत रखाए ॥ १८२॥ अब [मांगने पर] जैसी रीति से जैसे रूप में अमानत रक्खी थी, उसे स्वीकार करता है, तो [यह जानना चाहिये कि] उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिस की दूसरों ने नालिश की है ॥१८३॥ पर यदि ठीक उसीप्रकार उनका वह [अमानत रक्खा] सोना न देवे, तब उस को पकड़वाकर दोनों [अमानतें=पहली और अब की भी] उससे दिलवानी चाहिये, यह धर्म की मर्यादा है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥
स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥१८६

* याज्ञ० २। ६५ और देखो आगे १९५।

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीति पूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥१८७॥
निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥१८८॥
चौरहृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८९॥

खुली वा मोहरवाली अमानत [अमानत वाले के जीते जी] उसके वारिसों [पुत्र, भाई, स्त्री] को नहीं देनी चाहिये, क्योंकि विघ्न (उस तक न पहुंचने) में खोजाती है, हां कोई विघ्न न हो, तो नहीं खोई जाती ॥१८५॥ जो स्वयमेव मरे हुए के वारिसों को [मरनेवाले की अमानत) देदेवे, उस पर न राजा ने न अमानत रखनेवाले के बन्धुओं ने कोई आक्षेप करना चाहिए, (कि उसने पूरा नहीं दिया इत्यादि] ॥ १८६ ॥ [यदि और होने की सम्भावना हो तो] बिना छल ही उस अर्थ को प्रीति पूर्वक पता लगाना चाहे वा उसके शील को विचारकर सभ्य मार्ग से साधे ॥१८७ ॥ इन सारी अमानतों में अमानत के पाने में यही विधि है मोहर वाले में कोई शंका भी उस पर न हो, यदि (वह अमानत) उस [हरएक मोहर] से बिगड़ी न हो॥१८८॥चोरों से हरी, जल से बहाई गई, वा अग्नि से जलाई गई [अमानत को] वह न देवे, यदि उसमें से कुछ लिया हुआ नहीं [लिया हुआ हो, तो उतना देदेवे] * ॥ १८९ ॥

निक्षेपस्यापहर्त्तारमनिक्षेप्तार मेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

---

* २ । ६६

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥१९१॥
निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम् ।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अमानत के चुरा लेने वाले वा बिना रक्खे मांगने वाले को इन सब उपायों से और वैदिक शपथों से निश्चय करे ॥ १९० ॥ जो अमानत वापिस नहीं देता है, वा बिना अमानत रक्खे मांगता है, उन दोनों को चोर की तरह दण्ड देना चाहिए * वा उस [धन] के बराबर दण्ड देना चाहिए † ॥ १९१ ॥ अमानत के हरनेवाले, तथा मोहर वाली अमानत के हरनेवाले को भी राजा अविशेष से ‡ उस (अमानत) के बराबर दण्ड देवे ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥
निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥
मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथएव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथादायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥
निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१९६॥

जो धोखों से [राजपुरुष बनकर, वा रसायनी आदि बनकर

---

* चोरवत् दण्ड = हाथ काटना आदि । † विष्णु० ५।१६९-१७१
‡ अविशेष से, बिना भेद करने के हरएक वर्ण के पुरुष को ॥

इत्यादि से] दूसरे के धन को हरे, उसे साथियों समेत अनेक प्रकार के बध दण्डों से मारना चाहिये ॥ १९३ ॥ जिसने साक्षियों के सामने जितनी अमानत धरी हो, उतनी ही वह जाननी चाहिए, अन्यथा कहता हुआ † दण्ड के योग्य होता है ॥ १९४ ॥ जिसने [अमानत] एकान्त में दी हो, और एकान्त में ही ली हो, वह एकान्त में ही वापिस देनी चाहिए, जैसे देना होता है, वैसे लेना होता है ॥ १९५ ॥ अमानत रक्खे वा प्रीति से [कुछ काल भोगने के लिये] दिए धन का इसप्रकार अमानतधारी को पीड़ा न देता हुआ राजा निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्॥१९७॥
अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥१९८॥

(अब बिन स्वामी के बेचने का विचार करते हैं) जो स्वामी न होकर स्वामी की संमति विना दूसरे के धन को बेचता है, उस अपने आपको चोर न माननेवाले (वस्तुतः) चोर को साक्षी न बनाए, (अर्थात् कहीं भी प्रमाण न करे) ॥ १९७ ॥ यह (पर धन का वेचनेवाला) यदि स्वामी का सम्बन्धी (भाई पुत्रादि) है, तो उसे छः सौ पण दण्ड देना चाहिए, जो सम्बन्धी नहीं और (असली स्वामी वा उसके पुत्रादि की ओर से) उसके हाथ में नहीं आया, तो वह चोर के पाप को प्राप्त होता है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः ॥१९९॥

---

* हाथ पांओं काटने आदि से, † उससे अधिक कहता हुआ ।

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥
विक्रयाद्यो धनं किंचिद् गृह्णीयात्कुलसन्निधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥२०१॥

अस्वामी ने जो दिया वा बेचा है, वह न किया हुआ जानना चाहिए, यह व्यवहार में मर्यादा है ॥ १९९ ॥ जिस वस्तु के विषय में संभोग देखा जाता है, आगम नहीं, वहां आगम कारण है, न कि संभोग, यह मर्यादा है (एक पुरुष किसी वस्तु को बर्त रहा है, पर उसे किसतरह मिली, यह नहीं बतला सक्ता, वह उसका स्वामी नहीं होसक्ता, किन्तु स्वामी वह है, जिसने उस वस्तु को उचित रीति से पाया है) ॥ २०० ॥ बिक्री से जो कोई वस्तु बहुतों के सामने लेवे, वह खरीद से शुद्ध है, (यदि उसमें गड़बड़ भी निकले, तौ भी बेचने वाले से) वह अपना धन न्यायानुसार पालेता है * ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥२०२
नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

पर यदि मूल पुरुष (=बेचने वाले) को न लासके, और लोगों के सामने खरीद से निर्दोष है, तब वह राजा से अदण्डनीय कहा है, पर धन वह पाता है, जिसका खोया गया है ॥ २०२ ॥ एक वस्तु दूसरे के साथ मिलाकर (जैसे केसर के साथ

* २०१-२०२ याज्ञ० २ । १६८—१७० विष्णु० ५ । १६४—१६६

कुसुम्भा और घी के साथ चर्बी) नहीं बेचनी चाहिए, न (बहुत दूर पड़ी रहने आदि से) असार, न (परिमाण से) घट, न दूर से ढकी हुई (बेचनी चाहियें) * ॥ २०३ ॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वाऽन्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।
उभे ते एक शुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥
नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥

यदि (शुल्क ठहराने के समय) और कन्या दिखलाकर (विवाह के समय) वर को और कन्या दीजाती है, तो वह उन दोनों को उस एक शुल्क से विवाह सकता है,यह मनु ने कहा है † ॥ २०४ ॥ पागल, कोढ़वाली, वा कंवारापन नष्ट कर चुकी कन्या के दोषों को कहकर देनेवाला दण्ड के योग्य नहीं होता है ॥ २०५ ॥

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् ।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥
दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् ।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥
यस्मिन् कर्माणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यंगदक्षिणाः ।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

---

* याज्ञ० २ । २४५ †रुपया लेकर कन्या विवाह देना धर्म शास्त्र से निन्दित है, देखो पूर्व ३ । ५१-५४ पर कुछ छोटी जातियों में रिवाज था, उसके विषय में यह नियम है ।

(अब मिलकर किये कामों के विषय में कहते हैं) यज्ञ में चुना हुआ ऋत्विज् यदि (व्याधि आदि से) बीच में ही अपने कर्म को त्याग दे, तो उसको दूसरे करने वालों के साथ अपने कर्म के (जितना किया है उसके) अनुसार हिस्सा देना चाहिए ॥२०६॥ पर दक्षिणा दीजाने पर यदि अपने कर्म को छोड़े, तो पूरा ही हिस्सा लेवे, (और शेष रहा कर्म) दूसरे से करवा देवे * ॥२०७॥ जिस कर्म में अंग२ के प्रति जो२ दक्षिणा (जिस२ के लिए) कही हैं, वह उनको लेवे, वा सारे ही इकट्ठी करके बांट लेवें † ॥

रथं हरेत वाऽध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ।
होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥२०९॥
सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे ।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥
संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः ।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

अग्न्याधान में अध्वर्यु रथ को लेवे, ब्रह्मा और होता घोड़े को और (सोम के) खरीदने में उद्गाता रथ को लेवे ॥ २०९ ॥ सब (सोलह ऋत्विजों) में जो मुखिया चार ऋत्विज् हैं (होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता) वह आधी होते हैं, दूसरे (चार–मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता) शेष आधे के आधी होते हैं, तीसरे [चार–अच्छावाक, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रतिहर्ता] [पहलों के] तीसरे हिस्से के भागी होते हैं, चौथे

---

* याज्ञ० २।२६५ † देखो आश्व० श्रौत० सूत्र९।३।१४-१५;४।७-२०

[चार–ग्रावस्तुत्, नेता, पोता, सुब्रह्मण्य;] (पहलोंके) चौथे हिस्से के भागी होते हैं, * ॥२१०॥ मिलकर काम करनेवाले मनुष्यों [मिस्तरी राज आदि] को भी यहां इस क्रम योग से (अपने) भागों की कल्पना करनी चाहिये † ॥ २११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्॥२१२॥
यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः॥२१३
दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

[अब दिए को लौटा लेना कहते हैं] जिसने धर्म [यज्ञादि] के लिए याचना करते हुए किसी को कुछ धन दिया हो, पीछे यदि वह धन उस काम पर न लगे, तो वह उसको देने योग्य नहीं होता है, [अर्थात् देना कहा हो, तो न देवे, दे चुका हो, तो वापिस लेसकता है] ॥२१२॥ यदि वह दर्प से, वा लोभ से उस धन को फिर लेवे, [वा लिया न फेरे] तो राजा उसे उस चोरी का बदला एक सुवर्ण दण्ड देवे॥२१३॥ यह दिए हुए का न देना धर्मानुसार ठीक २ कहा है, इसके आगे वेतन का न देना कहूंगा॥

---

* अर्थात् २५ हिस्से पूरे होकर १२ पहलों को ६ दूसरों को, चार तीसरों को, ३ चौथों को। ऊपर का नियम मोटे तौर पर है, २५ का पूरा आधा १२॥ साढ़े बारह है। मोटे तौर पर १२ भी आधा कहा जाता है। मिलाओ आश्व० श्रौ० ९। ४। ३–५ † याज्ञ० २। २५९, २६५।

भृतोऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
सदण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥२१५॥
आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथा भाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥२१६॥
यथोक्तमार्तःसुस्थोवा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥२१७॥
एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादान कर्मणः ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

नौकर जो बिना रोग के अहंकार से कहे हुए कर्म को न करे, उसको आठ रत्ती * दण्ड मिले, और वेतन भी नहीं देना चाहिये † ॥ २१५ ॥ हां यदि रोगी हो तो स्वस्थ होकर कहे अनुसार आदि से [काम को] पूरा करे, वह लम्बे काल के पीछे भी उस वेतन को पावे ॥ २१६ ॥ पर जो रोगी हुआ [दूसरे से] वा चंगा होकर स्वयं उस कर्म को न करवाए, वा न करे, उसको वेतन नहीं देना चाहिए, चाहे कर्म थोड़ा ही ऊन हो ॥२१७॥ यह वेतन के न देने का सारा धर्म कहा, इसके आगे प्रतिज्ञा तोड़नेवालों का धर्म कहूंगा ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरोलोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

---

* अपराध के अनुसार आठ रत्ती सोने चान्दी वा तांबे की (मेधा० गोवि०) † आप० २ । २८ । ६–३ याज्ञ० २ । १९३ विष्णु० ५ । १५३—१५४ ।

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान् षण् निष्कांश्छतमानंच राजतम् ॥२२०॥
एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥
क्रीत्वा विक्रीय वाकिञ्चिद्यस्येहानुशयोभवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥२२२॥
परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्डयः शतानि षट्॥२२२॥

जो मनुष्य ग्राम देश * वा समुदायों [कम्पनियों वा धार्मिक संघों] के साथ सचाई से इकरार करके लोभ से उसे उलांघे, उस को (राजा)देश से निकाल दे † ॥ २१९ ॥ और इस इकरार तोड़ने वाले को पकड़वाकर चार सुवर्ण, वा छः मोहरें, वा चान्दी का शत-मान [अपराध के अनुसार अलग २ वा सारे मिलाकर] दण्ड देवे ॥ २२० ॥ ग्राम और जाति समूहों के विषय में इकरार तोड़ने वाले को भी धार्मिक राजा यही दण्ड विधान करे ॥२२१॥ कोई वस्तु खरीद कर वा बेचकर जिसको पछतावा हो, वह दस दिन के अन्दर उस वस्तु को देदे, वा लेले, ‡ ॥ २२२ ॥ दस दिन के पीछे न दे न दिलाए, लेनेवाले वा देने वाले को राजा छः सौ [पण] दण्ड देवे ॥ २२३ ॥

---

* इस गाओं में, वा इस देश में, यह बात न की जाएगी वा इस तरह पर की जाएगी † याज्ञ० २ । १९२ विष्णु० ५।१६८ ‡ याज्ञ० २ । १७७ यह नियम उन वस्तुओं के विषय में है, जिनका मूल्य ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे भूमि वा धातें आदि ।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥२२४॥
अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः ।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥२२५॥
पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः॥२२६॥
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥
यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

जो [उन्मादादि] दोष वाली कन्या को न बतलाकर [वर को] देता है, उसको राजा स्वयं ९६ पण दण्ड देवे *॥ २२४ ॥ जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या [क्षत योनि है] कहे, वह उसके दोष को न सिद्ध करता हुआ १०० पण दण्ड को प्राप्त हो ॥ २२५ ॥ मनुष्यों के पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र कन्याओं के विषय में ही नियत हैं, अकन्याओं में कहीं नहीं, क्योंकि वह धर्म कार्य को लुप्त कर चुकी हैं ॥ २२६ ॥ पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र निश्चित पत्नी होजाने का निमित्त हैं, उन [मन्त्रों] की समाप्ति [सप्तपदी के] सातवें पद में जाननी चाहिये †॥२२७॥

---

* २२४-२२५ याज्ञ०१।६६ दोष पहले कह कर देने में दण्ड नहीं होता । देखो पूर्व २०५ † सप्तपदी होजाने से पूर्व भार्यात्वकी सिद्धि नहीं होती, अर्थात् सातवें पद से पूर्व पश्चात्ताप हो, तो त्यागी जास-

[इसी प्रकार और भी] जिस २ कार्य के करने पर जिसको यहां पश्चात्ताप हो, उसको इसी विधि से ❋ [राजा] धर्म के मार्ग में स्थित करे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानांच व्यतिक्रमे ।
विवादं सं प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥
दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥२३०॥
गोपः क्षीरभृतो यस्तु सदुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृतेभृतिः ॥२३१॥

[स्वामी और पालक का विवाद कहते हैं] पशुओं के विषय में स्वामी और पालकों के बिगाड़ में जो विवाद होता है, उसको ठीक २ धर्म के तत्त्व से कहूंगा ॥ २२९ ॥ [पशुओं के] योग क्षेम [पालन और रक्षा] में दिन के समय पालक पूछा जाता है, रात्रि को स्वामी यदि [पशु] उसके घर आगए हों, न आए हों, तो रात को भी पाल ही पूछा जाता है ॥ २३० ॥ जो गौओं का रक्षक भृत्य अपना वेतन दूध लेवे, वह गौओं के स्वामी की अनुमति में दस गौओं में से एक चुनकर दोह लेवे, यह कोई और दूसरा वेतन न लेने वाले पाल का वेतन है ॥ २३१॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिःश्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पालएव तु ॥ २३२ ॥
विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥२३३॥

करती है, पीछे नहीं, (कुल्लू०) ❋ अर्थात् दस दिन के अन्दर।

कर्णौ चर्म च बालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानिदर्शयेत् ॥२३४॥
अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृकोहन्यात् पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥२३५
तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्नपालस्तत्रकिल्बिषी ॥२३६॥

खोए गए वा कीड़ों* से मरे वा हिंस्रों से मारे गए,वा गढ़े आदिमें गिरकर मरे को पालका ही देवे,यादि उसने बचानेका पूरा पुरुषार्थ न किया हो ॥२३२॥ पर जो डंके की चोट [जबरदस्ती छीन कर] चोर लेगये हैं, उसको पालक देने योग्य नहीं है, यदि ठीक देश काल में अपने स्वामी को बतला देता है ॥ २३३ ॥ [अपने आप मरे पशुओं के] कान, चमड़ा, (पूंछ के] बाल, मसाना, (मुकना = मूत्राशय) और गोरोचन स्वामी को देवे, और चिन्ह ‡ दिखला देवे ॥२३४ ॥ भेड़ बकरियों को भेडिये घेरलें, और पाल [छुड़ाने को] न आए, तो जिसको भेड़िया धक्के से मार डाले, वह पाल का दोष हो § ॥ २३५ ॥ पर यदि वह (पाल से) रोकी हुई बन में इकठ्ठी चर रही हैं, तो जिसको (बे मालूम कहीं से) कूद कर भेड़िया मार डाले, उसमें पाल दोषी नहीं है ॥ २३६ ॥

* कीड़े=आरोहक नामी कीड़े जो गौओं को उपस्थमार्ग से प्रवेश कर के मार डालते हैं (मेधा०) कीड़े = सर्पादि (राघ०) † याज्ञ १ । १६४-१६५ विष्णु ५ । १३७-१३८ ‡ 'अंगानि' = 'अंग' पाठ भी है § विष्णु ५ । १३७ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥२३७॥
तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥

ग्राम के चारों ओर सौ धनुष वा तीन शम्यापात * भूमि (चरागाह के लिये) ज़खीरा रक्खें, इससे तिगुनी नगर के चारों ओर । २३७ । वहां बाड़ से रहित खेती को यदि पशु नष्ट करें, तो उसमें राजा पशुपालों को दण्ड न दे । २३८ ।

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥
पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्वारयेत्पशून् ॥२४०॥

वहां (खेती के बचाव के लिये) बाड़ देवे, जिस (के पिछली ओर) को ऊंट न देख सके और हरएक छिद्र जिस में कुत्ते वा सूअर का मुख पहुंच सक्ता है ढक दे । २३९ । पर मार्ग के समीप वा ग्राम के समीप जो क्षेत्र बाड़ दिया हुआ है, उसमें (द्वारादि से प्रविष्ट हुए) पशु के पालक को दण्ड देवे, और जिन का मालक नहीं उन पशुओं को (क्षेत्ररक्षक) हटा दे † २४० ।

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥

---

* धनुष चार हाथ का होता है । शम्या एक लकड़ी का यज्ञ पात्र होता है । तीन शम्यापात अर्थात् तीन बार फैंकी हुई छड़ी जितनी दूर पहुंचजाए, उतनी भूमि † २४०-२४२ गौत १२ । १९-

आनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा ।
सपालान्वाविपालान्वानदण्ड्यान्मनुरब्रवीत ॥२४२॥
क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डोभृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्यतु ॥२४३॥
एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनांच पालानांच व्यतिक्रमे ॥२४४॥

दूसरे (जो ग्राम से दूरस्थ हैं, ऐसे) खेतों में सवा पण दण्ड के योग्य होता है, और सर्वत्र फल खेत के मालिक को देना चाहिये, यह मर्यादा है।२४१। गौ प्रसूता, जिस को दस दिन नहीं निकले, (स्वतन्त्र छोड़े हुए) साण्ड और देवपशु चाहे पालक सहित हों वा पालक रहित हों इनको मनुने दण्डनीय नहीं कहा है । २४२ । यदि खेत के मालिक का अपराध हो(अर्थात् उसी के पशु खेती चर जाएं, वा खेती ही न बोए) तो उसे राजा को देने योग्य भाग से दस गुना दण्ड हो, उससे आधा दण्ड खेत के स्वामी को हो, जब उसके नौकरों की मूर्खता से ऐसा हुआ हो *।२४३। धार्मिक राजा यह (पूर्वोक्त) मर्यादा बर्ते, जब स्वामी का पालक का वा पशुओं का अपराध हो । २४४ ।

सीमां प्रति समुत्पन्नेविवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५॥
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थाकिंशुकान् ।
शाल्मलीन् सालतालांश्चक्षीरिणश्चैवपादपान् ॥२४६॥

* आप० २ । २८।१

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥
तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥
उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिंगानि कारयेत ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥२४९॥

दो गाओं की हद का झगड़ा उत्पन्न हो, तो जेठ महीने में जब कि (घास के सूखजाने से) हद के चिन्ह प्रकट हों, तब हद का निश्चय करे । २४५ । बड़, पीपल, केसू, सिंबल, साल, ताल, तथा और दूध वाले (गूलर आदि) वृक्षों को हद के वृक्ष बनाए । २४६ । झाड़ियें, भिन्न २ प्रकार के बांस, जंडी बेलें *, मट्टी के ढेर, सर, और कुब्जक झाड़ियें, (हद के चिन्ह बनाए) इस प्रकार हद नष्ट नहीं होती । २४७ । तालाब, कुएं, बावड़ियें, झरने और देवमन्दिर हद के मेल पर बनाने चाहियें । २४८ । सीमा के जानने में सदा लोक में लोगों की भूल होती देख कर और भी हद के गुप्त चिन्ह बनाए । २४९ ।

अश्मनोऽस्थीनिगोबालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः ।
करीषमिष्टकांगारांश्छर्करावालुकास्तथा ॥२५०॥
यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिर्नभक्षयेत् ।
तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥२५१॥

* चिर रहने वालीं करंज आदि बेलें (नारा०)

एतैर्लिंगैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २४२ ॥

अर्थात् पत्थर, हड्डियें, गोबाल, तुस, भस्म, खपड़े, सूखा गोबर, कोइला, रोड़ ठीकरी, रेत । २५० । इसी प्रकार के और भी पदार्थ जिन को समय बीतने पर भूमि खा न जाए, वह हद्द के जोड़ों पर बेमालूम करादे । २५। इन चिन्हों से राजा झगड़ते हुए दो गाओं की हद्द का निर्णय करे, दीर्घ काल के पूर्वले भोग से (कौन गाओं किस भूमि को भोगता चला आता है) और बीच में पानी (नदी नाले आदि) के पड़ने से (वार पार के गाओं की हद्द का निश्चय करे)। २५२ ।

यदि संशयएव स्याँल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात् सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥
ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमलिंगानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥२५४॥
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निवध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥२५५॥
शिरोभिस्तेगृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैःशापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥२५६॥
यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्ते दाप्याः स्युर्द्विशतंदमम् ॥२५७॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥२५८॥
सामन्तानामभावेतु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९॥

यदि चिन्हों के देखने में भी संशय ही हो, तब हद के झगड़े का निणर्य साक्षियों के विश्वास पर हो। २५३। गाओं के लोगों के, और (दोनों गाओं की ओर से) झगड़ने वाले उन दोनों के सामने हद के विषय में हद के चिन्ह साक्षियों से पूछने चाहियें। २५४। वह पूछे हुए सारे सीमाके विषय में जैसा अपना निश्चय बतलाएं, वैसी सीमा नियत करे, और उन सब (साक्षियों) के नाम लिखे *। २५५। वह (साक्षी) (लाल फूलों की) माला और लाल वस्त्र पहन कर, सिरपर मट्टी रख कर अपने २ पुण्यों की सौगन्द खा कर ठीक २ निर्णय करें † २५६। कहे अनुसार ठीक निश्चय कराने वाले सच्चे साक्षी पवित्र होते हैं, उलटा निश्चय करानेवालों को (पता लगने पर) दो सौ पण दण्ड देना चाहिये।२५७। साक्षियों के अभाव में चारों ओर के रहने वाले, भिन्न २ ग्राम वासी चार जमींदार शुद्ध हो राजा के सामने सीमाका निर्णय करें। २५८। सीमा निर्णय में मूलसे आते हुए (पिता पितामह आदि से वहीं बसते हुए) आस पास वालों के अभाव में वन में रहने वाले इन पुरुषों से भी पूछे।

---

* सीमा निर्णय में सब की एक वाक्यता पूरा प्रमाण है, एक वाक्यता न हो, तो बहुतों का वाक्य माने (मेधा०) † २५६-२६० याज्ञ० २। १५२

व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्चवनचारिणः ॥ २५६ ॥
ते पृष्टास्तु यथाब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ।
तत्तथास्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

शिकारी, चिड़ी मार, ग्वाले, धीवर (माहीगीर) मूल (कंद) खोद (कर जीविका कर) ने वाले, सांप पकड़ने वाले, दाने चुनने वाले और दूसरे ‡ बन चारियों को (भी पूछे) । २६० । वह पूछे हुए सीमा के जोड़ों में जो चिन्ह बतलाएं, उसको वैसे राजा दोनों गाओं में धर्म से (सीमा चिन्ह) स्थापन करे ।२६१।

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६१ ॥
सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥
गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतोदमः २६४
सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषा मुपकारादिति स्थितिः ॥२६५॥
एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अतऊर्ध्वंप्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥२६६॥

खेत, कुएं, तालाब, बगीचे और घर की हद बन्दी का

‡ लकड़ियां काटने वाले आदि वा भील आदि ।

निश्चय आसपासवालों के विश्वास पर जानना चाहिये * २६३ विवाद करने वाले मनुष्यों की हद्दबन्दी में यदि आस पास वाले झूठ बोलें, तो राजा सबको अलग२ मध्यम साहस दण्ड देवे२६३ जो भय दिखलाकर किसके घर, तालाब, बाग, खेत को छीने, तो उसे पांच सौ दण्डदे, (मेरा है इस) भूल से छीने, तो दो सौ दण्ड देवे ॥ २६४ ॥ हद्द (जब दूसरे प्रमाणों से) निश्चय करनी अशक्य हो जाए (तो) धर्मज्ञ (पक्षपात रहित) राजा आप ही इन (सब) के लाभ का ध्यान रख कर हद्द की भूमि बतलाए (हद्द नियत करे, और वहीं आगे के लिये चिन्ह स्थापन करे) यह मर्यादा है † ॥ २६५ ॥ यह हद्द के निर्णय में मर्यादा पूरी कहदी है, इस से आगे बाणी की कठोरता का निर्णय कहूंगा ॥२३६॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्यो प्यर्ध शतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥२६७॥
पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥२६८॥
समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥२६९॥
एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणयाक्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवोहि सः ॥२७०॥
नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥२७१॥

* वॉसि १६।१३-१५ याज्ञ २ । ११४ † याज्ञ २ । १५३ ॥

ब्राह्मण को (चोर बेईमान इत्यादि) कठोर कह कर क्षत्रिय सौ पण दण्ड के योग्य है। वैश्य डेढ सौ वा दो सौ, शूद्र ताड़ना के योग्य है * ॥ २६७ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर कहे, तो ५० पण, वैश्य को कहे तो २५ पण, शूद्र को कहे, तो दस पण उसे दण्ड हो ॥ २६८ ॥ अपने समान वर्णवाले को कठोर कहने में द्विजातियों को १२ पण ही दण्ड हो, न कहने योग्य वचनों (माता बहिन आदि को गाली) में वही दुगुना हो ॥ २६९ ॥ यदि शूद्र द्विजातियों को दारुणवाणी (माता आदि की गालियों) से झिड़के, तो उसकी जीभ कटवा देवे, क्योंकि वह निचले अंगसे उत्पत्ति वाला है ॥ २७० ॥ और यदि इन (द्विजातियों) का सख्त झिड़क के साथ नाम वा जाति का ग्रहण करे, † तो उसके मुख में जलता हुआ लोहे का दस अंगुल कील डालना चाहिये

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥२७२॥
श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद् द्विशतं दमम् ॥२७३॥
काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥
मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥२७५॥

---

* २६७—२७७ वासि० ९। ९ गौत० १२। १, ८—१४ आप० २। २७। १४ याज्ञ० २। २०४—२११ विष्णु० ५।२३—३९ † रे नीच

और दर्प से ब्राह्मणों को धर्मोपदेश करते हुए इस (शूद्र) के मुख और श्रोत्र में राजा गर्म तेल डलवाए ॥ २७२ ॥ जो अभिमान से (दूसरे का) वेद, ज्ञान, देश, जाति और शरीर सम्बन्धी कर्म * झूठ बतलाए, उसे दो सौ दण्ड हो ॥२७३॥ काने, लूले, और भी इसी प्रकार के पुरुष को (काना आदि) सच कहने वाले को भी घट से घट एक कार्षापण दण्ड देवे ॥ २७४ ॥ माता पिता पत्नी भाई पुत्र गुरु पर झूठा दोष लगाने वाले को और गुरु को मार्ग न देने वाले को सौ पण, दण्ड देवे ॥२७५॥

ब्राह्मण क्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥२७६॥
विट् शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥२७७॥
एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥

ब्राह्मण क्षत्रियों के आपस में गाली देने में ब्राह्मण को प्रथम साहस दण्ड देवे, क्षत्रिय को मध्यम साहस ॥ २७६॥ वैश्य शूद्र को भी एक दूसरी जाति को (गाली देने में) इसी प्रकार (वैश्य को प्रथम साहस, शूद्र को मध्यम साहस) (अर्थात् जिह्वा) काटने को †

यज्ञदत्त रे नीच ब्राह्मण इत्यादि, * तू ने वेद नहीं पढ़ा, तुझे इसका ज्ञान नहीं, तू इस देश का नहीं, तू इस जाति का नहीं, वा तेरा यह पेशा नहीं, इत्यादि। † अर्थात् पूर्व २७० में द्विजों को गाली देने में जो शूद्रों की जीभ काटना कहा है, वह दण्ड वैश्य को गाली देने में नहीं, केवल ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली देने में ही हो ॥

छोड़ कर दण्ड दियाजाता है यह मर्यादा है ॥ २७७ ॥ वाणी की कठोरता की यह दण्ड विधि ठीक २ कह कह दी है, इस से आगे दण्ड (मार पीट) की कठोरता का निर्णय कहूंगा ॥२७८

येनकेनाचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनो रनुशासनम् ॥२७९॥
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदन मर्हति ।
पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥
सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वाऽस्यावकर्तयेत्॥२८१
अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

अन्त्यज जिस किसी अंगसे द्विजाति पर प्रहार करे, वही २ उसका काटना चाहिये, यह मनुकी आज्ञा है * ॥ २७९ ॥ अर्थात् हाथ वा दण्ड उठाए, तो हाथ काटने योग्य है, क्रोध से पाओं से प्रहार करे, तो पाओं काटने योग्य है ॥ २८० ॥ ऊंचे के साथ बैठना चाहते हुए नीच को कमर में निशाने देकर निकाल दे, वा इस के चूतड़ को थोड़ासा कटवा देवे † ॥२८१॥ दर्प से (नकि भूलसे) ब्राह्मण पर थूके, तो राजा उसके दोनों

---

* २७९-२८० याज्ञ २।२१५ विष्णु०५।१९ † गौत ६।७ आप० २।२७।१५ विष्णु० ५।२० मेधा० गोवि० कुल्लू, के अनुसार यह नियम शूद्र और ब्राह्मण के विषय में है(शूद्र से चाण्डाल पर्यन्त सभी छोटी जातियों के विषय में हो सका है, पर है सर्वथा मिथ्याभिमान-सम्पादक)

होंट कटवादे, मूते, तो लिंग कटवा देवे, पादे तो गुदा कटवादे*

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥

(दर्प से) (मारने पीटने के लिये) सिर के बाल पकड़े, तो बिन विचारे उसके दोनों हाथ कटवादेवे, पाओं, दाढी, गर्दन और अण्डकोश (पकड़ने) में भी (हाथ कटवादे) ॥ २८३ ॥ (शस्त्र प्रहार से दूसरे का) चमड़ा छीलने वाले वा लहू निकालने वाले को सौ पण दण्ड देवे, मांस काटने वाले को छः मोहरें, हड्डी तोड़ने वाले को देश निकाला † ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ।
तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामितिधारणा ॥२८५॥

मनुष्याणां पशूनांच दुःखाय प्रहृते सति ।
यथा यथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥२८६॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापिवा ॥ २८७ ॥

सब वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग ‡ है, वैसा२ उनकी हिंसा

---

* विष्णु० ५।२१-२२ † याज्ञ २। २१८ विष्णु० ५। ६६-७० मेधा० कुल० नन्द० के अनुसार यह नियम समान जातियों के लिये है, नकि शूद्र का द्विजातियों के विषय में, राघ० के अनुसार शूद्र का शूद्र के विषय में, नारा० के अनुसार बराबर के वा निचले के अपराध के विषय में है ‡ उपभोग=फल वाले, छाया वाले, हद के वृक्ष, यात्रियों के आराम के वृक्ष इत्यादि वृक्षों के उपकार को

में दण्ड देवे, यह मर्यादा है * ॥ २८५ ॥ मनुष्य और पशुओं की पीड़ा के लिये प्रहार करने पर जैसे २ पीड़ा हो, वैसा २ दण्ड देवे † ॥२८६॥ अंगों की और व्रण और लहू की पीड़ा में (प्रहार करने वाला) असली अवस्था तक आने का व्यय दे, अथवा सारा दण्ड देवे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपिवा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८॥
चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

जो जिस की वस्तुओं को जानकर वा बिन जाने हानि पहुंचाए, वह उसका संतोष उत्पन्न करे, और उसके बराबर राजा को दण्ड भी देवे§ ॥२८८॥ चमड़ा, चमड़े लकड़ी और मिट्टी के बर्तनों में मूल्य से पांच गुना दण्ड राजा को दे (और स्वामी की प्रसन्नता करे)॥

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एवच ।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥
छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रति मुखागते ।
अक्षभंगे च यानस्य चक्रभंगे तथैव च ॥ २९१॥

(गाड़ी से हानि पहुंचने में) गाड़ी के चलाने वाले और मालिक के लिये दस छोड़ने योग्य स्थान हैं, शेषों में दण्ड दिया जाता है

देखकर दण्ड देवे * याज्ञ २ । २२७-२२८ विष्णु० ५ । ५५-१२ †२८६-२८७ याज्ञ २। २१९-२२२ विष्णु ५ । ७५-७६ ‡ पूर्व कहे दण्डों में से यथा योग्य कोई दण्ड ।
§जिन के विषय में विशेष दण्ड नहीं कहा है(मेधा०गोवि०कुल्लू०राघ०

॥ २९० ॥ (वह दस यह हैं) नाथ (नकेल) के टूट जाने, जुए के टूटजाने (ऊंची नीची भूमि के हेतु) टेढा पड़ने से, वा उलटा पीछे आपड़ने से, यान का धुरा टूटने, वा पहिया टूटने पर *॥

छेदनेचैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥२९२॥
यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥२९३॥
प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याःशतंशतम् ॥२९४॥

यन्त्रों (चर्मबन्ध आदि) के टूटने, जोते के टूटने, लगाम के टूटने में, और हटजा २ ऐसा पुकारते हुए (हानि होने पर) मनु ने दण्ड नहीं कहा है ॥ २९२ ॥ जहां सारथि के चतुर न होने से रथ उलट पलट चलता है, वहां हानि में (अशिक्षित सारथि लगाने के हेतु) स्वामी को दो सौ पण दण्ड हो ॥ २९३ ॥ यदि सारथि कुशल हो, तो वही दण्ड के योग्य है, अकुशल हो, तो (सारथि और स्वामी से अलग और भी) रथ पर बैठे पुरुष सौ २ पण दण्ड के योग्य होते हैं ॥२९४॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥
मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

---

* २९१-२९५ याज्ञ २ । २९८-२९९

यदि वह सारथि मार्ग में पशुओं से वा दूसरे रथ से रुका हुआ (अपना रथ चलाने में उतावली करके) प्राणियों को मारडाले, वहां बिनविचारे दण्ड हो ॥२९५॥ मनुष्य के मारने में (सारथि को) चोर का दण्ड (उत्तम साहस=सहस्र पण) हो, गो हाथी ऊंट घोड़े आदि बड़े २ प्राणियों के मारने पर उससे आधा

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चाशत्तुभवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥
गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।
माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदेलन वा ॥२९९॥
पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथञ्चन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्न प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥३००
एषोऽखिलेनाऽभिहितो दण्ड पारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डाविनिर्णये ॥३०१॥

क्षुद्र पशुओं की हिंसा में दो सौ दण्ड हो, अच्छे मृग पक्षियों की हिंसा में ५० दण्ड हो * ॥ २९७ ॥ गधा, बकरी, भेड़ के (मरजाने में) पांच मासे दण्ड हो, कुत्ते, सूअर के मारने में एक मासा दण्ड हो ॥ २९८ ॥ पत्नी, पुत्र, नौकर, चपड़ासी, छोटा भाई अपराध करें, तो रस्सी वा बांस की तील से ताड़ने योग्य हैं ॥ २९९ ॥ (वह भी) शरीर की पीठ पर

* २९७-२९८ विष्णु ५।५०-५४

सिर पर कभी नहीं, इससे अन्यथा * प्रहार करे, तो चोर का दण्ड पावे ॥ ३०० ॥ यह दण्ड की कठोरता का निर्णय पूरा २ कह दिया, अब चोर के दण्ड निर्णय में विधि कहूंगा ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥३०४॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षडभागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥

चोरों के रोकने में राजा पूरा यत्न करे, चोरों के रोकने से इसका यश और राष्ट्र बढ़ता है ॥ ३०२ ॥ क्योंकि (चोरों के रोकने से) जो राजा अभय का दाता है, वह सदा पूजा योग्य होता है, उसका अभय की दक्षिणा वाला सत्र (लंबा यज्ञ) सदा बढ़ता रहता है † ॥ ३०३ ॥ (प्रजा की) रक्षा करते हुए राजा को सबसे धर्म का छटा हिस्सा मिलता है, और न रक्षा करते हुए को अधर्म से छटा हिस्सा मिलता है ॥ ३०४ ॥ जो कोई स्वाध्याय, यज्ञ, दान, पूजा करता है, उसके छटे हिस्से का भागी राजा रक्षा करने से होता है ॥ ३०५ ॥

---

* २९९-३०० गौत २ । ४३-४४ आप १ । ८ । ३१ ॥ छाती वा सिर पर वा लात आदि से ।

† ३०३-३११ वासि० १।४२-४४ आप २।२५।७५ याज्ञ० २।३३५-३३६, ३५८ विष्णु ५।१९६ और देखो आगे ८ । २१२ ।

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥
योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डंच स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥३०७॥
अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुःसर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥
अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९॥

न्याय से सब प्राणियों की रक्षा करता हुआ और मारने योग्यों को मारता हुआ राजा प्रतिदिन लक्ष गौ दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन करता है ॥३०६॥ रक्षा न करता हुआ जो राजा कर (मुआमला), चुंगी, डाली वा दण्ड लेता है, वह शीघ्र नरक को प्राप्त होता है ॥ ३०७ ॥ रक्षा न करके अनाज का छटा हिस्सा लेने वाले राजा को सारी दुनिया की समग्र मल का ढोने वाला कहते हैं ॥ ३०८ ॥ मर्यादा की परवाह न करने वाले, नास्तिक, (लोगों से) छीनने वाले, रक्षा न करने वाले निरा खाने वाले राजा को नरकगामी जाने ॥३०९॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥
निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेणच ।
द्विजातयइवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

अधार्मिक (चोर आदि) को राजा तीन उपायों से रोके, नज़र बन्द करने से, बेड़ियां डालने से और अनेक प्रकार के शरीर दण्डों से ॥ ३१० ॥ पापियों के निग्रह और भलों के संग्रह से राजे सदा पवित्र होते हैं, जैसे यज्ञों से ब्राह्मण ॥ ३११ ॥ कार्यार्थी, तथा बाल वृद्ध और आतुर जन कुछ अप्रिय भी कहदें, तो राजा को चाहिये क्षमा करदे, इस में उसका अपना भला है ॥ ३१२ ॥ जो दुखियों से कठोर कहा हुआ सहता है, उससे वह स्वर्ग में पूजा जाता है, और जो ऐश्वर्य (के अभिमान) से नहीं सहारता है, उससे वह नरक को जाता है ॥ ३१३ ॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ३१४

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥

चोर को चाहिये, कंधेपर मूसल, वा खैर का डंडा वा दोनों ओर में तीक्ष्ण बर्छी, वा लोहे का दण्ड रख कर, बाल खोले हुए दौड़ता हुआ, अपनी चोरी कहता हुआ, राजा के पास जाए,

कि मैं इस कर्म वाला हूं, मुझे दण्ड दो * ॥ ३१४, ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥३१६
अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्याऽपचारिणी।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनोराजनिकिल्बिषम्॥३१७
राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाःस्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनोयथा॥३१८॥
यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च यः प्रपाम।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत्॥३१९॥
धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्याधिकं वधः।
शेषेप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्यच तद्धनम्॥ ३२० ॥

दण्ड दिया जाने से, वा छोड़ देने से चोर अपराध से छूट जाता है, पर उसको दण्ड न दे, तो राजा चोर के पाप को प्राप्त होता है ॥ ३१६ ॥ ब्रह्महत्या करनेवाला अपना अन्न खाने वाले में, व्यभिचारिणी स्त्री अपने पति में, शिष्य गुरु में, यजमान पुरोहित में, और चोर राजा में अपने पाप को डालता है † ॥ ३१७ ॥ पाप करके मनुष्य राजाओं से दण्डित

---

* ३१४-३१६ वासि २०। ४१ गौत १२। ४३-४५ आप १। २५। ४-१ बौधा २। १। १६-१७ याज्ञ ३। २५७ विष्णु ५२। १-२ यह नियम ब्राह्मण का सुवर्ण चुराने वाले चोर के विषय में है देखो आगे ११। ९९-१०१ † वासि १९। ३४ महापातकों से बचाना उसका अन्न खाने वालों का, पत्नी को व्यभिचार से रक्षा करना पतिका, शिष्यकी अधर्म से रक्षा करना गुरुका और यजमानकी रक्षा पुरोहित का और प्रजाकी रक्षा राजा का कर्तव्य है।और रक्षा न करने से यह भी

होजाएं, तो वह निर्मल होकर पुण्यात्माओं के तुल्य स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ॥ ३१८ ॥ जो पुरुष कुएं से रस्सी वा डोल चुराले, और जो प्याऊ को तोड़ दे * उसे एक मासा दण्ड दो, और उस (वस्तु) को वहां समर्पण करे [रस्सी डोल देवे, प्याऊ बनवादे] ॥ ३१९॥ दस कुम्भों † से अधिक अनाज चुरानेवाले को वध [बैत मरवाना वा अङ्ग काटना आदि) दण्ड देवे, बाकी में ग्यारह गुना दण्ड और मालिकको धन दिलावे ‡ ॥३२०॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥
पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदन मिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥३२२॥
पुरुषाणां कुलीनानां नारीणांच विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥
महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत ॥३२४॥

तथा तकड़ी से तोले जाने वाले सोने, चान्दी और उत्तम वस्त्रों की [चोरी में] सौ से अधिक में वध § पचास से अधिक में हाथ का काटना, शेष में मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड देवे (और मालिक को) धन दिलावे ¶ ॥ ३२१ ॥ ३२२ ॥ कुलीन पुरुषों

उनके साथ पापी होते हैं, यह अभिप्राय है * प्याऊ की लकड़ी चुराले (नारा०) † कुम्भ=२० वा २२ प्रस्थ (मेधा) २०० पल=द्रोण, २० द्रोण=कुम्भ (गोवि० कुल्लू० राघ०)२०० पल (नारा०) ‡ विष्णु ५।१२ § विष्णु ५।१३ ¶ विष्णु ५। ८१-८२

विशेषतः स्त्रियों और मुख्य रत्नों (हीरे आदि) के चुराने में बध के योग्य होता है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओं (हाथी गौ घोड़े आदि) के, शस्त्रों के और औषध के चुराने में काल और कार्य को देखकर राजा दण्ड कल्पना करे * ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥३२५॥
सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च ।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीस्य तृणस्य च ॥३२६॥

ब्राह्मण की गौओं के चुराने, बोरियों के फाड़ने में † और (ब्राह्मण के दूसरे) पशुओं के चुराने में जल्दी उसके आधे २ पाओं काटदे ॥ ३२५ ॥ (ऊण, सन आदि का) सूत, कपास, शराब के बीज, गोबर, गुड़, दही, दूध, मठा, जल, घास

वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च ।
मृण्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥

बांस और बेत के बर्तन, लवण, मट्टी के बर्तन, मट्टी और भस्म ॥ ३३७ ॥ मछली, पक्षी, तेल, घी, मांस, शहद और भी जो पशुओं से उत्पन्न होता है (चौरी गोरोचन आदि)

* ३२४-३२५ विष्णु ५ । ७७-७८

† 'स्थूरि कायाश्च छेदने' इस पाठान्तर में वांझ गौ के नासा छेदने में, अर्थ है ✱ ३२६-३३१ विष्णु ५ । ८३-८६

अन्येषांचैव मादीनामाद्यानामोदनस्य च ।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणोदमः॥ ३२९ ॥
पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥
परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयंभवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

इत्यादि और भी * खाने योग्य वस्तुएं, भात, सारे पके अन्न,(इन पूर्वोक्तवस्तुओं के)चुराने में उनके मूल्य से दुगुना दण्ड हो (और मूल्य मालिक को दिलाए) ॥३२९॥ फूल, हरे अनाज, झाड़ी, बेल, वृक्ष (इनके फल) और भी जो (दानों की तरह) शोधे नहीं जाते, उनमें पांचरत्ती दण्ड हो † ॥ ३३० ॥ पर शोधे हुए अनाजों में और शाक मूल फलों में (स्वामी से) सम्बन्ध न रखने वालों को सौ दण्ड और सम्बन्ध रखने वालों को पचास दण्ड देवे ‡ ॥ ३३१ ॥ जो (छीनना आदि) कर्म सामने बल से किया गया है, वह साहस है (चोरी नहीं) जो पीछे किया गया है, वह चोरी है, और जो छीनकर मुकरना है, वह भी चोरी है §

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तमाद्यंदण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयद्गृहात् ॥ ३३३ ॥

---

* मनासिल आदि और खाने योग्य (कुल्लू०) † गौत १२ । १८
‡ मिलाओ पूर्व १९८ § याज्ञ २ । २३०

अन्येषांचैव मादीनामाद्यानामोदनस्य च ।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणोदमः॥ ३२९ ॥
पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥
परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ।
निरन्वये शतं दण्डः साऽन्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयंभवेत्स्तेयं हृत्वाऽपव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

इत्यादि और भी * खाने योग्य वस्तुएं, भात, सारे पके अन्न,(इन पूर्वोक्तवस्तुओं के)चुराने में उनके मूल्य से दुगुना दण्ड हो (और मूल्य मालिक को दिलाए)॥३२९॥ फूल, हरे अनाज, झाड़ी, बेल, वृक्ष (इनके फल) और भी जो (दानों की तरह) शोधे नहीं जाते, उनमें पांचरत्ती दण्ड हो † ॥ ३३० ॥ पर शोधे हुए अनाजों में और शाक मूल फलों में (स्वामी से) सम्बन्ध न रखने वालों को सौ दण्ड और सम्बन्ध रखने वालों को पचास दण्ड देवे ‡ ॥ ३३१ ॥ जो (छीनना आदि) कर्म सामने बल से किया गया है, वह साहस है (चोरी नहीं) जो पीछे किया गया है, वह चोरी है, और जो छीनकर मुकरना है, वह भी चोरी है §

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ।
तमाद्यंदण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥ ३३३ ॥

* मनासिल आदि और खाने योग्य (कुल्लू०) † गौत १२ । १८
‡ मिलाओ पूर्व १९८ § याज्ञ २ । २३०

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥
पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नाऽदण्ड्योनामराज्ञोऽस्ति यःस्वधर्मेनतिष्ठति ॥३३५

जो पुरुष (उपभोग के लिये) तय्यार की इन (ऊण आदि) वस्तुओं को चुरावे, और अग्नि गृह से अग्नि (त्रेताग्नि वा गृह्याग्नि न कि मामूली अग्नि) चुरावे उसको राजा प्रथम साहस दण्ड दे * ॥ ३३३ ॥ जिस २ अंग से चोर किसी प्रकार भी मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उसके उसी अंग को (वैसे पाप के) हटाने के लिये † राजा कटवा दे ॥ ३३४ ॥ पिता आचार्य, सुहृद्, पत्नी, पुरोहित कोई भी हो, राजा के लिये अदण्ड-नीय नहीं है, जो अपने धर्म पर स्थित नहीं रहता है ‡ ॥३३५॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥
अष्टापद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैवतु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥३३८॥

* और स्वामी को वस्तु वा उसका मूल्य दिलाए, अग्नियों के विषय में दुबारा अग्नि स्थापन करने में जो व्यय आए, वह दिलाए
† ताकि फिर वह वैसा पाप न करे, वा दूसरे न करें ‡ याज्ञ१।३५७

वानस्पत्यंमूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैवच ।
तृणं च गोभ्योग्रासार्थ मस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

जिस (अपराध) में दूसरे साधारण पुरुष को एक कार्षापण दण्ड हो, उसमें राजा को सहस्र कार्षापण दण्ड होना चाहिये यह मर्यादा है * ॥ ३३६ ॥ चोरी में शूद्र का आठ गुना अपराध होता है, वैश्य का सोलह गुना, क्षत्रिय का बत्तीस गुना, ब्राह्मण का चौसठगुना वा पूरा सौ, वा चौसठदूना (१२८ गुना) होता है, जब कि वह (शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण) उस (चोरी) के दोषगुण का जानने वाला है † ॥ ३३७-३३८ ॥ वनस्पतियों के मूल फल, और अग्नि (होत्र) के लिये लकड़ी, और गौओं के खाने के लिये घास चोरी नहीं, ‡ यह मनुने कहा है § ॥

योऽदत्तादायिनोहस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वौ विक्षू द्वेच मूलके ।
आददानःपरक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥

जो ब्राह्मण चोर के हाथ से यज्ञ कराने से वा पढ़ाने से भी धन लेने की इच्छा करे, वह (ब्राह्मण) वैसा है, जैसा चोर है (चोरवत् दण्डनीय है) ॥ ३४० ॥ पथिक (मुसाफिर)

---

* मनु० ९ । ३३५ के अनुसार राजा का दण्ड ब्राह्मणों को मिले वा जलों में डाल दिया जाए (मेधा० गोवि० कुल्लू०)
† ३३७-३३८ गौत१२ ।१५-१७ ‡ मेधा गोवि० कुल्लू०नारा० राघ० के अनुसार यह नियम उन फल फूल आदि के विषय में है, जो खुले हैं, रोके हुए नहीं § गौत १२।२८ आप १।२८।३ याज्ञ० २।१६६

द्विजाति खर्च के नखुट्ट जाने पर दूसरे के खेत से दो गन्ने और दो मूली लेता हुआ दण्ड के योग्य नहीं होता है * ॥ ३४१ ॥

असन्धितानां सन्धाता सन्धितानांच मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तःस्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥
अनेनविधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् ।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३

न बन्धे हुओं (बेगाने पशुओं) का बांधनेवाला, और बन्धे हुओं का खोलने वाला, दास, घोड़े और रथ का लेने वाला * चोर के अपराध को प्राप्त हो (गुरु लघु अपराध के अनुसार चोर के भिन्न २ दण्डों का भागी हो) ॥ ३४२ ॥ इस विधि से राजा चोरों का निग्रह करता हुआ इस लोक में यश को और परलोक में अत्युत्तम सुख को पाता है ॥ ३४३ ॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

[अब साहस कर्म कहते हैं] ऐन्द्रस्थान [सब पर शासन करने की पदवी] और अविनाशी अनखुट्ट यश पाना चाहता

---

* गौत १२।४९-५० देखो आगे ९।२३९—२४१

* लेने वाला=किसी तरह धोखे से उनसे अपने काम लेने वाला (नारा०) चुराने वाला (दूसरे टीकाकार)

हुआ राजा साहसी* मनुष्यकी क्षणभर भी उपेक्षा न करे॥३४४॥ बाणी की कठोरता वाले से, चोर से और दण्ड की कठोरता वाले से भी साहस का करने वाला मनुष्य अधिक पापकारी है॥३४५॥

साहसे वर्त्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥३४७॥
शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥३४८॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति॥३४९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्यु मृच्छति॥३५१॥

साहस में प्रवृत्त पुरुष को जो राजा सहारता है वह जल्दी नाश को प्राप्त होता है और [तंग आई प्रजा से] द्वेष को प्राप्त होता है॥३४६॥ राजा न मित्र के कारण न बहुत बड़ी धन प्राप्ति के कारण सब लोगों को भय में डालनेवाले साहसियों को

* साहस=बल के सहारे पर धक्का करना, किसी के धन वा स्त्री का छीन लेना वा किसी का धन नाश कर देना, आदि। ऐसा कर्मी साहसी कहलाता है। पञ्जाब में एक अन्त्यज जाति साहसी

छोड़े ॥ ३४७ ॥ द्विजातियों को शस्त्र पकड़ना चाहिए, जब कि वह धर्म [-पालन] से रोके जाएं † अथवा [बुरे] काल के कारण द्विजाति वर्णों पर कोई उपद्रव हो ❁ ॥ ३४८ ॥ अपने बचाव में, दक्षिणाओं के बचाव में जो युद्ध हो उसमें स्त्री और ब्राह्मण की रक्षा में [उपद्रवियों को] मारना धर्म है, इससे दोषी नहीं होता ॥ ३४९ ॥ [अपने बचाव के लिए तो कहीं भी दोष नहीं होता] गुरु, बाल, वृद्ध वा बहुश्रुत ब्राह्मण कोई भी हो जब आततायी [प्राणों का शत्रु] बनकर आवे, तो उसे बिन विचारे मार डाले ॥ ३५० ॥ चाहे लोगों के सामने हो वा एकान्त में, पर आततायी के मारने में मारनेवाले को कोई दोष नहीं होता वहां क्रोध क्रोध का मुकाबिला करता है ॥ ३५१ ॥

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥
तत्समुत्थोहि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

अब [स्त्री से धक्का कहते हैं] परनारी के सतभङ्ग में प्रवृत्त मनुष्यों को राजा भयावने दण्डों [नासा होंठ काटने आदि] से अङ्ग भंग करके देश से निकाल दे ॥ ३५२ ॥

कहलाती है। जो अब भी ऐसे देशों में अग्रसर है † जबकि साहसी लोग धर्म में बाधा डालें, तो ब्राह्मणों को भी और वैश्यों को भी शस्त्र उठाना चाहिए, क्या फिर राजा को, साहसियों के उपद्रव को रोकने के लिए शस्त्र उठाना साहस नहीं ❁ ३४८-३४९ वासि० ३।११-१८, २४ गौत० ७-२५ बौधा० १।१८।२३ विष्णु० ५।१८९।१९२ ॥

क्योंकि इस [कुकर्म] से लोक में वर्णसंकर होता है, जिससे कि जड़ उखाड़ने वाला अधर्म सर्वनाश के समर्थ होता है * ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥
यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः॥३५५॥
परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि संभेदे स संग्रहण माप्नुयात् ॥३५६॥

जिस पर पहले दोष लग चुके हैं, ऐसा पुरुष यदि एकान्त में परपत्नी के साथ बातचीत करे, तो वह प्रथम साहस दण्ड पावे † ॥ ३५४ ॥ हां जो पहले दूषित नहीं, वह यदि किसी कारण से बात चीत करे, तो उसे कोई दोष नहीं, क्योंकि उसका अपराध नहीं ॥ ३५५ ॥ जो पराई स्त्री से पानी के घाट, जंगल वा बन में, वा नदियों के संगम पर बात चीत करे, वह संग्रहण [पराई स्त्री हरने के अपराध] को प्राप्त हो ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥
स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

---

* यज्ञ, जिनके सहारे पर शुद्ध अन्न की उत्पत्ति है, वह वर्ण संकर में पूरे नहीं होते, क्योंकि यज्ञ करनेवाले दम्पती शुद्ध होने चाहियें, † ३५४—३५८ आप० २।२६।१८-१९ याज्ञ० २।२८४

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥

उपचार कर्म, (हाथों से शरीर सेवा=लातें दाबना आदि) मखौल, भूषणों और वस्त्रों को छूना, इकठे एक खाट पर बैठना, सब संग्रहण माना गया है ॥ ३५७ ॥ स्त्री के जो अस्पृश्य स्थान पर हाथ लगाए, वा उससे स्पर्श किया हुआ सहले, यह सारा संग्रहण है, चाहे इस में परस्पर की अनुमति भी हो ॥ ३५८ ॥ अब्राह्मण संग्रहण में प्राणान्त दण्ड के योग्य होता है * चारों वर्णों की स्त्रियें सदा पूरी रक्षा के योग्य हैं ॥ ३५९ ॥

भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥
न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥
नैष चारणदारेषु विधिनात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥३६२॥

---

* दण्ड कड़ा होने से, अब्राह्मण से अभिप्राय शूद्र लेकर। शूद्र जब न चाहती हुई ब्राह्मणी को धक्के से भ्रष्ट करे, तब यह दण्ड हो, (कुल्लू०) अथवा प्राणान्त का यह अर्थ है, कि प्राण दण्ड तक दण्ड दिया जासकता है। क्योंकि ऐसी भी कुलीना पतिव्रता होती हैं, जो धक्का होने के समय अपने प्राण देने की वाह न लगने पर भी पीछे शोक में ही प्राण देदेती हैं, उनके साथ धक्का करनेवालों को प्राण दण्ड उचित ही है, (सम्पादक)

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात् संभाषां ताभिराचरन् ।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

योऽकामां दूषयंत्कन्यां ससद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयेस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः॥३६४॥

कन्यां भजन्ती मुत्कृष्ठं न किञ्चिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥३६५॥

भिक्षुक, स्तुतिपाठक, दीक्षा लिएहुए और कारीगर [भिक्षा आदि के लिये] विना रोक [गृहस्थ] स्त्रियों के साथ बात चीत कर सक्ते हैं॥ ३६०॥ रोक दिया हुआ कोई भी पुरुष किसी की स्त्री के साथ बात चीत न करे, रोकने पर बात करने वाला एक सुवर्ण दण्ड के योग्य होता है * ॥ ३६१॥ यह [एकान्त में बात चीत न करने की] विधि नटों की स्त्रियों में नहीं है, न स्त्रियों से जीविका करनेवालों में, क्योंकि वह आप स्त्रियों को [दूसरों से] मिलाते हैं, और छिपे रहकर उनसे व्यवहार कराते हैं † ॥३६२॥ किन्तु एकान्त में उनसे संभाषण करते हुए, तथा दासी, ब्रह्मचारिणी और संन्यासिनी से एकान्त में संभाषण करते हुए को थोड़ा सा दण्ड देवे॥ ३६५॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत् पितायदि॥३६६॥
अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अंगुल्यौ दण्डं चार्हति षट् शतम्॥३६७

* याज्ञ० २।२८९। † बौधा० २।४।३

सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात।
द्विशतन्तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

जो न चाहती हुई कन्या को दूषित करे वह जल्दी बध[अंग छेदा-दि] के योग्य है, इच्छावाली को दूषित करता हुआ वध को प्राप्त नहीं हो * ॥ ३६४ ॥ [जाति से] ऊंचे पुरुष को सेवन करती हुई कन्या को कुछ भी दण्ड न दे, नीच को सेवन करती हुई को बांधकर घर में बसाए ॥ ३६५ ॥ ऊंची कन्या को सेवन करता हुआ नीच बध [अंगछेदादि) के योग्य होता है, समजातिवाली को सेवन करनेवाली कन्या को (सेवन करने वाला) शुल्क दे [कर उसे विवाह ले] यदि पिता चाहे † ॥ ३६६ ॥ जो मनुष्य दर्प से [सजाति की] कन्या को दूषित करे, उसकी दो अंगुलियें काट लेनी चाहियें, और वह छः सौ पण दण्ड के योग्य है ॥३६७॥ कामनावाली को तुल्य जातिवाला दूषित करे, तो उसका अंगुलि छेद न हो, किन्तु आगे को प्रसंग से हटाने के लिए दो सौ दण्ड देवे ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥३६९॥
या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्योमौण्ड्यमर्हति।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

कन्या ही जो [अंगुलि डालने से) कन्या को दूषित करे, उसको

* ३६४—३६५ याज्ञ०२। २८८ † पिता न चाहे, तो दुगुना दण्ड राजा को देवे (मेधा० गोवि०, राघ०)

दो सौ दण्ड हो, और दुगुना शुल्क [कन्या के पिता को) दे, और दस रस्सी के प्रहार खावे ॥३६९॥ और जो स्त्री कन्या को [अंगुलि से] बिगाड़े उसका उसी समय सिर मुण्डा कर वा दो अंगुलियें काटकर गधे पर चढाकर घुमाए * ॥ ३७० ॥

भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्री ज्ञाति गुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥३७१॥
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत्॥३७२॥

जो स्त्री अपने मेकों के [पिता भाई आदि के धन बल आदि के] वा अपने गुण [सौन्दर्यादि] के दर्प से पति को उलांघे, [पति की प्रवाह न करके पर पुरुष से फंसे] उसको बहुत जनों से भरे स्थान में राजा कुत्तों से नोचवाए † ॥ ३७१ ॥ और उस पापी पुरुष को राजा तपे हुए, लोहे के पलंग पर [बांधकर] जलवाए, इस पर लकडियां डालें, वहां वह पापकारी दग्ध हो ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥३७३॥
शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

---

* मेधा० नारा० के अनुसार यह तीन दण्ड हैं, ब्राह्मणी का सिर मूण्डे, क्षत्रिया को गधे पर चढ़ाए, वैश्या और शूद्रा की अंगुलिएं कटवाए, गोवि० कुल्लू० के अनुसार दुबारा करने में अंगुलियें काटे । † ३७१—३७२ गौत० २३ । १४—१५ विष्णु० ५ । १८

वैश्यः सर्वस्वदण्ड्यः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥३७५॥

जो पहले [किसी स्त्री से] दूषित होचुका है, वह यदि वर्ष के अन्दर फिर [उसी स्त्री से] दूषित हो, तो उसे (पहले से) दुगुना दण्ड हो, व्रात्या * और चाण्डाली के साथ † दुबारा वास में भी उतना ही (पहले से दुगुना ही) हो ॥ ३७३ ॥ (भर्ता आदि से) रक्षा की हुई, वा [किसी से] न रक्षा की हुई द्विजाति स्त्री को यदि शूद्र भोगे, तो न रक्षा की हुई में अंग (लिङ्ग) से और सब धन से, और रक्षा की हुई हो, तो सब से (= देह और सब धन से) हीन होता है ‡ ॥ ३७४॥ (रक्षा की हुई ब्राह्मणी के गमन में) वैश्य को एक वर्ष कैद और सर्वस्व दण्ड हो, क्षत्रिय को सहस्र पण दण्ड हो और (गधे) के मूत्र से मूंडा जाए

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात् क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥
उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना॥३७७

---

* जिसका उपनयन नहीं हुआ, उस आर्य की स्त्री (गोवि० कुल्लू० राघ०) देखो पूर्व २ । ३९, अथवा जो ठीक समय पर विवाही नहीं गई (नारा०, मेधा०) † चाण्डाली और व्रात्या को इकट्ठा कहने का यह अभिप्राय है, कि चाण्डाली का दण्ड ही व्रात्या में भी हो, अर्थात् सहस्र पण दुगुना (२००० पण) दण्ड हो (गोवि० कुल्लू० राघ०) ‡ वासि० २१ । ५। ५ गौत० १२ । २—३ आप० २।२६।२० ; २७।९ बौधा० २।३।५२ याज्ञ० २।२८६, २९४

यदि न रक्षा की हुई ब्राह्मणी का वैश्य और क्षत्रिय गमन करें, तो वैश्य को पांचसौ और क्षत्रिय को सहस्र (पण) दण्ड हो ॥३७६॥ वही दोनों यदि रक्षा की हुई (गुण वाली) ब्राह्मणी के साथ उपद्रव करें, तो उनको शूद्रवत् * दण्ड दे वा चटाई में लपेटकर जलादे † ॥ ३७७ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यःस्यादिच्छन्त्या सह संगतः॥३७८
मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥३७९॥
न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

रक्षा की हुई ब्राह्मणी का धक्के से गमन करे, तो ब्राह्मण को सहस्रपण दण्ड हो, चाहती हुई के साथ संगत हो, तो पांच सौ पण दण्ड हो ॥ ३७८ ॥ सिर मूंडना ही ब्राह्मण का प्राणान्तिक दण्ड बतलाया है, दूसरे वर्णों का दण्ड प्राणान्तिक होसक्ता है ॥ ३७९ ॥ सो ब्राह्मण को, सारे पापों में स्थित को भी, न मारे, सारे धन समेत इसे देश से बाहर करदे, कोई अंगच्छेद न करे

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत्॥३८१
वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥

---

* शूद्रवत् देखो पूर्व ३७४ † वासि० २१।२-३ आप० २।२६।२० याज्ञ० २ । २८६ ।

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥

ब्रह्महत्या से बढ़कर कोई पाप जगत् में है नहीं, इसलिए इस के वध को राजा मन से भी चिन्तन न करे ॥ ३८१ ॥ रक्षा की हुई क्षत्रिया का यदि वैश्य गमन करे, वा वैश्या का क्षत्रिय गमन करे, तो जो न रक्षा की हुई ब्राह्मणी के विषय में दण्ड (३७६ में) कहा है, दोनों उस दण्ड के योग्य होते हैं ॥ ३८२ ॥ रक्षा की हुई क्षत्रियाका गमन करनेवाले ब्राह्मण को सहस्रपण दण्ड दिलाए, शूद्रा के विषय में क्षत्रिय और वैश्य को भी सहस्रपण ही दण्ड हो ॥

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्यं पंचशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥३८४॥
अगुप्ते क्षत्रिया वैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजास्त्रियम् ॥

न रक्षा की हुई क्षत्रिया में वैश्य को पांच सौ पण दण्ड हो, और क्षत्रिय सिर मुण्डन को प्राप्त हो, वा (पांच सौ पण) दण्ड को ही (प्राप्त हो) ॥ ३८४॥ न रक्षा की हुई क्षत्रिया, वैश्या, वा शूद्रा का गमन करता हुआ ब्राह्मण पांच सौ दण्ड के योग्य है, अन्त्यज * स्त्री के गमन में सहस्र (पण दण्ड के योग्य) है ॥ ३८५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ सराजा शक्रलोकभाक् ॥३८६॥

* चाण्डाली (गोवि०, कुल्लू०, राघ०) धोबी, चमार, नट, शिकलीगर, धीवर, मेद और भील (नारा)

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके ।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥३८७॥
ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि ।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥
न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥३८९॥

जिसके पुर में चोर नहीं, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट बाणी वाला, न साहसी, न कठोर दण्ड (मार पीट) वाला, वह राजा इन्द्रलोक (स्वर्ग) का भागी है *॥३८६॥ अपने देश में इन पांचों को दबाए रखना राजा के लिए अपने बराबर वालों में साम्राज्य देनेवाला और लोक में यश देनेवाला है ॥ ३८७॥ कर्म में समर्थ अदुष्ट ऋत्विज् को यदि यजमान छोड़ दे, वा ऋत्विज् (वैसे) यजमान † को छोड़ दे, उन दोनों को सौ २ पण दण्ड हो॥३८८॥ न माता, न पिता, न स्त्री न पुत्र त्याग के योग्य है, यह यदि (जाति से) पतित न हों, तो जो इनको त्यागे वह राजा से छःसौ पण दण्ड के योग्य है ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ।
न विब्रूयान् नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥३९०॥
यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥३९१॥

* विष्णु० ५। १९६ † पीढियों से जिस क्षत्रिय ब्राह्मण का यज्ञ करने कराने का सम्बन्ध चला आता है (नारा०, गोवि०) ‡याज्ञ०२। २३७ विष्णु० ५। १६३

प्रतिवेश्यानुवेश्यौच कल्याणे विंशतिद्विजे ।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्ड मर्हति माषकम् ॥३९२॥
श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥३९३॥

आश्रमों के कर्त्तव्यों के विषय में विवाद करते द्विजों को राजा अपना भला चाहता हुआ धर्म में अपने आप कुछ न कहे ॥ ३९० ॥ किन्तु यथायोग्य इन सब को पूजकर पहले मृदु बचनों से इनको ठण्डा करके,तब (वेदवेत्ता) ब्राह्मणों के साथ (उन को) अपना कर्त्तव्य बतलाए ॥ ३९१ ॥ कोई मंगल कार्य जिस में बीस ब्राह्मण (जिमाने) हों, उसमें यदि (जिमाने के) योग्य अपने पड़ोसी वा पड़ोसी के पड़ोसी को न जिमाए, तो वह एक माशा (चांदी) दण्ड के योग्य है*॥३९२॥और एक वेदपाठी यदि दूसरे धर्मात्मा † वेदपाठी को मंगल कार्यों में न जिमाए, तो उससे दुगुना अन्न(वेदपाठी को)और मासा सोना (राजाको दण्ड) दिलाए

अन्धो जड़ः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥३९४॥
श्रोत्रियं व्याधितार्तौच बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीन मार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥३९५॥

---

* याज्ञ० २।२६३ विष्णु० ५।९४

† धर्मात्मा वेदपाठी जो पड़ोसी है (गोवि०, कुल्लू०,राघ०) इसी गाओं का बासी हो, (नारा०) चाहे पडोसी न भी हो (मेधा०)

अन्धा, जड़, पीठ से चलनेवाला (लूला), सत्तर से ऊपरका बूढ़ा, और वेदपाठियों का उपकार करनेवाला, इनको (राजा) कोई भी कर न लगाए *॥ ३९४॥ वेदपाठी, रोगी, पीड़ित, बाल, वृद्ध, निर्धन, महाकुलीन, आर्य, (उदार प्रकृति) को राजा सदा (दान मान हित करने से) पूजे ॥ ३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥३९६॥
तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम्॥३९७
शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥३९८॥

धोबी सिंबल के साफ पट्टे † पर धीरे २ (वस्त्रों को) धोवे, न एक के वस्त्र दूसरे के वस्त्रों में मिलाकर रक्खे, न (किसी को) पहनावे, न पहने। (अन्यथा दण्डनीय हो) ‡ ॥ ३९६ ॥ जुलाहा दस पल (सूत) को (लेकर माया लगाने के कारण) ११ पल (वस्त्र स्वामी को तोल) दे, इससे उलटा चले, तो १२ § दण्ड

* वासि० १९ । २३-२४ आप० २। २६ । १०-१५ ॥

† सिंबल स्वभावतः साफ होता है, अभिप्राय साफ पट्टे से है, चाहे किसी का हो ‡ याज्ञ० २। २३८ § १२ पण दण्ड, २० पल वाले स्थाल में २४ पण इत्यादि (मेधा०) सूत से बारह गुना दण्ड (गोवि) सूत का बारहवां हिस्सा दण्ड (नारा०) नन्द कहता है, 'जुलाहा अपने काम के दस पल लाभ के साथ ११ वां पल राजा को कर देवे,

देवे, और वस्त्रवाले की प्रसन्नता करे * ॥३९७॥ चुंगी के स्थानों में कुशल (जिनको कोई धोखा न दे सके), बिक्री की सब वस्तु ओं के (सार असार को) जाननेवाले, वस्तु के अनुसार जो भाव निश्चित करें, (उसमें लाभ में से) बीसवां भाग राजा लेवे † ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥
शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संस्थाने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥४००॥
आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥४०१॥

वह द्रव्य जो राजा के प्रसिद्ध हैं ‡ और जो रोक दिए गये हैं § उनको लोभ से बाहर लेजाने वाले का राजा सब कुछ हर लेवे ॥ ३९९ ॥ चुंगी के स्थान को त्याग (कर कुमार्ग से चल) ने वाला, असमय (आधीरात) में खरीदने बेचने वाला, गिनती में झूठ बोलने वाला (घट बतलाने वाला) (जितनी चुंगी बचाता है उससे) आठ गुना दण्ड देवे ¶ ॥ ४०० ॥ व्यवहार की सब वस्तुओं की इन बातों को ठीक२ विचारकर राजा क्रय विक्रय कराए, कि कहां से आई हैं (और यहां से बाहर लेजानी हैं तो) कहां जाएंगी, कब तक पड़ी रही हैं, (वा रहेंगी), क्या ऊपर खर्च

---

* याज्ञ० २ । १७९ † ३९८—३९९ याज्ञ० २ । २६१ ‡ जो राजा के समझे जाते हैं, जिनको राजा भेंट के तौर पर दूसरे राजों के पास भेजते हैं, जैसे हाथी, कश्मीर में केसर वा दुशाले, पश्चिम में घोडे, दक्षिण में मणि मोती § जैसे अकाल में अनाज का बाहर जाना ¶ याज्ञ० २ । २६२

पड़ा है, और कितनी घटी हैं (सूखकर वा किसी और प्रकार से)

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥
तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

पांचवें २ दिन अथवा पक्ष २ (पन्द्रह दिन) के जाने * पर राजा इनके सामने भाओ स्थापन करे † ॥ ४०२ ॥ तोल और माप सब (राज चिन्हों से) ठीक चिन्होंवाले हों छः २ महीने पर उनको फिर परखे ‡ ॥ ४०३ ॥

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥
भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

पार उतरने में छकड़े का (तारिक = मील बहरी) एक पण, पुरुष के (बोझ) का आधापण, पशु और स्त्री का चौथाई पण, खाली पुरुष का आधा पण दिलाए ॥ ४०४ ॥ विक्री की वस्तुओं से भरे छकड़े का (वस्तु के) सार (मूल्य के अनुसार) खाली वर्तन और गरीब मनुष्यों से यत्किञ्चित् तारिक दिलाए § ॥ ४०५ ॥

---

* जल्दी भाओ वदलने वाली वस्तुओं पर पाचवें पाचवें दिन, दूसरी वस्तुओं पर पन्द्रहवें २ दिन (कुल्लू०) इनके = सौदागरों के (राघ०) ३९८ में कहे चुंगी वालों के (गोवि० कुल्लू०) † याज्ञ० २। २५१ ‡ वासि० १९।१२ ॥ § गोनी कंबल आदि (कुल्लू०)

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥४०६॥
गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥४०७॥

लंबे मार्ग में देश और काल (वर्षा काल आदि) के अनुसार तारिक हो, यह नदी के तीर में ही समझे, समुद्र में नियम नहीं है (पहुंचाने की कठिनाई आसानी का नियम नहीं होसक्ता) ॥ ४०६ ॥ दो मास से ऊपर गर्भवाली, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण से पार उतरनेमें तारिक न दिलाए *॥४०७॥

यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः ॥ ४०८॥
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ।
दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०९॥

नौका में मल्लाहों के अपराध से जो कुछ नष्ट हो, वह मलाह ही मिलकर अपने २ हिस्से से देवें ॥ ४०८ ॥ नौका पर जाने वालों के व्यवहार का यह निर्णय जल में मलाहों के अपराध से कहा है, दैविक (-हानि-तूफान आदि से हानि) में दण्ड नहीं होता है ॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥४१०॥
क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन्॥४११॥

---

* विष्णु ५ । १३२ ।

दास्यं तु कारयंल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् ।
अनिच्छतःप्राभवत्याद्राज्ञा दण्डयःशतानिषट् ॥४१२॥

व्यापार, ब्याज, खेती और पशुओं की रक्षा वैश्य से करवाए और शूद्र से द्विजातियों की दासता करवाए ॥ ४१० ॥ क्षत्रिय और वैश्य जीविका से दुर्बल हों, तो ब्राह्मण दया करके उनसे उनके कर्म करवाता हुआ पालन करे* ॥४११॥ ब्राह्मण संस्कृत हुए द्विजों से यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध प्रभुता के कारण दास कर्म (पाद धोना आदि) करवाए, तो राजा उसे छः सौ पण दण्ड देवे

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीत मेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा ॥४१३॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥४१४॥

शूद्र चाहे खरीदा हुआ हो, वा न खरीदा हुआ हो † उससे दास कर्म करवाले, क्योंकि ब्रह्मा ने उसको ब्राह्मण के दास कर्म के लिए ही रचा है ॥ ४१३ ॥ अपने स्वामी से आज़ाद किया भी शूद्र दासत्व से नहीं छूट सक्ता है, क्योंकि वह उसका स्वाभाविक है, कौन उससे इस (कर्म) को हटा सकता है ‡ ॥ ४१४ ॥

---

* महाधनी ब्राह्मण के लिए यह विधि है, कि निर्धन क्षत्रिय से ग्राम रक्षादि कराए, और वैश्य से खेती आदि करा उनको वृत्ति देवे

† अन्नादि से पोषण किया हुआ, वा न किया हुआ (टीकाकार)

‡ शूद्र निर्धन से दास कर्म करवाले, चाहे पहले दास हो वा न हो, क्योंकि शूद्र के लिए दास कर्म गिरावट नहीं, जैसा कि आर्य के लिए है, यह अभिप्राय है, यह नहीं, कि शूद्र दासत्व से छूट नहीं सक्ता, क्योंकि दासत्व से छूटना आगे कहेंगे

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदात्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥४१५॥
भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥
विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद् द्रव्योपादानमाचरेत् ।
न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनोहिसः ॥४१७
वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदंजगत्॥४१८॥

यह सात दासत्व के कारण होते हैं, युद्ध में जीता हुआ*अन्न के लिए दास हुआ, घर में उत्पन्न हुआ † (=दासी का पुत्र) खरीदा हुआ दूसरे से दिया हुआ, पितासे प्राप्त हुआ (= दास पिताका पुत्र) दण्डदास(देना चुकाने के लिये दास हुआ) ॥ ४१५ ॥ भार्या, पुत्र और दास यह तीनों ही न धन वाले कहे हैं, वह जो पाते हैं, वह धन उसका होता है जिसके वह हैं ‡॥४१६॥ ब्राह्मण (अपने दास) शूद्र से निःशंक धन लेलेवे, क्योंकि उसका (दासका) कुछ अपना नहीं है,स्वामी उसका धन ले सक्ता है॥४१७॥वैश्य और शूद्र से राजा प्रयत्न से अपने २ कर्म करवाए, क्योंकि वह अपने कर्मों से च्युत हुए हुए इस जगत् को क्षोभ में डालते हैं ॥ ४१८ ॥

---

* ध्वजाहृत=ध्वज=लिंग, उससे लाया गया, दासी में से आप उत्पन्न किया लड़का (नारा०) † गृहजः=दास का पुत्र (नारा०) ‡ इसलिए स्त्री, पुत्र और दास को अपने कमाए धन के खर्च करने में भी पति, पिता और मालिक से स्वतन्त्र नहीं होजाना चाहिए (मेधा०)

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥४१९॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥४२०॥

राजा अपने कारखाने § वाहन, (हाथी घोडे आदि) नियत आमदनी खर्च, खानों और कोश को प्रतिदिन देखे ॥ ४१९ ॥ इसप्रकार राजा इन सारे व्यवहारों को समाप्त करता हुआ सारे पाप को दूर करके परमगति को पाता है ॥ ४२० ॥

अथ नवमोऽध्यायः

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३॥
कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

---

* कर्मान्तान्=चुंगी स्थान आदि (मेधा० गोवि०) कार्यों की सिद्धि (कुल्लू०, राघ०) शस्त्र आदि बनाने के कारखाने (नारा०)

सूक्ष्मेभ्योपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥
इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

(क्रम प्राप्त स्त्री पुरुष धर्म का आरम्भ करते हैं) * धर्म युक्त मार्ग में ठहरे हुए स्त्री और पुरुष के संयोग और वियोग † में जो जो सनातन धर्म हैं वह कहूंगा ॥१॥ अपने पुरुष (पिता,पति,पुत्रों) को चाहिये, कि स्त्रियों को किसी समय स्वतन्त्र न करें, और (रूप, रस, गन्ध आदि) विषयों में फंसती हुइयों को अपने बस में ठिकाए रक्खें ‡ ॥ २ ॥ बालकपन में पिता रक्षा करता है, यौवन में पति रक्षा करता है, और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं, स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ समय पर न देने वाला पिता निन्दनीय होता है, और (समय पर) पास न जाने वाला पति निन्दनीय होता है, पति के मरने पर पुत्र रक्षा न करे तो निन्दनीय होता है § ॥४॥ सूक्ष्म भी दुःसंगों से स्त्रियों की विशेषतः

---

* स्त्री पुरुष के धर्मों को व्यवहार प्रकरण में कहने का यह अभिप्राय है कि स्त्री पुरुष में से यदि कोई अपने धर्म में स्थित न रहे, तो दण्ड से भी राजा उसे अपने धर्म में स्थित करे (कुल्लू०) † पति विदेश में हो, वा मरगया हो (नारा०) ‡ ताकि इनमें उनका बहुत लगाव न होजाए (नारा०) २—३ वासि० ५ । १—२ गौत० १८ । १ बौधा० २ । ३ । ४४-४५ विष्णु० ५ । १-२ याज्ञ० १ : ८५ § याज्ञ० १ । ६४ कन्यादान का समय देखो वासि० १७ । ६७—७१ गौत० १८ । २१ पति का पत्नी के पास जाने का समय देखो बौधा० ४ । १ । १७—१९ और पूर्व ३ । ४५

रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि न रक्षा की हुई यह दोनों कुलों में शोक लाती हैं ॥५॥ सभी वर्णों में इस धर्म को उत्तम समझते हुए दुर्बल * पति भी स्त्रियों की रक्षा के लिए यत्न करते हैं †॥ ६॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥७॥
पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भोभूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥
यादृशं भजते हि स्त्री सूतं सुते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

क्योंकि पत्नी की प्रयत्न से रक्षा करता हुआ पुरुष ही अपनी सन्तान, चरित्र अपने कुल ‡ अपने आप, और अपने धर्म की रक्षा करता है ॥७॥ पति (वीर्य रूप से) अपनी स्त्री में प्रवेश करके गर्भ बनकर फिर यहां (पुत्र रूप से) उत्पन्न होता है, जाया का जायापन यही है, जो इसमें फिर उत्पन्न होता है § ॥८॥ क्योंकि जैसे पुरुष को स्त्री सेवन करती है, वैसे पुत्र को जन्मती है इसलिए सन्तान की शुद्धि के लिये स्त्री की प्रयत्न से रक्षा करे ॥ ९ ॥

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतै रुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥११॥

* दुर्बल=अन्धे, लूले, गरीब आदि † याज्ञ० १।८१ ‡ कुल कीस्थिति (नारा०) § जाया का निर्वचन 'जायतेऽस्यां पति रिति जाया '=इस में पति जन्मता है, देखो याज्ञ०१।५६ ऐत० ब्रा०७।१३

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥

धक्के से स्त्रियों की रक्षा कोई नहीं कर सक्ता, किन्तु इन उपायों के प्रयोग से वह रक्षा की जासक्ती हैं ॥ १० ॥ धन के संग्रह और लगाने में, (वस्तुओं और शरीर की) शुद्धि में, (भर्त्ता और अग्नि की सेवा आदि) धर्म में, अन्न पकाने में, और घर के साधनों (मंजे, वस्त्र, आदि) के देखने में इन को लगाए ॥ ११ ॥ विश्वासी और आज्ञाकारी पुरुषों से घर में रोकी हुई भी अरक्षित होती हैं (जो दुःशीलता से आप अपनी रक्षा नहीं करतीं) किन्तु जो आप अपनी रक्षा करती हैं, वही सुरक्षित हैं (इसलिए इनके चित्त में धर्म बिठाना चाहिये, यही मुख्य उपाय है)

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीणां दूषणानि षट् ॥१३॥
नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

(मद्य-) पान, दुर्जनों की संगति, पति से वियोग, इधर उधर घूमना, (असमय) सोना और दूसरे के घर में वास, यह छः स्त्रियों को बिगाड़नेवाले हैं ॥ १३ ॥* न यह (सुन्दर) रूप की परवाह करती हैं, न इनका अवस्था (यौवन) में आदर है, सुरूप हो वा विरूप यह पुरुष है इतने से ही भोगती हैं

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

* इस से आगे स्त्रियों की अनुचित निन्दा है, जो पहली प्रशंसा से विरुद्ध भी है ।

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणंप्रति ॥ १६ ॥
शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

पुरुष की ओर प्रेरी जाने से, चित्त की चञ्चलता से, स्वभावतः स्नेह शून्य होने से, यह यत्न से रक्षा की हुई भी अपने भर्त्ताओं में विकार को प्राप्त होती हैं ॥ १५ ॥ प्रजापति की सृष्टि काल से उत्पन्न हुआ उनका ऐसा स्वभाव जानकर रक्षा के लिए पुरुष पूरा यत्न करे ॥१६॥ लेटना, बैठना, (अपने आपको) सजाना, काम, क्रोध, टेढापन, द्रोह, कुचाल यह मनु ने स्त्रियों के लिए स्थिर किये हैं ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरितिधर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमितिस्थितिः ॥१८॥
तथा च श्रुतयो बह्वयो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥
यन्मेमाता प्रलुलुभे विचरन्त्यऽपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृंक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥
ध्यायत्यानिष्टं यत्किंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निन्हवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥
यादृग्गुणेनभर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३॥
एताश्चान्याश्चलोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैःस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥

स्त्रियों का मन्त्रों से कर्म (संस्कार) नहीं है, * यह मर्यादा है, स्त्रियें शक्ति से हीन † (वेद) मन्त्रों से हीन, झूठ (रूप) है, यह मर्यादा है ॥ १८ ॥ इस विषय पर बहुत सी श्रुतियें (स्त्रियों के) अपने लच्छन (व्यभिचार) की परख के लिए गाई गई हैं, उन (श्रुतियों) में से (उनके व्यभिचार की) प्रायश्चित्त श्रुति सुनो ॥१९॥ "विचरती हुई मेरी माता अपतिव्रता बनकर यदि प्रलोभन में आई हो, तो उस बीज को मेरा पिता शोधन करे", ‡ इस (=व्यभिचार) का यह दृष्टान्त है॥२०॥ मन से अपने पति का स्त्री जो अनिष्ट चिन्तन (मानस व्यभिचार) करती है, उस व्यभिचार का यह प्रायश्चित्त है § ॥२१॥ जैसे गुणवाले भर्ता से स्त्री (विवाह-) विधि अनुसार युक्त होती है, वैसे गुणोंवाली वह होती है, जैसे नदी समुद्र से ¶ ॥ २२ ॥ नीच जाति में उत्पन्न

* मिलाओ पूर्व २ । ६६ † धीरज प्रज्ञा बल आदि से हीन (मेधा०) ‡ यह वाक्य कुछ थोड़े से भेद से शाङ्खायन गृह्यसूत्र ३ । ३ में पढ़ा है । यद्यपि यह वाक्य अन्यतरकरण ने कहा है, तथापि चातुर्मास्य में हरएक यजमान इसे पढता है, और अन्वष्टका श्राद्ध में हर एक पुरुष पढ़ता है इससे हरएक स्त्री के चित्त की चञ्चलता सम्भावित है § अर्थात् यह ऊपर के वाक्य का जप। स्त्री के मानस व्यभिचार का जो कुसंस्कार पुत्र में आता है, वह इस जप से दूर होता है ¶ मीठी नदी समुद्र से मिलकर खारी हो जाती है, कविता में समुद्र नदियों का पति कहा जाता है ॥

हुई अक्षमाला वसिष्ठ से युक्त होकर, और शारङ्गी मन्दपाल से युक्त होकर पूज्यता को प्राप्त भई ॥२३॥ यह तथा और भी नीच जन्मवाली स्त्रियें अपने २ पतियों के शुभ गुणों से इस लोक में उत्तमता को प्राप्त हुई हैं ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्री पुंसयोःशुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह स्त्री पुरुष का सदा शुभ लोक व्यवहार कहा है,अब लोक परलोक में सुख देनेवाले सन्तान के धर्मों को जानो ॥ २५ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियःश्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥२७॥

उत्पत्ति के लिये बडा उपकार करने वाली (वस्त्रभूषण आदि से) पूजा के योग्य घर की शोभा हैं, स्त्रियें और श्री घरों में एक तुल्य हैं, इन में कोई विशेष नहीं (जैसे श्री हीन घर शोभा वाला नहीं होता, वैसे स्त्री हीन भी) ॥ २६ ॥ सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न हुए का पालन, और प्रति दिन (अतिथि मित्रादि के भोजन आदि) लोक व्यहार का स्त्री प्रत्यक्ष कारण है ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्चह ॥२८॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीतिचोच्यते ॥२९॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥
पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥
भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

सन्तान, धर्म के कार्य (अग्निहोत्रादि), सेवा, उत्तम प्रीति, तथा पितरों का और अपना स्वर्ग स्त्री के अधीन है ॥ २८ ॥ जो (स्त्री) मन वाणी शरीर को रोककर पति से व्यभिचार नहीं करती है, वह पति लोकों को प्राप्त होती है, और सत्पुरुषों से साध्वी (पतिव्रता) कही जाती है * ॥ २९ ॥ पति से व्यभिचार से स्त्री लोक में निन्दा को प्राप्त होती है, और गीदड़ की योनिको प्राप्त होती है, और पाप रोगों (कुष्ठ आदि) से पीड़ित होती है † ॥ ३० ॥ पुत्र के विषय में पूर्वज महर्षियों और दूसरे विद्वानों से कहे इस पवित्र, सब लोगों के हितकर विचार को जानो ॥ ३१ ॥ (सब) जानते हैं, कि (स्त्री का) पुत्र (उसके) भर्ता का होता है, पर भर्ता के विषय में श्रुति दो प्रकार की है, कई तो उत्पन्न करने वाले को (पुत्रवाला) कहते हैं, दूसरे क्षेत्रवाले (जिस की वह स्त्री है उस) को ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

* मिलाओ ५ । १६५ † वासि २१ । १४ और पूर्व ५ । १६४

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिःप्रशस्यते ॥ ३४ ॥
बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूति र्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥
यादृशं तुप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥३६॥

(इस विवाद की मीमांसा करते हैं) स्त्री क्षेत्ररूप कही गई, और पुरुष बीज रूप कहा गया है, क्षेत्र और बीज के मेल से सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥ कहीं बीज बढ़ कर रहता है कहीं स्त्री की योनि, जहां दोनों तुल्य हों वह उत्पत्ति प्रशंसनीय है ‡ ॥ ३४ ॥ बीज और योनि में से बीज प्रधान कहा जाता है, क्योंकि सब भूतों की उत्पत्ति बीज के चिन्हों (रंग आकारादि) से चिन्हित होती है ॥ ३५ ॥ जैसा बीज ठीक समय पर तय्यार किये क्षेत्र में बोयाजाता है, वैसा वह बीज अपने गुणों से चिन्हित उस (क्षेत्र) में उगता है ॥३६॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान् कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७
भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

‡ बीज की प्रधानता, जैसे व्यास ऋष्यशृङ्गादि में (जो अब्राह्मणी में से भी ब्राह्मण के बीज से ब्राह्मण हुए) क्षेत्र की प्रधानता धृतराष्ट्र आदि में (जो क्षत्रिय के क्षेत्र में ब्राह्मण के बीज से भी क्षत्रिय हुए) दोनों तुल्य अर्थात् जहां विवाहने वाला ही उत्पादक है (मेधा०कुल्लू०

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥
अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

यह भूमि भूतों (वृक्ष बेल आदि) की सनातन योनि कही जाती है, पर कोई भी बीज अपने परिणाम (उगने बढ़ने) में योनि (इस भूमि) के गुणों को नहीं परिणत करता है * ॥ ३७॥ भूमि में एक क्यारी में भी किसानों से समय पर बोए बीज अपने २ स्वभाव से नाना रूपों वाले उत्पन्न होते है ॥ ३८ ॥ साठी, धान, मूंग, तिल, माष (उड़द) जौ, लहसन और ईख बीज के अनुसार उगते हैं ॥ ३९ ॥ बोया हो कुछ और उत्पन्न कुछ और हो यह नहीं होता है, जो २ बीज बोयाजाता है, वही वह उगता है (इस लिये मनुष्यों में भी बीज की ही प्रधानता है)

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥
अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथाबीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥
नश्यतीषुर्यथा विद्धः खेविद्ध मनु विध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥
पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥४४॥

---

* जिस का बीज है, उसके डाल डालियां फूल पत्ते निकलते हैं, न कि पृथिवीका रूप आकार

इस लिये बुद्धिमान्, सुशिक्षित, ज्ञान विज्ञान के जानने वाले और दीर्घ आयु चाहने वाले को कभी पराई स्त्री में बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४१ ॥ इस (विषय) में भूतकाल के जानने वाले वायु से गई गाथाएं गाते हैं, कि जैसे पुरुष को पराई स्त्री में बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४२ ॥ जैसे (किसी से) वींधे गए मृग के उसी छिद्र में वह फैंका गया बाण वींधने वाले का नष्ट होता है (निष्फल जाता है मृग पहले वींधने वाले को मिलता है) वैसे पर स्त्री में बीज जल्दी नष्ट हो जाता है (उसी समय गर्भ का मालिक क्षेत्र वाला होता है) ॥ ४३ ॥ पूर्व समय के जानने वाले इस पृथिवी को भी पृथु की भार्या कहते हैं *झाड़ियां काटने वाले का क्षेत्र कहते हैं, और शल्य वाले का मृग ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेतिह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना॥४५॥
न निष्क्रय विसर्गाभ्यां भर्तुर्भाया विमुच्यते ।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापति निर्मितम्॥४६॥
सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥४७॥
यथा गोश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

* यद्यपि पृथिवी के अनेक मालिक होचुके हैं, पर पहले पहल पृथु ने ही इसे खेती के योग्य बनाया, इस लिए इसको पृथिवी वा पृथ्वी अर्थात् पृथु की भार्या कहते हैं ।

जो पत्नी पुत्र और अपना आप है यह पूरा पुरुष है, * इसलिये विद्वान् कहते हैं, जो भर्त्ता है, वह स्त्री कही गई है ॥४५॥ न निष्कृति (चुकाव) ले लेने से, न छोड़ देने से भार्या भर्त्ता से छूट सकती है, इसप्रकार हम पूर्वकाल में प्रजापति से बनाई मर्यादा जानते हैं † ॥ ४६ ॥ एकबार (भाइयों का) विभाग होता है ‡ एकबार कन्या दीजाती है, एकबार देने का वचन कहा जाता है, यह तीनों सत्पुरुषों के एकबार होते हैं § ॥४७॥ जैसे गौ, घोड़ा, ऊंटनी, दासी, भैंस, बकरी और भेड़ में उत्पन्न करनेवाला, प्रजा का भागी नहीं होता, वैसे दूसरी स्त्रियों में भी॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९
यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥५०॥
तथैवाऽक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥५१॥
फलं त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

---

* अर्थात् पत्नी अर्धाङ्गी होने से, और पुत्र आत्मज होने से अपना रूप ही है देखो आप०२।१४।१६ † आर्य धर्मशास्त्रों में तलाक किसी तरह नहीं है, और यह मर्यादा आदि सृष्टि से मानी गई है ‡ भाई जो एकबार बांट लेते हैं, उसी को स्थिर मानते हैं, पछताकर उलट पलट नहीं करते

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिकएव च॥ ५३ ॥

जो बीजवाले क्षेत्र के स्वामी न होकर पर क्षेत्र में बोते हैं, वह उत्पन्न हुई खेती का कहीं (किसी देश में भी) फल नहीं पाते हैं ॥ ४९ ॥ अपना सांड यदि दूसरों की गौओं में सौ बछड़े भी उत्पन्न करें, वह गौओं के स्वामियों के ही बछड़े होते हैं, सांड का वीर्य सेचन (मालिक के लिये) व्यर्थ जाता है*॥५०॥ वैसे ही अक्षेत्री का बीज (निष्फल होता है) पर क्षेत्र में बोने वाले क्षेत्रवालों का काम संवारते हैं, बीजवाला फल नहीं पाता है ॥ ५१ ॥ क्षेत्रवालों और बीजवालों में फल का संकेत (कि इसकी उपज हमारी सांझी होगी) न हुआ हो, वहां प्रत्यक्ष क्षेत्रवालों का काम बनता है, इसलिए बीज से योनि बड़ी है ॥ ५२ ॥ हां पहले नियम करके जब यह (क्षेत्र) बीज (बोने) के लिए दिया जाता है, उसके इस लोक में बीजवाला और क्षेत्रवाला दोनों भागी देखे गये हैं ॥

ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥
एषधर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रभवं प्रति ॥ ५५ ॥
एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

* याज्ञ० १ । ६१ ; वासि० १७।८

जो बीज प्रवाह और आंधी द्वारा (कहीं से) लाया हुआ जिसके क्षेत्र में उगता है, वह बीज क्षेत्रवालेका ही होजाता है, बोने वाला फल नहीं पाता है ॥ ५४ ॥ * यही मर्यादा गौ, घोड़े, दासी, ऊंट, भेड़, बकरी, भैंस और पक्षियों की सन्तान के लिए जाननी चाहिए ॥ ५५ ॥ यह तुम्हें बीज और योनि की प्रधानता अप्रधानता कही है, इससे आगे आपत्ति में † स्त्रियों का धर्म कहूंगा ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजास्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥५८॥
देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥५९॥

जो बड़े भाई की भार्या है, वह छोटे की गुरुपत्नी ‡ है, जो छोटे की भार्या है, वह बड़े की स्नुषा (पुत्र वधू) है ॥ ५७॥ आपत्काल के बिना (=सन्तान के होते हुए) बड़ा छोटे की भार्या और छोटा बड़े की भार्या के पास जाए, तो पतित होते हैं, चाहे वह नियुक्त भी हों § ॥ ५८ ॥ (अपने पति से) सन्तान के अभाव में भली भान्ति नियुक्त ¶ हुई स्त्री को चाहिए,

---

*यही मर्यादा जो ४८-५४ में कही है † जब उनके सन्तान न हो ॥

‡ गुरु से अभिप्राय यहां पिता है, (राघ०) § ५८—६३ वासि० १७।५६-६१ गौत० १८।४-८ बौधा० २।४।९-१० याज्ञ० १।६८-६९ ¶ नियुक्त =आज्ञा दी हुई-पुत्र के अभाव में पत्नी अपने पति से आज्ञा दी जासक्ती है, और पति के मरने के पीछे दूसरे ज्ञातियों से (गोवि०)

कि देवर से, वा सपिण्ड से अभीष्ट * सन्तान उत्पन्न करे॥५९॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥
विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥ ६२ ॥

विधवा † के साथ नियुक्त पुरुष (शरीर पर) घी मलकर वाणी को रोके हुए एक पुत्र उत्पन्न करे दूसरा किसी तरह नहीं॥६०॥ पर दूसरे उस (नियोग विधि) के जानने वाले (एक से) नियोग का प्रयोजन न सिद्ध हुआ मानते हुए ‡ उन दोनों का दूसरा (गर्भ धारण) धर्म से मानते हैं ॥ ६१ ॥ विधवा में विधि अनुसार नियोग का अर्थ (गर्भ धारण) सिद्ध होने पर वह दोनों § परस्पर गुरु की तरह और स्नुषा की तरह बर्तें ॥ ६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

---

* अभीष्ट = अर्थात् पुत्र, न कि कन्या वा नपुंसक। सो यदि पुत्र न हो, तो पुत्र के लिये फिर प्रवृत्ति इसी से कही गई (नारा०)

† विधवा = सन्तानोत्पादन के योग्य न पतिवाली, क्योंकि पति के जीते हुए भी अयोग्य पति से आज्ञा दीजाती है, जैसे कुन्ती पाण्डु से (टीकाकार) ‡ एक पुत्र न के बराबर होता है, यह शिष्ट कहते हैं (मेधा०, गोवि०, कुल्लू० राघ०) § वह दोनों बड़ा भाई और छोटे की भार्या ॥

नियुक्त जो (स्त्री पुरुष) विधि त्याग कर अपनी कामना से बर्तें, वह दोनों पतित होते हैं अर्थात् (बड़ा हो तो) पुत्रबधू गामी होगा, [छोटा हो तो] गुरुपत्नी गामी होगा ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥६५॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

समही मखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत्कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

द्विजातियों को विधवा स्त्री दूसरे के साथ नियुक्त नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दूसरे के साथ नियुक्त करते हुए

सनातन धर्म का हनन करेंगे * ॥ ६४ ॥ विवाह वाले मन्त्रों में

* यह नियोग का विषय यहां मनु में विशेषतः विचारणीय है। ५९-६३तक नियोग का स्पष्ट विधान है। ६४से६८तक निषेध है। फिर ६९ में एक नया विधान है। यह परस्पर विरोध कैसे ? इसके उत्तर यह दिए गए हैं-श्लोक ५९ में सन्तान के अभाव में नियोग कहा है, चाहे स्त्री विधवा हो,वा नपुंसक वा सदा रोगी पतिवाली सधवा। पर श्लोक६४में विधवा के नियोग का निषेध है। नपुंसक वा रोगी पति वाली का नहीं, इसलिए नपुंसक वा रोगी पतिवाली का नियोग हो, विधवा का न हो, यह व्यवस्था है, (इति के चित्) इसका खण्डन- 'विधि वाक्य(श्लोक५९में)नियोग का निमित्त सन्तानका अभाव कहा है, वह जैसे व्याधित और नपुंसक पतिवाली के लिए है, वैसे मृत पति वाली के लिए भी है, इसलिए विधवा का अर्थ पति संबन्ध से रहित है। वह मृतपति की तरह व्याधित नपुंसक पतिवाली के भी तुल्य ही है। अवश्य यही अर्थ लेना चाहिए, अन्यथा श्लोक ६० में कहा घी मलकर जाने आदि का नियम भी विधवा के विषय में होगा, व्याधित नपुंसक पतिवाली के विषय में नहीं, इसलिए यह व्यवस्था ठीक नहीं है, (मेधा०) तो फिर क्या व्यवस्था है ? 'व्यासादि के दृष्टान्त से क्षेत्रज सन्तान के लिए सपिण्डों को बड़ों के नियोग (हुक्म) की ज़रूरत है (जैसा कि व्यास माता के हुक्म से विचित्रवीर्य की स्त्री के पास गया—सम्पादक) इस अभिप्राय से देवरादि से नियोग है,क्योंकि माहात्माओं की प्रवृत्ति राग से माननी उचित नहीं। और निषेध जो है, वह काम=राग से प्रवृत्ति के लिए है, जो राजा वेन के समय होगई थी, (देखो ६७) ऐसी प्रवृत्ति ही प्रायः लोगों की होसक्ती है, इसलिए निषेध किया है, जो श्लोक ६५ में कहा है, कि विवाह सम्बन्धी मन्त्रों में नियोग नहीं कहा, इस से विवाह सम्बन्धी मन्त्रों में नियोग का आज्ञा नहीं, सो ठीक है, वहां आज्ञा नहीं, पर वहां निषेध भी नहीं। और आज्ञा अन्यत्र स्पष्ट है,—'को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ' (ऋग० १०। ४०

कहीं नियोग नहीं कहा है, न विवाह के विधान में विधवा का

२) अर्थात् जैसे विधवा स्त्री देवर को अपना पति बनाकर एक शय्या पर अपनी ओर झुकाती है (मेधा०) (अर्थात् मेधा० के आशय से नियोग=बडों का हुक्म मानकर प्रवृत्ति है, न कि राग से प्रवृत्ति । प्रायः लोगों में राग प्रबल होता है, सो नियोग की खुली आज्ञा देने में सच्चा नियोग तो कहीं होगा । झूठे नियोग प्रायः हुआ करेंगे, इसलिए कहकर निषेध कर दिया-सम्पादक)'जो यह नियोग कहा है उसका अनुष्ठान आजकल के लोगों से कठिन है, इसलिये अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, यह ६४—से ६८ तक पांच श्लोकों से कहा है (नन्दन) नियोग का विधान करके पुनर्विवाह का निषेध है, नहीं तो विधि और निषेध का परस्पर विरोध होगा । सो नियोक्तव्या =विवाह की आज्ञा नहीं देनी चाहिए, उद्वाहक मन्त्र ' अर्यमणं नु देव इत्यादि । विवाह विधि=ब्राह्मोदैव इत्यादि । पशुधर्म=पुनर्विवाह । प्रमीतपतिका=जिसका पति मर गया है,पर पुत्र है। अपत्यार्थ=संतान के लिए,जब कि संतान पहले है(राघ०)(सो राघवानन्द के अभिप्राय से नियोग उचित है,पुनर्विवाह निन्दित है,पर अर्थ बहुत खींचा हुआ है-संपादक) श्लोक ६४ में दूसरे के साथ अर्थात् देवर वा सपिण्ड से भिन्न के साथ नियोग का निषेध है, यह भी व्यवस्था कीगई है, (पर अगले श्लोकों से स्वरसतः खण्डन ही झलकता है-संपादक) श्लोक ६९-७० के विषय में टीकाकार कहते हैं, कि नियोग के प्रकरण से वाग्दत्ता (सगाई की हुई) के विषय में यह नियम है, कि यदि वाग्दत्ता का पति मर जाए, तो उसे देवर विवाह ले, और एक ऋतु में एक ही बार उसके पास जाए, और वह स्त्री वस्त्र श्वेत रक्खे । मिताक्षरा में यह व्यवस्था की है, कि विधवा के नियोग का विधान करके फिर निषेध कर दिया, तिस पीछे श्लोक ६९-७० से यह बतलाया, कि वाग्दत्ता का नियोग ठीक है, विधवा का नहीं (याज्ञ० १ । ६९ पर मिताक्षरा) (पर आचार इसके विरुद्ध है । वाग्दत्ता को फिर निःशंक अन्यत्र विवाह देते हैं, न कि देवर ही के साथ नियुक्त ही करते हैं—संपादक) ॥

पुनर्विवाह कहा है ॥ ६९ ॥ यह निन्दित, पशुओं का धर्म वि-

संपादक की स्वतन्त्र सम्मति(१) नियोग स्मृति विहित है, यह निर्विवाद धर्मसूत्रों में भी विधान है, दृष्टान्ततया गौतम धर्मसूत्र अध्याय १८- "अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् ॥ ४ ॥"=पतिहीना स्त्री देवर से सन्तान पाने की इच्छा करे। "गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् ॥ ५ ॥" बड़ों से आज्ञा दी हुई ऋतुकाल को न उलांघे। पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा ॥ ६ ॥ अथवा सपिण्ड सगोत्र, सप्रवर से, वा योनि मात्र=ब्राह्मणजाति मात्रसे (सन्तान पाना चाहे) "नादेवरादित्येके ॥ ७ ॥" कई कहते हैं, देवर के बिना नहीं। "नातिद्वितीयम् ॥ ८ ॥" दूसरे को उलांघकर न उत्पन्न करे। "जनयितुरपत्यम् ॥ ९ ॥" सन्तान उत्पन्न करने वाले की होती है। "समयादन्यस्य ॥ १० ॥" पर संकेत कर लेने से दूसरे (क्षेत्रवाले) की होती है (जैसे विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यास से) "जीवतश्च क्षेत्रे ॥ ११ ॥" जीते हुए के क्षेत्र में भी होती है (जब वह नपुंसक वा व्याधित) हो। इस प्रकार स्पष्ट विधि है। निषेध नहीं (२)पराशर स्मृति आदि में कलियुगमें नियोग का निषेध भी प्राचीन विधि का द्योतक है (३) सारी स्मृतियों में १२ प्रकार के पुत्रों में से क्षेत्रज पुत्र औरस के तुल्य पिता का दाय भागी होता है। (देखो आगे ९।१४५) (४) दायभागी होने में धर्म सन्तान होना हेतु भी दिया है, (९।१२१) (५) निःसन्तान मरे भाई का धन सम्भाल कर उसकी स्त्री में मरे भाई के लिए पुत्र उत्पन्न करके वह धन उसको देने की आज्ञा भी है (९।१४६) इत्यादि प्रबल हेतुओं से नियोग धर्मशास्त्र विरुद्ध वा मानवधर्म-शास्त्र विरुद्ध नहीं होसक्ता। इसीलिए टीकाकार भी विधि निषेध की कोई न कोई व्यवस्था करते हैं। और जैसा कि मनु की प्रायः चाल है, कि विषय के आरम्भ में उस के आरम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं, और समाप्ति में समाप्ति जितलाते हैं। इसीतरह

नियोग के आरम्भ में स्त्रियोंका आपद्धर्म कहने की (५६ में) प्रतिज्ञा करके दायभाग के आरम्भ में पिछले प्रकरण की समाप्ति करते हुए फिर कहा है (१०३ में) कि आपत्काल में (स्त्री के लिए) सन्तान की प्राप्ति कही है। इसलिए नियोग मनु का निःसन्देह अभिमत विषय है। जो व्यवस्था मिताक्षरा में की है। कि नियोग है ठीक, पर वह वाग्दत्ता का पति मरने पर होता है, यह आचार विरुद्ध है। वाग्दत्ता का पति मरने पर तो विवाह देते हैं, नियोग नहीं होता, किञ्च आगे ९७ में कहेंगे, कि जिसका शुल्क दिया गया है, ऐसी वाग्दत्ता का पति मर जाए, तो वह देवर को विवाह दीजाए, पर यदि कन्या मानले। सो जब मूल्य दीहुई, वाग्दत्ता को भी धक्के से देवर के साथ विवाह देना मनु को अभिमत नहीं, तो ऐसी वाग्दत्ता जो पुण्य की गई है, न कि बेची गई, भला उसका धक्के से (न कि उसकी इच्छा से) वह भी नियोग (न कि विवाह) मनुको कब अभिमत होसका है। इसलिए 'वाचा सत्ये कृते, से वाग्दत्ता अभिप्रेत नहीं। किन्तु विवाह की प्रतिज्ञाओं से अभिप्राय है। और कन्या से अक्षता अभिप्रेत है। अर्थात् यदि विवाह मात्र हुआ हो, और कन्या अक्षता हो, तो उसको उसका देवर उक्त विधि से विवाह सका है।

अस्तु जब नियोग विहित है, तो फिर ६४ से ६८ तक निषेध क्यों। सम्भावित तो है, कि यह श्लोक प्रक्षिप्त हों, पर इतने पुराने अवश्य हैं, कि विक्रमादित्य के समय में थे, क्योंकि मिताक्षरा में इन पर विचार है, और उस से भी बहुत पहले वृहस्पति स्मृति के समय में भी थे, क्योंकि उसमें भी इनकी चर्चा है। सो यदि असला ही माने जाएं, तो इसकी व्यवस्था जैसी बृहस्पति ने की है, वही ठीक होगी, जैसा कि कुल्लू० ने ६८ की टीका में उद्धृत किया है, उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुं मन्यैर्विधानतः = मुनि ने नियोग कहा है, और आपही निषेध किया है, क्योंकि युग के क्रम से अब और लोगों से विधि अनुसार

करता था ॥ ६६ ॥ वह सारी पृथिवी का पालन करता हुआ राजऋषियों में मुखिया, काम से नष्ट बुद्धि होकर वर्ण संकर करता भया ॥ ६७ ॥ तब से लेकर जो कोई पुरुष मोह से मरे पति वाली स्त्री को सन्तान के लिए नियुक्त करता है, उस को भले पुरुष निन्दते हैं ॥ ६८ ॥ जिस कन्या का वाणी से सत्य किया जाने पर पति मरजाए, उसको इस विधि से अपना देवर विवाहे ॥ ६९ ॥ (देवर) विधि अनुसार इसे स्वीकार करके श्वेत वस्त्रों वाली पवित्र व्रतों वाली को गर्भ ग्रहण तक ऋतु २ में एक २ बार एकान्त में गमन करे ॥ ७० ॥

न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।
दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥
विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मनाचोपपादिताम् ॥७२॥
यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।
तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥७३॥
विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः ।
अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥७४॥

कन्या किसी एक को देकर बुद्धिमान् फिर किसी दूसरे को न दे, क्योंकि देकर फिर देता हुआ पुरुष के विषय में झूठ (के अप-

किया नहीं जासक्ता। अर्थात् अब वह समय नहीं रहा, कि केवल आज्ञा मानकर प्रवृत्ति हो, नियुक्त स्त्री पुरुषों में राग का लेश कभी उत्पन्न न हो, इसलिए निषेध किया है ताकि नियोग उच्च उद्देश्य से नची ने गिर जाए ॥

राध सहस्रपण दण्ड *) को प्राप्त होता है † ॥ ७१ ॥ विधि अनुसार ग्रहण करके भी कन्या का त्यागकर सक्ता है, यदि वह निन्दित हो ‡ रोगिणी हो, (किसी पुरुष से) दूषित हो चुकी हो, वा धोखे से दीगई हो § ॥ ७२ ॥ जो दोषवाली कन्याको बिन बतलाए दे देवे, उस दुरात्मा कन्यादाता के उस (दान) को निष्फल कर देवे ¶ ॥ ७३ ॥ काम पड़ने पर पुरुष अपनी पत्नी की जीविका (का प्रबन्ध) करके परदेश जाए, क्योंकि जीविका के अभाव से तंग हुई स्त्री शीलवाली भी बिगड़ जाती है

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियम मास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥७५॥

जीविका देकर पति परदेश जावे, तो नियमों के आश्रित रहे, (शरीर की सजावट, मेले में जाना, वा पर घर जाना आदि न करे) यदि जीविका न देकर परदेश जाए, तो दोष शून्य दस्तकारियों से जीविका करे ‖ ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरःसमाः ।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तुवत्सरान् ॥७६

धर्म कार्य के लिए परदेश गये पुरुष की आठ वर्ष, विद्या (प्राप्ति) और यश (विद्यादान वा विजय) के लिए छः वर्ष, और उपभोग (सैर आदि) के लिये तीन वर्ष (स्त्री) प्रतीक्षा करे **

---

* देखो पूर्व ८।९८ † याज्ञ० १। ६५ विष्णु० २५।९—१० ‡ दुष्कुलीना § फुलबहरी आदि दोष ढांप कर दीगई हो ¶ देखो पूर्व ८। २०५, २२४ ‖ याज्ञ० १।८४।

** वासि० १७।७५—८० गौत० १८।१५, १७। इतने २ वर्ष प्रतीक्षा करके फिर क्या करे, यह यहां कुछ नहीं कहा। कुल्लू०

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥७७॥
अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्त्तमेव वा ।
सा त्रीन्मासान्परित्याज्या सविभूषणपरिच्छदा ॥७८॥

द्वेष करती हुई स्त्री की पति एक वर्ष प्रतीक्षा करे वर्ष के पीछे दिया (भूषण आदि) लेकर इसे साथ न बसाए (अलग करके अन्न वस्त्र देता रहे) ॥ ७७ ॥ जो स्त्री प्रमादी (जुए आदि में लगे), शराबी, रोग पीड़ित पति को उलांघे *, उसे भूषण और शय्यादि से रहित करके तीन महीने त्याग देना चाहिए ॥७८॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्त्तनम् ७९
मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या हिंसार्थघ्नी च सर्वदा॥८०॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥८१॥

हां पागल, पतित, नपुंसक, बीजसे रहित, और पाप रोगी से द्वेष करती हुई का न त्याग हो, न दिये (भूषण आदि) का

राघ०, कहते हैं, फिर पति के पास चली जाए। नन्दन कहता है, कि इस अवधि के पीछे दूसरा पति कर लेने में दोष नहीं है, यह अभिप्राय है, और जो मरे पति वालियों के लिये ब्रह्मचर्य बतलाया है। वह बहुत बढिया फल चाहने वालियों के लिये है, दूसरियों के लिये नहीं, इस लिए उस से इस बचन का विरोध नहीं ॥

* उलांघना=अपमान करना, वा पथ्य औषध आदि न करना ।

छीनना हो ॥ ७९ ॥ मद्य पीनेवाली, खोटे आचार वाली और जो (पति के) प्रतिकूल हो, सदा रोगिणी हो, (नौकरों और बच्चों को) ताड़नेवाली, और धन के नाश करनेवाली हो, इन पर दूसरी विवाह ले ॥ ८० ॥ पहली स्त्री बांझ हो, तो आठवें वर्ष, बच्चे मर जाते हों, तो दसवें वर्ष, निरी कन्याएं जने, तो ग्यारहवें वर्ष, अप्रिय वादिनी हो तो बहुत ही जल्दी दूसरी विवाह ले

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ।
सानुज्ञाप्याऽधि वेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥८२
अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ॥८३

जो रोगिणी हो, पर पति के अनुकूल हो, और शीलवाली हो, उससे अनुज्ञा लेकर उस पर दूसरी विवाहे, और कभी उसका अपमान न करे ॥ ८२ ॥ जिस पर विवाह हुआ है वह स्त्री यदि रूठकर घर से निकल जाए, तो उसे उसी समय (जबरदस्ती) रोक लेना चाहिए, वा उसे उसके पिता आदि के पास छोड़ देना चाहिए ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥८४
यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥८५॥

(पति आदि से) मना की हुई भी जो स्त्री (विवाह आदि) उत्सवों में भी मद्य पीवे, वा मेले तमाशे में जावे, उसको राजा छः

रत्ती दण्ड देवे ॥ ८४ ॥ यदि द्विज अपनी और दूसरी (अपने वर्ण की और निचले वर्ण की) स्त्रियों को विवाहें, तो उन का बड़प्पन, आदर सत्कार, और घर वर्ण क्रम से हों ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यिकम् ।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नाऽस्वजातिः कथंचन ॥८६॥
यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया ।
यथा ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

पति की शरीर सेवा * और नित्य का धर्म-कार्य (अग्निहोत्र अतिथि सेवादि) सब (वर्णों) की सजातीया ही करे, विजातीया कभी नहीं † ॥ ८६ ॥ जो फिर सजातीया की स्थिति में दूसरी से यह (कर्म) करवाए, वह बड़ों से ऐसा माना गया है, जैसे ब्राह्मण चाण्डाल (ब्राह्मणीसे शूद्र का पुत्र)होता है ‡ ।८७॥

उत्कृष्टायाऽभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि॥८८॥
काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९ ॥
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥९०॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥९१

* पति के लिये रोटी पकाना लाना आदि (मेधा०, कुल्लू०, राघ०) † याज्ञ० १ । ८८ विष्णु० २६ । १ ‡ विष्णु० २६ । २ ।

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥९२॥
पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।
सहि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥९३॥
त्रिंशद्वर्षोवहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

(जो गुणों से) उत्कृष्ट, सुन्दर, सजातीय हो, ऐसे वर को न पहुंचती हुई भी * कन्या यथाविधि दे देवे †॥८८॥ चाहे कन्या ऋतुवाली होकर भी मरण पर्यन्त घर में रहे, पर इसे गुणहीन को कभी न दे ॥ ८९ ॥ (पिता से न दीहुई) कन्या ऋतुमती होकर भी तीन वर्ष प्रतीक्षा करे। इस समय से पीछे अपने तुल्य पति को स्वयं वरले ॥ ९० ॥ (पिता आदि से) न दी हुई यदि स्वयं पति को पाले, तो उसे कोई दोष नहीं होता, न उसको, जिस को वह वरती है ॥९१॥ किन्तु यह स्वयंवर वरने वाली कन्या पिता, माता, भाई से दिए हुए अलंकार को न लेजाए, यदि उसको लेजाए, तो यह चोरिणी ‡ होगी ॥९२॥ (इधर वर भी) ऋतुवाली कन्या को लेता हुआ उसके पिता को कुछ शुल्क न दे,

---

* विवाह के अयोग्य आयुवाली भी (मेधा०) अथवा माता की छः पीढी में से हों तो भी इत्यादि । † ८८-९२ वासि० १७। ६९-७१ गौत० १८।२०-२३ बौधा० ४।१।११—१४ याज्ञ० १।६४ विष्णु० २४।४०—४१ ‡ मेधा०, नन्द के अनुसार ' स्तेयं '=चोरी पाठ, पढ़ है। कुल्लू०, नारा०, राघ० ' स्तेना ' पढ़ते हैं । अर्थात् वह चोरिणी होगी, मेधा० ' स्तेनः ' वर चोर होगा, पाठान्तर भी देता है।

क्योंकि ऋतुओं के रोकने से वह (पिता) स्वामित्व से अलग होचुका है*॥९३॥ जब धर्म (पालने में) हानि पहुंचती हो, तो जल्दी करता हुआ † तीस वर्ष का पुरुष बारह बरस की सुन्दरी को और चौबीस वर्ष का आठ वर्ष की (सुन्दरी) को विवाह ले॥ ९४॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥९५

पति देवताओं से ‡ दी स्त्री को पाता है, न कि (निरा) अपनी इच्छा अनुसार, सो देवताओं का प्रिय आचरण करते हुए उसको सदा उस सती का पालन करना चाहिए ॥ ९५ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥
कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः ।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥
आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत् ।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥९८॥

---

* 'केचिदाहुरमानवोऽयं श्लोकः' = कई कहते हैं यह श्लोक मनु का नहीं है, (मेधा०) † जब ब्रह्मचर्य समाप्त कर स्नान कर चुका है, तो गृहस्थाश्रम के प्रति बिलम्ब न करे, क्योंकि ब्रह्मचारी के धर्म समाप्त कर चुका है, और गृहस्थ के धर्म गृहाश्रम के बिना नहीं कर सकेगा और अनाश्रमी रहना नहीं चाहिये (कुल्लू०, नारा०, राघ०) ‡भगोऽर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः, इत्यादि से कहे भग, अर्यमा सविता आदि देवताओं से (कुल्लू०, राघ०) 'रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्' = इसके अनुसार-देवता से = अग्नि से (नारा०) सोम, गन्धर्व और अग्नि से (मेधा० नन्द०)।

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरऽन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥
नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥१००॥

गर्भ ग्रहण के लिए स्त्रियें रची हैं, और गर्भ धारण के लिए पुरुष, इसलिए (गर्भोत्पादन की तरह अग्न्याधानादि भी पुरुष का) धर्म श्रुति में पत्नी के साथ कहा है ॥ ९६ ॥ कन्या का शुल्क देकर यदि शुल्क देने वाला मरजाए, तो वह देवर को दे देनी चाहिए, यदि कन्या स्वीकार करले ॥ ९७ ॥ शूद्र भी कन्या देता हुआ शुल्क न लेवे, क्योंकि शुल्क ग्रहण करता हुआ कन्या की गुप्त बिक्री करता है ॥ ९८ ॥ यह (काम) न पहले भले पुरुष करते रहे, न अबके करते हैं, कि एक के लिए प्रतिज्ञा करके फिर दूसरे को दीजाए ॥ ९९ ॥ पहली सृष्टियों में भी यह नहीं सुना है, कि शुल्क नामवाले मूल्य से कन्याओं का गुप्त विक्रय हुआ हो ॥ १०० ॥

अन्योन्यास्याऽव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री पुंसयोः परः ॥१०१॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्ता वितरेतरम् ॥१०२॥
एष स्त्री पुंसयो रुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

मरण पर्यन्त (पति पत्नी का) परस्पर व्यभिचार नहीं

हो, यह संक्षेप से स्त्री पुरुषका परमधर्म जानना चाहिए ॥१०१॥ विवाह करके स्त्री पुरुष सदा वैसा यत्न करे, कि वियुक्त होकर एक दूसरे से व्यभिचारी न हों ॥ १०२ ॥ यह स्त्री पुरुष का प्रेम भरा धर्म और आपत्काल में (नियोग से) सन्तान की प्राप्ति बतलादी है, अब दायभाग जानो ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥१०४॥
ज्येष्ठएव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥
ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥१०६॥
यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
सएव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥
पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठोभ्रातॄन् यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्त्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः॥१०९॥
योज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेवसपितेवसः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्ससंपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥
एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥१११॥

पिता माता के पीछे * मिलकर भाई, माता पिता के धन को एक जैसा बांटें, क्योंकि उन दोनों के जीते हुए वह (उन के धनों के) मालिक नहीं हैं ॥ १०४ ॥ अथवा बड़ा ही पिता के सारे धन को लेलेवे † दूसरे उसके आश्रित रहें, जैसे पिता के (आश्रित थे) ‡ ॥ १०५ ॥ बड़े के उत्पन्न होने मात्र से ही पुरुष पुत्रवाला बन जाता है, और पितरों का उऋण होजाता है, इससे वह (बड़ा) सारे के योग्य है ॥ १०६ ॥ जिसके होने पर (पितृ-) ऋण को चुकाता है,और जिससे अमृतत्व को भोगता है § वही धर्म से उत्पन्न हुआ पुत्र है, दूसरों को काम से उत्पन्न हुआ जानते हैं ॥ १०७ ॥ पिता की तरह बड़ा छोटे भाइयों को पुत्र की तरह पालन करे, और वह भी बड़े भाई के प्रति पुत्र की तरह धर्म से वर्ते ॥ १०८ ॥ बड़ा कुल को बढ़ाता है, बड़ा ही नाश करता है, (सो गुणवान्) बड़ा लोक में पूज्यतम है बड़ा श्रेष्ठों से अनिन्दित होता है ॥ १०९ ॥ जो बड़ा बड़ों के से बर्ताव वाला हो ¶ वह माता के तुल्य है, वह पिता के तुल्य है, पर जो बड़ों के से बर्ताव वाला नहीं, वह बन्धुवत् पूजनीय है ‖ ॥ ११० ॥ इसप्रकार इकट्ठे बसें, वा धर्म की इच्छा से अलग अलग बसें, क्योंकि धर्म अलग २ बढ़ता है इसलिए अलग होना धर्म युक्त है **॥ १११ ॥

---

* पिता के मरने पीछे पिता के धन को, माता के मरने पीछे माता के धन को † यदि वह धार्मिक है (कुल्लू० राघ०) ‡ गौत० २८। ३ बौधा० २। ३। १३ § पुत्रवाले को ही मोक्ष का अधिकार है, मिलाओ वा १७।१ विष्णु २५।४५ ¶ अर्थात् पिता का सा बर्ताव करे। चाचे, मामे, आदि की तरह उसका अभिवादन और प्रत्युत्थान आदि करें ‖ अलग २ अग्निहोत्र और अतिथि पूजा आदि होने से धर्म अधिक होता है ** गौत० २८। ४ ॥

ज्येष्ठस्य विंशउद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥११२॥
ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्येज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमंधनम् ॥११३
सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४
उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५
एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान् प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥११६॥
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७

(जायदाद में से) बीसवां भाग और सब वस्तुओं में से जो श्रेष्ठ वस्तु हो, यह दो सब से बड़े लड़के का उद्धार (हिस्से से अलग भेंट) हो, इससे आधा (चालीसवां भाग) मंझले का हो, और चौथाई (अस्सीवां भाग) सब से छोटे का हो, (शेष सब बराबर बांट लें) * ॥ ११२ ॥ (तीन से अधिक भाई हों तो) सब से बड़ा और सब से छोटा पूर्व कहे अनुसार लेवे, जो ज्येष्ठ कनिष्ठ से भिन्न हैं, उन सब का मंझले वाला (चालीसवां

---

* गौत० २८।५-७ बौधा २।३।९ विष्णु १८।३७ याज्ञ २।११४ मेधातिथि कहता है, कई इस नियम का बर्ताव पिछले युगों में मानते हैं, पर कलियुग में विषम विभाग न होकर बराबर२विभाग ही होने चाहियें

भाग उद्धार) हो ॥ ११३ ॥ सब प्रकार के धनों में जो श्रेष्ठ धन है उसको बड़ा लेलेवे, और जो बहुत बढ़िया वस्तु है, उस को भी, और दस से * एक श्रेष्ठ लेलेवे, (यह नियम यदि बड़ा गुण वाला और दूसरे निर्गुण हों उस विषय में है। सब तुल्य गुणों वाले हों, तो) † ॥११४॥ जो यह दस पीछे उद्धार कहा है, यह यदि अपने कर्तव्यों में सभी एक जैसे सावधान हों, तो नहीं होता, किन्तु मान बढ़ाने के लिये यत्किञ्चित वस्तु बड़े के प्रति देनी चाहिये ‡ ॥ ११५ ॥ इसप्रकार उद्धार के निकलजाने पर फिर बराबर२ भाग करें, यदि उद्धार न निकाला जाए, तो फिर इन (भाइयों)की भाग कल्पना यह हो §॥११६॥ ज्येष्ठ पुत्र एक अधिक भाग लेवे (अर्थात् दो भाग लेवे) उससे छोटा डेढ़ भाग, उससे छोटे सब एक२ भाग यह धर्म मर्यादा है॥

स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८
अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९
यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।
समस्तत्र विभागःस्यादिति धर्मोव्यवस्थितः ॥१२०
उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१

---

* गौत २८।१२ के अनुसार दश पशुओं में से एक पशु लेवे (कुल्लू, नारा० राघ) † गौत २८।११-१३ बौधा २।३।६ ‡ आप० २।१३।१३ § गौत २८।८ ¶ गौत २८।९-१० वासि १७।४२

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
कथं तत्र विभागः स्यादितिचेत्संशयो भवेत् ॥१२२॥
एकं वृषभ मुद्धारं संहरेत सपूर्वजः ।
ततोऽपरेज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

भाई अपने भागों में से चौथा भाग अलग २ बहिनों को देवें*, न देना चाहते हुए पतित होंगे † ॥ १०८ ॥ भेड़ बकरी और एक खुर वाले (घोड़े आदि) विषम (न बराबर=बराबर बांट कर बचे) को कभी न बांटें ‡, किन्तु जो विषम भेड़बकरी आदि है, वह बड़े का ही विधान किया है ॥ ११९ ॥ छोटा भाई यदि बड़े भाई की स्त्री में से (नियोग विधि से) पुत्र उत्पन्न करे, वहां (चचा के साथ क्षेत्रज का) विभाग सम हो § (बड़े भाई को उद्धार मिलना था, वह अब चचा से भतीजा नहीं पाए) यह धर्म व्यवस्था है ॥ १२० ॥ अप्रधान (क्षेत्रज पुत्र) प्रधान के धर्म (बड़े को दिये जाने वाले उद्धार) से युक्त नहीं होता,इसलिये पूर्व कही मर्यादा से उसको भाग देवे क्योंकि उत्पन्न

---

* 'अलग २ बहिनों को देवें' अर्थात् जब भिन्न २ वर्ण की स्त्रियों में से पुत्र हों, तो उनमें से हरएक अपने २ वर्ण की बहिन को अपने भाग का चौथा हिस्सा देवे, ब्राह्मण ब्राह्मणी की कन्या को, क्षत्रिय क्षत्रिय कन्या को। पर यह भाग अविवाहिताओं को मिलता है, विवाहिताओं को नहीं (टीकाकार) † याज्ञ २।१२४ विष्णु १८।३५ ‡ अर्थात् बेंचकर वा उसका मूल्य डालकर न बांटें (मेधा० कुल्लू० नारा० राघ०) § इससे यह भी सिद्ध होता है, कि पोते का भी दादा के धन में पितृव्यों की तरह भाग है, यद्यपि

करने में पिता प्रधान होता है * ॥ १२१ ॥ यदि बड़ी (पहिले विवाही) में से पुत्र छोटा हो, और छोटी (पीछे विवाही) में से बड़ा हो, तो वहां किस प्रकार विभाग होना चाहिये (क्या माता के विवाह क्रम से पुत्र का बड़प्पन हो, वा जन्म क्रम से) यह संशय हो तो ॥ १२२ ॥ पहली में उत्पन्न हुआ वह (छोटा) एक बैल उद्धार लेवे, उस (बैल) से भिन्न जो अच्छे बैल हैं, वह अपनी माता (के क्रम) से उससे छोटों के होते हैं (अर्थात् माता के विवाह के क्रम से बड़प्पन होता है) † ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद् वृषभषोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥१२४॥

पर यदि बड़ी में से उत्पन्न हुआ (आयु में भी) सब से बड़ा हो, तो वह पन्द्रह गौएं और एक सांड लेवे, तब शेष (पुत्र) अपनी माता के (विवाह के) क्रम से बांटें, यह निश्चय है ॥१२४॥

सदृश स्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतोज्यैष्ठयमस्ति जन्मतोज्यैष्ठयमुच्यते ॥१२५
जन्म ज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥१२६॥

---

१०४ में 'भाई मिलकर बांटें' कहा है * यदि कहो, कि बड़े भाई का पुत्र होने से बड़े का स्वत्व उद्धार भी इसको मिलना चाहिये, तो उत्तर यह है पिता प्रधान ठीक है, पर यदि स्वयं पुत्र को उत्पन्न करे। किन्तु उस पुत्र के लिये उसकी प्रधानता नहीं होसकी, जो क्षेत्रज है। † १२३-१२४ गौत २८।१४-१५। इन दो (१२३—१२४) श्लोकों में पहिले पीछे विवाहियों से अभिप्राय स्वजाति और

समान जाति की बहुतसी स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्रों का बिना किसी अपने विशेष के माता से बड़प्पन नहीं है, जन्म से बड़प्पन कहा जाता है ॥ १२५ ॥ सुब्रह्मण्या * में भी जन्म से बड़े के द्वारा (इन्द्र का) आव्हान बतलाया है, और सभी गर्भों में जोड़े उत्पन्न हुए दो पुत्रों में जन्म से बड़प्पन कहा है † ॥१२६॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥१२७॥

जिसके पुत्र न हो, वह अपनी कन्या को (विवाहने के समय) इस विधि से पुत्रिका बनाए, कि (जामाता को कहे) जो सन्तान इसमें से हो, वह मेरा स्वधा (पिण्ड श्राद्ध) करने वाला हो ※॥

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥१२८॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥१२९॥

अन्यजाति की स्त्रियों से है * ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'सुब्रह्मण्योम् इन्द्रागच्छ' इत्यादि (ऐत० ब्रा० ६।३ के) सुब्रह्मण्या निगद द्वारा जब इन्द्र का आव्हान किया जाता है, तो यजमान का नाम उसके बड़े पुत्र के पिता के तौर पर लिया जाता है, 'अमुकस्य पिता यजते'। यहां उस बड़े का नाम लिया जाता है, जो जन्म से बड़ा है, चाहे पहिली विवाही का पुत्र हो, वा पीछे विवाही का, हां सवर्णा में से हो † जोड़े भाइयों में यद्यपि पीछे जन्मने वाला पहिले निषिक्त हुआ था, तथापि जन्म से बड़ा ही बड़ा होता है। सो जब माता के वर्ण से बड़ाई छुटाई किसी में न हो, तब सवर्णा में से जन्म से बड़ा ही बड़ा होता है।

※ वासि० १७। १७ गौत० २८।१८ बौधा० २।३।१५ विष्णु० १५।५

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥१३०॥

इस विधि से पहिले स्वयं दक्षप्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिये पुत्रिकाएं की हैं ॥ १२८ ॥ उसने प्रसन्न होकर सत्कार करके दस धर्म को दीं, तेरह कश्यप को, और सत्ताईस राजा चन्द्र को ॥१२९॥ जैसा अपना आप है वैसा पुत्र है, और कन्या पुत्र के तुल्य है, उस अपने आप (पुत्रिका बनाई कन्या) के होते हुए कैसे कोई और (अपुत्र मरे पिता के) धन को लेवे *

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्रएव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१॥
दौहित्रोह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
सएव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥१३२
पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

माता का जो धन है, वह कंवारियों का ही भाग होता है, और अपुत्र के सारे धन को दोहता † ही लेवे ‡ ॥ १३१ ॥ दोहता ही अपुत्र पिता का सारा धन लेवे § वही दो पिण्ड देवे, एक पिता को, दूसरा नाना को ॥ १३२ ॥ पोते और दोहते का लोक में धर्म से¶ कोई भेद नहीं है, क्योंकि

* यहां सब टीकाकार कन्या से पुत्रिका बनाई हुई कन्या लेते हैं, क्योंकि प्रकरण उसी का है †दोहता=पुत्रिका का पुत्र ‡ गौत० २८ । २४ विष्णु० १७।२१ § दोहता=पुत्रिका का पुत्र, यदि उसका और भाई न हो, तो वही अपने अपुत्र पिता का और वही नाना का धन लेवे, और दोनों को पिण्ड देवे (कुल्लू०) ¶ धर्म से, न्याय से, (राघ० नन्द०) धर्म कार्य=पिण्ड दानादि में (कुल्लू०)

इन दोनों के माता पिता उसके शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्रविभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियः ॥ १३४ ॥
अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाऽविचारयन् ॥ १३५ ॥
अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

पुत्रिका करने पर यदि पीछे (पिता के घर) पुत्र होजाए, वहां दोनों का विभाग बराबर हो, (बड़े को देने योग्य उद्धार पुत्रिका को न दिया जाए) क्योंकि कन्या की ज्येष्ठता नहीं होती है ॥ १३४ ॥ पुत्रिका यदि बिना पुत्र के मरजाए, तब उसके धन को भर्त्ता ही * बिना विचारे ग्रहण करे ॥ १३५ ॥ (पुत्रिका) कीहुई वा न कीहुई भी † जिस पुत्र को अपने सदृश (पति से) पावे; उससे नाना पुत्र वाला होता है, वह ही पिण्ड देवे और धन लेवे ॥ १३६ ॥

याज्ञ० २ । १२८ * न कि वक्ष्यमाण १८५ के अनुसार मरने वाले के भाई † (मेधा०, कुल्लू०, राघ०) का अर्थ यह है, पुत्रिका दो प्रकार की होती है, कीहुई अर्थात् कन्यादानकाल में वर की अनुमति से पुत्रिका कीहुई, और न की हुई अर्थात् वर की अनुमति से न की हुई, किन्तु अपने मन में कीहुई, क्योंकि ऐसी भी पुत्रिका होती है, जैसाकि गौत० २८।२० में कहा है । अतएव विवाह प्रकरण में जिस का भाई न हो, उसके विषय में लिखा है ' पुत्रिका धर्मशंकया '। गोवि० और नन्द० यह सीधा अर्थ लेते हैं, कि पुत्रिका कीहुई, वा न कीहुई । पुत्रिका न की कन्या के पुत्र से भी पिता पुत्र वाला हो, वही सन्तान नाना को पिण्ड देवे और उसका धन लेलेवे ।

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥१३७॥
पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१३८॥
पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत ॥१३९॥
मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः॥१४०॥

पुत्र (के होने) से लोकों * को जीतता है, पोते से अनन्तता को प्राप्त होता है, † और पुत्र के पोते से सूर्यलोक को प्राप्त होता है ‡ ॥१३७॥ पुत्र जिसलिए पुत् नामी नरक से पिता को बचाता है, इसलिये स्वयं ब्रह्मा ने(उसे) पुत्र कहा है § ॥१३८॥ पोते और दोहते ¶ का लोक में कोई विशेष नहीं है, क्योंकि दोहता भी पोते की तरह इसको (नाने को) नरक से बचाता है ॥१३९॥ पुत्रिका का पुत्र पहला पिण्ड माता को दे, दूसरा उसके (माता के) पिता को, तीसरा उसके पिता के पिता को‖ ॥१४०

* स्वर्गादि दस लोक जो विशोक (शोक से रहित) हैं (मेधा०)
† अर्थात् उन्हीं लोकों में चिरकाल रहता है, (मेधा०, कुल्लू०) ‡ दायभाग प्रकरण में ऐसा कहने का यह अभिप्राय है, कि पिता के धन में पुत्र का अधिकार है, चाहे उसकी पत्नी आदि भी हो। पुत्र के अभाव में पोते का, पोते के अभाव में प्रपोते का, (कुल्लू०) वासि० १७ । ५ याज्ञ० १ । ७८ विष्णु० १५ । ४६ § विष्णु० १५। ४४ ¶ पुत्रिका के पुत्र दोहते का (मेधा०, कुल्लू०) ‖ बौधा० २ । ३ । १६ ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दात्रिमः ।
स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥
गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दात्रिमः क्वचित् ।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥
अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात् ।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातक कामजौ॥१४३॥
नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः ।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितोहि सः ॥१४४॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥
धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥
याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् ।
तं कामजमऽरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

जिस का दत्तक पुत्र सारे गुणों से युक्त है वह दूसरे गोत्र से आया भी उस (पिता) के धन को अवश्य लेवे * ॥ १४१ ॥ दत्तक पुत्र उत्पन्न करनेवाले (पिता) का गोत्र (नाम) और

---

* वासि० १५। ९-१० दत्तक=जिसको माता पिता ने दे दिया है। धन के अधिकारी मुख्यतया औरस और क्षेत्रज हैं, उनके अभाव में दत्तक आदि अधिकारी होते हैं, यह (१६१ में) कहेंगे। पर इस श्लोक का यह तात्पर्य है, कि औरस के होते हुए भी यदि दत्तक पुत्र, पुत्र के सारे गुणों से युक्त है, तो उसे भाग मिलना चाहिए,

धन कभी न लेवे, और देनेवाले (पिता) का (उस पुत्र द्वारा) पिण्ड और श्राद्ध निवृत्त होजाता है क्योंकि वह गोत्र और धन का अनुगामी है (जिसका गोत्र और धन लेवे, उसी को पिण्ड और श्राद्ध देना होता है) ॥१४२॥ (बड़ों से) नियुक्त न की हुई का पुत्र, और पुत्रवाली ने देवर से पाया पुत्र, वह दोनों भाग के योग्य नहीं होते, क्योंकि पहला जार से उत्पन्न हुआ है, और दूसरा काम से उत्पन्न हुआ है ॥ १४३ ॥ नियुक्ता नारी में से भी जो पुरुष बिना विधि † के उत्पन्न हुआ है, वह पिता के धन के योग्य नहीं होता, क्योंकि वह पतित से उत्पन्न किया गया है ॥ १४४ ॥ नियुक्ता में उत्पन्न हुआ पुत्र औरस की तरह (धन) लेवे, जिसलिए वह क्षेत्रवाले का बीज है, ❋ और उसी का धर्म से सन्तान है § ॥ १४५ ॥ जो मरे भाई के धन की रक्षा और उसकी स्त्री का पोषण करे, वह (नियोग धर्म से) भाई के सन्तान उत्पन्न करके उसी को उसका धन देवे ¶ ॥ १४६ ॥ जो नियुक्त हुई देवर से वा अन्य से पुत्र उत्पन्न करे, पर यदि वह काम से उत्पन्न हुआ है, तो उसे धन का अनधिकारी वृथा उत्पन्न हुआ कहते हैं ‖ ॥ १४७ ॥

(मेधा०, कुल्लू०) † विधि=घृत मलकर जाना आदि। देखो पूर्व ६० ❋ क्योंकि क्षेत्रवाले के लिए वह बीज डाला गया है § १२० में तो क्षेत्रज का चचा के साथ सम भाग कहा है, यहां औरस के तुल्य कहने से गुणवाले क्षेत्रज को अपने पिता के बड़प्पन का उद्धार भी मिलना चाहिए, (मेधा०, कुल्लू०) ¶ यह नियम वहां लगता है, जब दोनों भाई अलग २ हो चुके हों, पूर्व १२० वाला वहां लगता है, जब वह अभी इकट्ठे हों ‖ नियुक्त को मुख से मुख वा छाती आदि से छाती आदि नहीं मिलाने चाहियें, यदि वह ऐसा करें, तो उनका पुत्र कामज होगा ॥

एताद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥१४८॥
ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिःस्मृतः ॥१४९॥
कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च ।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

एक जाति की स्त्रियों में से एक (भर्त्ता) से उत्पन्न हुए पुत्रों के विभाग की यह विधि जाननी चाहिए, अब नाना जाति की बहुत सी स्त्रियों में से एक से उत्पन्न हुए पुत्रों के विभाग की विधि जानो ॥ १४८ ॥ ब्राह्मण की क्रम से यदि चारों स्त्रियें हों, तो उनके उत्पन्न हुए पुत्रों के विषय में विभाग की यह विधि कही है * ॥ १४९ ॥ खेती करनेवाला (दास), गौओं के लिए रक्खा सांण्ड, यान, भूषण † और घर, और (हिस्सों में से) एक प्रधान हिस्सा ‡ ब्राह्मण को उद्धारतया देना चाहिए

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः ।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥
सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।

* १४९-१५६ वासि० १७ । ४८-५० गौत० २८। ३५-३९ बौधा० २।३ । १० याज्ञ० २।१२५ विष्णु० १८।१-३३, ३८-४० † यान = गाडी (मेधा०) घोड़ा आदि (कुल्लू०) भूषण = अंगूठी आदि जो उसके पिता का हो, (मेधा० कुल्लू०, राघ०) ‡ जितने हिस्से हैं उनमें से एक प्रधान हिस्सा (कुल्लू०) प्रधान द्रव्य में से एक हिस्सा (जो आगे तीन हिस्से कहने हैं, उन हिस्सों के बराबर का हिस्सा)

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित्॥१५२॥
चतुरोंशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५३॥
यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपिवाभवेत्।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः॥ १५४॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥१५५

(शेष) धन में से ब्राह्मणी का पुत्र तीन हिस्से लेवे, क्षत्रिया का दो हिस्से, वैश्या का डेढ़ हिस्सा, और शूद्रा का पुत्र एक हिस्सा लेवे ॥ १५१॥ अथवा सारे धन के दस हिस्से कल्पना करके मर्यादा का जाननेवाला इस विधि से धर्म युक्त विभाग करे॥ १५२॥ चार हिस्से ब्राह्मण लेवे, तीन हिस्से क्षत्रिया का पुत्र, दो हिस्से वैश्या का पुत्र, एक हिस्सा शूद्रा का पुत्र लेवे ॥ १५३ ॥ यद्यपि और पुत्र उसके विद्यमान हों, वा और पुत्र न हों, पर शूद्रा के पुत्र को दसवें से अधिक धर्म से न दे,॥ १५४॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का धन भागी शूद्रा का पुत्र नहीं होता, जो इसको पिता दे, वही इसका धन हो§

(नारा०) § पूर्व दसवां भाग कहा, यहां निषेध किया, यह गुणी और गुणहीन पुत्र की अपेक्षा से है, अथवा न विवाही शूद्रा में से पुत्र के विषय में है (कुल्लू०) यह दसवें से अधिक जो पिता ने दिया है, उससे अभिप्राय है, अर्थात् भाई उसको दसवां हिस्सा दें, और जो पिता ने दिया हो, वह भी उसके पास रहे,'धन भागी नहीं' का अर्थ है, 'दसवें से अधिक धन का भागी नहीं' (नारा०)॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।
उद्धारं ज्यायसे दत्वा भजेरन्नितरे समम् ॥१५६॥
शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतंभवेत् ॥१५७

द्विजातियों के समान जाति की स्त्रियों में जो पुत्र हुए हों, वह सारे बड़े को उद्धार देकर दूसरे (फिर बड़े के साथ) बराबर बांट लेवें ॥ १५६ ॥ शूद्र की अपने वर्ण की ही भार्या कही है दूसरी नहीं उसमें उत्पन्न हुए बराबर हिस्सोंवाले होते हैं, चाहे सौ पुत्र भी हों ॥ १५७ ॥

पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः ।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥१५८॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥१५९॥

स्वायम्भुव मनु ने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं, उनमें से छः बान्धव और दायभागी हैं, छः दायभागी न होकर बान्धव हैं * ॥ १५८ ॥ औरस (असली पुत्र) क्षेत्रज (नियोगज) दत्तक (माता पिता से दिया हुआ) कृत्रिम (आप बनाया हुआ) गूढोत्पन्न (गुप्त उत्पन्न हुआ) अपविद्ध (त्यागा हुआ पाला गया) यह छः बान्धव हैं और दायभागी हैं ॥ १५९ ॥

---

* १५८-१५९ वासि० १७। २५-३८ गौत० २८। ३१-३६ बौधा० २। ३। ३१-३२ अदायाद बान्धव=न दायभागी न बान्धव (मेधा०) दायभागी न होकर बान्धव होते हैं, क्योंकि बौधायन ने उनका बान्धव होना माना है। बान्धव होने से उनका उदकदान का अधि-

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतःपौनर्भवस्तथा ।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीन (कंवारी का पुत्र) सहोढ़ (गर्भ में विवाह के साथ आया) क्रीत (खरीदा हुआ) पौनर्भव (विधवा विवाही का पुत्र) स्वयंदत्त (अपने आप आकर पुत्र बना) शौद्र (विवाही शूद्रा में से पुत्र) यह छः दायभागी न होकर बान्धव हैं ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥
यद्येकरिक्थिनौ स्याता मौरस क्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥१६२॥
एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥
षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसोविभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

निकम्मी नौकाएं लेकर पानी से पार होता हुआ जैसे फल को पाता है, वैसा ही फल कुपुत्रों † द्वारा अन्धकार से पार होता हुआ पाता है ॥ १६१ ॥ यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक के धन के भागी हों, तो जो धन जिसके पिता का है, उसको वह ग्रहण करे, दूसरा नहीं ‡ ॥ १६२ ॥ एक औरस पुत्र ही पिता

कार होता है (कुल्लू०, नारा०, राघ०) † कुपुत्र=अनियुक्ता के पुत्र (कई, मेधा०) औरस से भिन्न पुत्र (कुल्लू०) ‡ न अलग हुआ भाई यदि मर जाए, और उसकी स्त्री में से देवर भाई के लिए सन्तान उत्पन्न करे, और पीछे उसके अपनी स्त्री में अलग लड़का

के धन को स्वामी होता है, दूसरों [§] को वह दयाभाव से जीविका देवे ॥ १६३ ॥ औरस पुत्र दाय को बांटता हुआ क्षेत्रज को पिता के धन से छटा वा पांचवां हिस्सा देवे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांश भागिनः ॥१६५॥

औरस और क्षेत्रज पुत्र पिता के धन के भागी होते हैं, दूसरे दस गोत्र भागी और क्रमशः ‖ धन भागी होते हैं ** ॥१६५ ।

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥१६७॥

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥१६८॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ़उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

भी हो तो वह अपने २ पिता का भाग लेवें (नारा०) § क्षेत्रज से भिन्न दूसरों को, क्षेत्रज को (१६४ में) छटा पांचवां कहेंगे, (कुल्लू) ‖क्रमशः अर्थात् पहले२ के अभाव में, क्षेत्रज न हो, तो दत्तक, दत्तक न हो, तो कृत्रिम इत्यादि । * * वासि० १७ । ३९ ॥

(बारह पुत्रों के लक्षण कहते हैं) (विवाह विधि से) संस्कार कीहुई अपनी भार्या में से जिसको स्वयं उत्पन्न करे, उसको औरस जाने, वही मुख्य पुत्र है * ॥ १६६ ॥ नियोग के धर्म से नियुक्त हुई—मरे हुए, वा नपुंसक वा रोगी की भार्या—में से उत्पन्न हुआ पुत्र क्षेत्रज कहाता है †॥१६७॥ माता वा पिता ‡ (लेने वाले के) सदृश§ जिस पुत्र को आपत्काल॥ में प्रीति पूर्वक¶ जल से देवे, वह दत्तक पुत्र जानना चाहिए **॥ १६८ ॥ जो जिस सदृश, गुण दोष के जाननेवाले, पुत्र के गुणों से युक्त को आप पुत्र बनाए, वह कृत्रिम जानना चाहिए ††॥१६९॥ जिसके घर में उत्पन्न होवे, पर निश्चित न हो सके, कि किसका है, वह घर में गुप्त उत्पन्न हुआ पुत्र उसका हो, जिसकी भार्या से हुआ है ‡‡ ॥१७०

---

* वासि० १७।१३ आप० २। १८ । १ बौधा० २।३।१४ याज्ञ० २।१२८ विष्णु० १५।२ (मेधा०, गोवि०, नारा०) 'प्राथमकल्पिकं' पढ़ते हैं, राघ०, प्रथम कल्पकस, यहां 'अपनी भार्या' से अपने वर्ण के भार्या अभिप्रेत है, क्योंकि बौधायन में ऐसा कहा है, (कुल्लू०) यदि सजातीय ही पुत्र हों, तो विजातीय पुत्र द्वादश पुत्रों में आ ही न सकेंगे, इसलिए सजाती मुख्य पुत्र है, दूसरे गौण पुत्र हैं, यही बौधायन का अभिप्राय है, (राघ०) † वासि० १७। १४ बौधा० २।३। १८ याज्ञ० १। ६९ ; २।१२७-१२८ विष्णु १५।३ ‡ माता वा पिता एक दूसरे की अनुमति से (कुल्लू०) पिता न हो, तो माता (नारा०) § सदृश = समान जातीय (कुल्लू०, नारा०, राघ०, नन्द) 'सदृश' जाति से नहीं लेना, किन्तु अपने कुल के योग्य गुणों वाला, ऐसा क्षत्रियादि भी ब्राह्मण का दत्तक होसक्ता है, (मेधा०) ¶ जब लेने वाले के घर सन्तान न हो, (कुल्लू०, राघ०) अथवा जब माता पिता अकाल से पीडित हों, (नारा०) ॥ प्रीति पूर्वक, न कि धके से वा (भय लोभादि) से
** वासि० १७। २९ बौधा० २।३।२० याज्ञ० २।१३० विष्णु०

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः सउच्यते ॥ १७१ ॥
पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥१७२॥
या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥
क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोपि वा ॥१७४॥

माता पिता से त्यागे हुए वा उन दोनों में से एक से त्यागे हुए * जिस पुत्र को स्वीकार करे, वह अपविद्ध कहलाता है † ॥ १७१ ॥ पिता के घर में कन्या जिस पुत्र को गुप्त उत्पन्न करे, उस, कन्या से उत्पन्न हुए को विवाहनेवाले का पुत्र, नाम से कानीन कहते हैं ‡ ॥ १७२ ॥ जो गर्भवती जानी हुई, वा न जानी

१९।१८-१९ † † बौधा० २।३। २१ याज्ञ० २। १३१ यहां भी सदृश = गुणों से सदृश (मेधा०) समान जातीय (कुल्लू०) ‡ ‡ वासि० १७। २४ बौधा० २। ३। २२ याज्ञ० २। १२९ विष्णु० १५। १३-१४ ऋतुकाल में पति के सवर्णों (न कि नीच वर्ण वालों) अनेक पुरुषों का संसर्ग निश्चित हो, और किसका यह गर्भ है, ऐसा निश्चय न हो, (नारा०) * सन्तान के पालने में असमर्थ होने से वा माता पिता की भक्तिहीन होने आदि दोष से त्यागा हुआ (मेधा०) दो में से=एक से एक के मरने पर दूसरे से त्यागा हुआ † वासि० १७। २७ बौधा० २।३। २३ याज्ञ० २। १३२ विष्णु० १५। २४—२५ ‡ वासि० १७। २२—२३ बौधा० २। ३। २४ याज्ञ० २। १२९

हुई भी विवाही जाती है, उसका वह पुत्र विवाहने वाले का होता है, और सहोढ कहलाता है § ॥ १७३ ॥ पुत्र के अर्थ जिसको माता पिता के पास से खरीदे, वह उसका क्रीतक पुत्र होता है, चाहे उसके सदृश हो, वा असदृश हो, ¶ ॥ १७४ ॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा सपौनर्भवउच्यते ॥ १७५ ॥
सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥
मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु सस्मृतः ॥ १७७ ॥
यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

जो पति से त्यागी हुई, वा मरे पति वाली अपनी इच्छा से फिर किसी की भार्या होकर जिसको उत्पन्न करे, वह (उत्पादक का) पौनर्भव कहलाता है * ॥ १७५ ॥ (पुनर्भू का पुनर्विवाह कहते हैं) वह (पति से त्यागी हुई वा विधवा हुई) यदि अक्षतयोनि हो यद्वा गई, और वापिस आई भी हो, वह पौनर्भव भर्ता के साथ

विष्णु० १५ । १०-११ यह समान वर्ण वा उत्तम वर्ण से उत्पन्न हुए के निश्चय में जानना, (नारा०) § वासि० १७ । २६-२७ बौधा० २ । ३ । २५ याज्ञ० २ । १३१ विष्णु० १५ । १५-१६
‖ वासि० १७ । ३०-३२ बौधा० २ । ३ । २६ याज्ञ० २ । १३१ विष्णु० १५ । २०-२१ यहां सदृश असदृश गुणों से न कि वर्ण से (कुल्लू०, राघ०) जातिसे (नारा०) , , *वासि० १७-१८ बौधा०२।३।२७ याज्ञ०

पुनः संस्कार के योग्य होती है † ॥ १७६ ॥ जो माता पिता से हीन हुआ वा बिना कारण त्यागा हुआ स्वयं जिस के तांई अपना आप सौंपदे, वह उसका स्वयंदत्त कहाता है ‡ ॥१७७॥ जिसको ब्राह्मण शूद्रा में से काम से उत्पन्न करे, वह जीता हुआ ही मृत सदृश है, इसलिए पारशव कहाता है § ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥

पर शूद्र का पुत्र जो उसका दासी से हो वा दास की दासी से हो वह (पिता से) अनुज्ञा दिया हुआ भाग लेवे, यह धर्म मर्यादा है ॥

२।१३० विष्णु० १५।७–९। † अभिप्राय यह है, कि पतिने जिस से विवाह मात्र किया है, संसर्ग नहीं किया, उसको यदि वह त्याग दे, वा वह विधवा होजाए, तो उसका पुनर्विवाह होना चाहिए, और उसका भी, जो आप पति को त्यागकर चली गई और फिर उसी के पास वापिस आई, पर अक्षत योनि है, पुनर्विवाह हो। हां क्षतयोनि हो, तो फिर विवाह नहीं होसक्ता। पुनर्भू दोनों प्रकारकी होगी, इनमें से उत्पन्न हुआ पुत्र पौनर्भव,वह बीजवाले का पुत्र होगा। यहां पौनर्भव शब्द भर्ता का विशेषण है, अर्थात् जिस पति के पास वह टिक गई है, वह पति (नारा०) राघ० यहां वा शब्द से क्षत योनि का भी ग्रहण करता है। ‡ वासि० १७। ३३–३५ बौधा० २।३। २८ याज्ञ० २। १३१ विष्णु० १५। २२–२३ § वासि० १७। ३८ बौधा० २।३।३० विष्णु० १५। २७ यहां शूद्रा अपनी विवाहिता ही अभिप्रेत है, काम से इसलिए कहा है, कि द्विजों का शूद्रा को विवाहना काम से ही होता है, (टीकाकार) ब्राह्मण यहां क्षत्रिय वैश्य का भी उपलक्षण है, (नारा० जीता हुआ मृत इस लिए कहा है, कि श्राद्ध आदि का अधिकारी होकर भी धन का अधिकारी नहीं, ॥ याज्ञ० २। १३२ पिता के जीते हुए औरस पुत्रों के सम भाग लेवे,

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥१८०॥

इन यथोक्त क्षेत्रज आदि ग्यारह पुत्रों को बुद्धिमान् पुत्र के प्रतिनिधि कहते हैं, जिससे कि कर्त्तव्य का लोप न हो * ॥ १८० ॥

यएतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसंगादन्यबीजजाः ।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

(औरस के) प्रसंग से यह जो दूसरे के बीज से उत्पन्न हुए पुत्र कहे हैं, वह जिसके बीजसे उत्पन्न हैं, उसके होते हैं, दूसरेके नहीं †

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥
सर्वासामेक पत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८६ ॥
श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥
न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।

मरे पीछे बांटे, तो आधा भाग (मेधा०) * पुत्र कर्त्तव्य श्राद्ध आदि का लोप न हो, (कुल्लू०) † आप० २ । १३ । ७ बौधा० २ । ३ । ३४-३५ औरस के होते हुए यह नहीं करने चाहिए, (मेधा०) औरस और पुत्रिका के पुत्र के होते हुए यह नहीं करने चाहिए, (कुल्लू०) पर नारा० इसप्रकार अन्वय करता है । ' यस्य ते बीजतो जाता तस्य ते न भवन्ति.' ' इतरस्य तु भवन्ति '=जिसके वह बीज से उत्पन्न हुए हैं उसके वह नहीं होते, किन्तु दूसरे के (ग्रहण करने वाले के) होते हैं ।

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातरएव च ॥ १८५ ॥
त्रयाणा मुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥
अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अतऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्यएव वा ॥१८७॥
सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याःशुचयोदान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥१८८॥

भाई जो एक पिता की सन्तान हैं, उनमें से यदि एक भी पुत्रवाला हो, तो उन सब को उस पुत्र से मनु ने पुत्रवाले कहा है * ॥ १८२ ॥ और एक जाति वाली सब स्त्रियों में से यदि एक भी पुत्रवाली हो, तो उन सब को उस पुत्र से मनु ने पुत्रवती कहा है † ॥ १८३ ॥ उत्तम २ ‡ के अभाव में निचला (पुत्र) धन के योग्य होता है, बहुत से यदि एक तुल्य (एक दर्जे के) हों, तो सभी धन के भागी हैं ॥ १८४ ॥ न भाई, न चाचे ताए, किन्तु पुत्र पिता के धन के भागी हैं, जिसका पुत्र नहीं, उसके धन को पिता (माता) और (उनके अभाव में) भाई लेवें ॥१८५॥ तीनों

* वासि० १७।१० विष्णु० १५।४२ किसी भी भाई के घर पुत्र हो, तो दूसरों को बनावटी पुत्र नहीं बनाने चाहिए, भतीजा ही पिण्ड दे और वही भाग ले। (क्षेत्रज भी नहीं बनाना चाहिए-नारा०) पर यह याज्ञ० २। १३५ के अनुसार पत्नी कन्या, पिता, माता और भाइयों के अभाव में होता है (कुल्लू० राघ०) † वासि० १७।११ विष्णु० १५। ४१ इसलिए सपत्नियों में से किसी के भी पुत्र हो, तो दूसरियों को दत्तक आदि नहीं बनाना चाहिये, (कुल्लू० राघ०) नियोग नहीं करना चाहिए (नारा०) ‡ उत्तम=पहला २

(पिता, पितामह और प्रपितामह) को जलाञ्जलि देवे, और तीनों में पिण्ड प्रवृत्त होता है, चौथा इनको देने वाला है, पांचवां नहीं बन सक्ता है * ॥१८६॥ सपिण्डों में से जो समीपी हो, उस २ का धन हो, इसके पीछे उस वंश का कोई हो, पीछे आचार्य और शिष्य का॥१८७॥ सब के अभाव में वेदवेत्ता, शौचवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण धन भागी होते हैं, इसप्रकार धर्म की † हानि नहीं होती है ‡

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥
संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्र माहरेत्।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥१९०॥
द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१॥

ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिए, यह मर्यादा है § दूसरे वर्णों का सब के अभाव में राजा लेवे, ॥ ॥१८९॥ निःसन्तान मरे की पत्नी सगोत्र ¶ से पुत्र लेवे, और वहां (मरे) का जो धन हो, वह इसको देवे ॥१९०॥ अलग २ दो से उत्पन्न हुए जो दो (पुत्र) स्त्री के धन में विवाद करें उनमें से जो जिसके

* इसलिए अपुत्र पितामह आदि के धन में गौण पोते का अधिकार है (कुल्लू०) † पिण्डादि धर्म की (कुल्लू०) ‡ वासि० १७।८४-८६ गौत० २८। ४१ बौधा० १। १३-१४ विष्णु० १७। १३-१४॥

§ यदि पूर्वोक्त वेदज्ञ ब्राह्मण न मिलें, तो ब्राह्मणमात्र को देदे, (कुल्लू० राघ०) ॥ वासि० १७। ८३ गौत० २८। ४२ आप० २। १४। ५ बौधा० १। १३। १५-१६ ¶ देवर वा सपिण्ड के साथ पूर्व नियोग कहा है, यह उनके अभाव में सगोत्र के साथ प्राप्ति के लिये

पिता का हो, उसको वह ग्रहण करे, दूसरा नहीं *॥१९१॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥
यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥
अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति कर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनंस्मृतम्॥१९४॥
अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैवयत् ।
पत्यौजीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥

माता के मरने पर सारे सहोदर भाई और सहोदर बहिनें मिलकर माता के धन को बांटें † ॥१९२॥ जो उन (बहिनों) की कन्याएं हों ‡ उनको भी यथायोग्य नानी के धन से प्रीति पूर्वक कुछ देना चाहिए॥ १९३ ॥ (वैवाहिक होम पर) अग्नि

है, (कुल्लू०, राघ०)* न नियुक्त हुई भी यदि सगोत्र से लेवे, तब वह सन्तान चाहे गोलक है, तौ भी और समीपियों के अभाव में वह क्षेत्रपति के धन का भागी हो, (नारा०) प्रथम पति से पुत्र होने पर पति मर गया, उस विधवा ने यदि दूसरा पुत्र दूसरे की पत्नी बनकर पौनर्भव उत्पन्न किया है, वा जार से गोलक उत्पन्न किया है, और उस पति वा जार के मरने पर उसका धन भी सम्भाला है, अब दोनों धन स्त्री के पास हैं, उन धनों के विषय में यदि विवाद हो तो ॥

† कुल्लू० बृहस्पति के वचनानुसार यह कहता है, कि बहिनें जो अविवाहिता हैं, विवाहिता हों, तो उनको चौथा हिस्सा मिले ‡ कुल्लू०

के सामने (जिस किसी से) पाया धन, पति के घर जाते समय जो मिला धन, पति ने जो प्रीति के काम में दिया, माता, पिता और भाई ने जब कभी दिया धन यह छः प्रकार का स्त्री धन कहा है * ॥ १९४ ॥ विवाह के पीछे जो (पति वा बन्धु से) पाया धन, और प्रसन्न हुए, पति ने जो (प्रीति कर्म से अन्यदा) दिया, वह दोनों (धन दोनों प्रकार का यद्यपि स्त्री धन नहीं, तथापि) पति के जीते मरी का उसकी सन्तान का हो †॥१९५॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्व प्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथञ्चन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१९९॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री का धन है, वह निःसन्तान मरने पर पति का ही माना है (सन्तान हो, तो सन्तान का होता है) ‡ ॥ १९६ ॥ पर जो इसको

यहां दौहित्रियें अविवाहिता लेता है। नारायण कहता है, कि विवाही बहिनों को जो मान के लिये देना है, वही उनकी कन्याओं को देवे,

* याज्ञ० २। १४३ विष्णु० १७। १७ † याज्ञ० २। १४४

‡ १९६-१९७ याज्ञ० २।१४५ विष्णु० १७। १९-२०

आसुरादि विवाहों में धन दिया गया है, वह, निःसन्तान मरने पर उसके माता पिता का होता है ॥ १९७ ॥ (ब्राह्मण की) स्त्री को जो धन उसके पिता ने दिया है, वह ब्राह्मणी कन्या लेवे, (चाहे वह धन क्षत्रिया, वैश्या, वा शूद्रा स्त्री का भी हो) अथवा उसकी सन्तान का हो * ॥ १९८ ॥ बहुतों के सांझे कुटुम्ब (के धन) से स्त्रियें अपने आप कुछ न निकालें, अपने (न सांझे = निरे पति के) धन से भी अपने पति की आज्ञा बिना नहीं ॥१९९॥ पति के जीते हुए स्त्रियों ने जो भूषण धारण किया हो, उसको वारिस न बांटें, बांटें तो पतित होंगे †॥२००॥

अनीशौ क्लीबपतितौ जात्यन्ध बधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्चयेचकेचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

नपुंसक, पतित, (महा पातकी) जन्मान्ध, बहिरा, पागल, जड़, गूंगा, और जो (लूला, लंगड़ा आदि) विकल इन्द्रियोंवाले हैं, यह (पिता आदि के धन के) भागी नहीं होते ‡॥ २०१ ॥

सर्वेषामपितु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितोह्यदद्भवेत् ॥ २०२ ॥
यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथञ्चन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

*कुल्लू०नारा० दोनों कहते हैं,ब्राह्मणी कन्या हो, तो उसी को मिले, भाइयों को नहीं, न हो, तो भाइयों को मिले। राघ० उसकी सन्तान से अभिप्राय ब्राह्मणी कन्या की सन्तान लेता है † विष्णु० १७।२२

‡ २०१-२०३ वासि० १७।५२-५३ गौत० २८।२३, ४०, ४३ आप० २।१४।१-१५ बौधा० २।३।३७-४० याज्ञ० २।१४०

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधि गच्छति।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः॥ २०४ ॥
अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्यइति धारणा ॥२०५॥
विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

किन्तु (धन लेने वाले) बुद्धिमान् को चाहिए, कि इन सब (नपुंसक आदि) को सदा * शक्ति अनुसार अन्न वस्त्र देवे, न दे, तो पतित होता है॥२०२॥यदि कथञ्चन † इनको (क्लीबादि को) स्त्रियों से प्रयोजन हो, तो इनके जो सन्तान उत्पन्न हो, वह सन्तान दाय के योग्य है ॥ २०३ ॥ पिता के मरने पर बड़ा भाई जो कुछ धन कमाता है, उसमें छोटों का भाग होता है, यदि वह विद्या पढ़ रहे हों ‡ ॥२०४॥ यदि सभी विद्याहीन भाइयों की चेष्टा (खेती वा वाणिज्य आदि) से धन हुआ हो, तो उस धन में जो पिता से नहीं आया (आप कमाया है) उस में विभाग सम हो, (बड़े को उद्धार न मिले) यह मर्यादा है § ॥ २०५ ॥ विद्या से, मित्रता से, और मधुपर्क के समय जो धन जिसको मिला हो, वह उसी का हो॥

---

१४१ विष्णु० १५। ३२। ३७ * अत्यन्त=सदा नारा० इस शब्द को 'अददत्' के साथ आन्वित करके यह अर्थ करता है, अत्यन्तं अद-दत्,=बिल्कुल न दे, तो पापी होता है, † 'कथञ्चन' कहने से 'नपुंसक आदि विवाह के अयोग्य हैं, यह सूचित किया है। नपुंसक आदि की सन्तान क्षेत्रज होगी (कुल्लू०, राघ०) ‡ यह नियम वहां लगता है, जब भाई अलग हुए २ न हों (कुल्लू०) § गौत० ३८।३१ ॥ याज्ञ० २। ११८-११९

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
सनिर्भाज्यःस्वकादंशात्किञ्चिद्दत्त्वोपजीवनम्॥२०७

जो अपने कर्म से (कमाने के) समर्थ हुआ भाइयों के (सांझे) धन के लिये चेष्टा न करे, उसको अपने भाग से कुछ जीवन देकर अलग कर देना चाहिए * ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहित लब्धं तन्नाकामो दातु मर्हति ॥२०८॥
पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥
विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते॥२१०॥
येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ।
म्रियेतान्यतरोवापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥

पिता के धन को खर्च न करके जो निरे परिश्रम (खेती आदि) से कमाया है, उस निरे अपने उद्यम से कमाए धन को न चाहे, तो (भाइयों को बांट) न दे † ॥ २०८ ॥ खोए हुए पैतृक धन को यदि पिता (अपने पौरुष से) पावे, तो उस अपने कमाए को, न चाहे, तो पुत्रों के साथ न बांटे ‡॥ २०९॥ (भाई)

---

*याज्ञ० २।११६ † पूर्व २०५ में मिलकर कमाए में सब का भाग कहा है । २०८--२०९ याज्ञ०२।११८--११९ विष्णु०१८।४२--४३ ‡ पिता यदि जीते जी पुत्रों को अलग करे, तो अपने कमाए धन में उसका पूरा अधिकार है, जिसतरह चाहे दे,वा न दे,पर उसके पिता के धन पर, उसके तुल्य ही उसके पुत्रों का स्वत्व भी है । हां यदि कोई डूबी

पहले अलग होकर फिर (धन को) इकट्ठा करके, फिर इकट्ठे होकर रहें, वह यदि फिर विभाग करें, तो वह सम विभाग हो, बड़े का उद्धार वहां नहीं होता है, * ॥ २१० ॥ जिन (भाइयों) में से (विभाग के समय) छोटा वा बड़ा भाई अपने हिस्से से हीन होजाए † वा कोई मर जाए, उसका हिस्सा लुप्त नहीं होता है

सोदर्याविभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥
यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन्यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः॥२१३॥
सर्वएव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठःकुर्वीत यौतकम्॥२१४॥

किन्तु सारे सहोदर भाई और सांझे भाई, और सहोदर बाहिनें सब इकट्ठे मिलकर बराबर २ बांट लें ‡ ॥ २१२ ॥ जो बड़ा भाई लोभ से छोटे भाइयों को ठगे, वह बड़ा (पूजनीय) नहीं रहता, अधिक भाग का भागी नहीं रहता, और राजा से दण्ड-

---

हुई रकम वह प्राप्त करे, तो उस पर अपनी कमाई के तुल्य उसका स्वत्व होगा। २०८-२०९ में 'अकामः=न चाहे' कहने का यह अभिप्राय है, कि है तो बांट देना ही अच्छा, हां न्याय उसको बांटने पर अनुरोध नहीं कर सकता * विष्णु० १८। ४१ † कारण कि पतित होजाए, वा संन्यासी होजाए, ‡ गौत० २८ । २१ याज्ञ० २ । १३८ सहोदर भाई, और वैमात्र भाइयों में सभी जो उसके साथ सांझी हों (कुल्लू०) उसका स्वत्व सहोदर भाई लेवे, उसके अभाव में वैमात्र भी जो उसके साथ सांझी हों, उनके अभाव में सहोदर बाहिनें पर यह सब पुत्र, पत्नी, कन्या, माता, और पिता के अभाव में है।

नीय होता है ॥ २१३ ॥ विरुद्ध कर्मों में प्रवृत्त जितने हों, वह सभी भाई, धन के योग्य नहीं होते, और न छोटों को न देकर बड़ा अलग धन करले * ॥ २१४ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथञ्चन ॥२१५॥

भाई जो (पिता के साथ रहते हैं) अलग नहीं हुए, उन सब का यदि (धन कमाने में) मिलकर उद्योग हो, तो विभागकाल में पिता किसी को भी न्यून वा अधिक भाग न दे † ॥२१५॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेवहरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥२१६॥
अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥२१७॥
ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥२१८॥
वस्त्रं पत्रमलङ्कारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥
अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः ।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥२२०॥

इनके होने में तो इन्हीं को मिले, (नारा०) * गौत० २८। ४० आप० २। १४। १५ बौधा० २। ३। ३८॥

† किसी का अधिक प्रयास देखकर अधिक न दे। (नारा०) इससे यह भी सिद्ध है, कि पिता को न्यून अधिक विभाग करने में

विभाग से पीछे जो उत्पन्न हुआ है, वह पिता के ही धन को लेवे, अथवा जो उस (पिता) के साथ सांझी हों, उन (भाइयों) के साथ विभाग करे * ॥ २१६ ॥ निःसन्तान मरे पुत्र के धन को माता लेवे, और माता के भी मर जाने पर पिता की माता लेवे † ॥ २१७ ॥ जब सारा ऋण वा धन यथाविधि बांट लिया हो, पीछे जो कुछ (ऋण वा धन का) पता लगे, वह सारा बराबर २ बांटें ‡ ॥२१८॥ वस्त्र, सवारी, भूषण, पका अन्न, जल, स्त्रियें, लाभ और रक्षा और मार्ग इनको बांटने योग्य नहीं कहते § ॥२१९॥ यह तुम्हें विभाग और क्षेत्रज आदि पुत्रों के करने की विधि क्रमशः कही है, अब जुए की व्यवस्था जानो ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥२२१॥

द्यूत और समाह्वय को राजा अपने राष्ट्र से हटाए, क्योंकि

अधिकार है, जैसा याज्ञ० २ । ११६ में कहा है । (मेधा०) * गौत० ३८ । २८ याज्ञ० २ । १२२ विष्णु० १७ । ३ † याज्ञ० २ । १३५ विष्णु० १७ । ७ पूर्व १८५ में अपुत्र का धन पितृ गामि कहा है यहां मातृ-गामि, याज्ञ० ने (२ । १३५ में) माता पिता दोनों इकट्ठे कहे हैं, इसलिए व्यवस्था यह है, कि अपुत्र मरे का धन उसकी विधवा लेवे, विधवा न हो तो कन्या लेवे, कन्या भी न हो, तो माता पिता बांट कर लेवें, माता पिता न हों, तो दादी लेवे (कुल्लू०) पुत्र, पोता, प्रपोता, पत्नी, कन्या न हों, तब माता लेवे (नन्द०) ‡ याज्ञ० २ । १२६ § गौत० २८ । ४६-४७ विष्णु० १८ । ४४ यहां वस्त्र आदि जो जिसका है, वह उसी का रहे, जल=कूप आदि और स्त्रियें दासी आदि सांझी रहने दें । लाभ=राजा आदि से वजीफ़ा आदि । क्षेम=घर के चारों ओर कोट आदि । प्रचार=चरागाह वा खेत बाग आदि में जाने आने का मार्ग ॥

यह दो दोष राजाओं के राज्यको नाश करनेवाले हैं *॥२२१॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥२२२॥
अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥२२३॥
द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥२२४
कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाखण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्शौण्डिकांश्च क्षिप्रंनिर्वासयेत्पुरात् ॥२२५
एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्म क्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥२२६

यह सामने चोरी है, जो द्यूत और समाह्वय है, इन दोनों के रोकने में राजा यत्नवान् हो ॥२२२॥ अप्राणियों (नर्द कौड़ी, आदि) से जो खेला जाता है, वह लोक में द्यूत कहा जाता है, और जो प्राणियों (कुक्कड़, मेंढ़े, भैंसे, आदि) से खेला जाता है, वह समाव्हय कहलाता है ॥ २२३ ॥ द्यूत और समाव्हय को जो करे, और करवाए, उन सब को राजा ताड़े (अपराधानुसार पिटवाए वा हाथ आदि कटवाए) और द्विजों के चिन्हधारी शूद्रों को भी † ॥२२४॥ जुआरिये, नाचने गाने वाले, क्रूर, पाखण्डी, विकर्म्मी ‡ शराब वेचनेवाले, इनको जल्दी नगर से बाहर कराए ॥ २२५ ॥ यह गुप्त चोर राजा के राष्ट्र

* २२१--२२९ गौत० १९ । १८ आप० २ । २५ । १२--१५ बौधा० २ । २ । १६ याज्ञ० २ । १९९--२०३ † याज्ञ० २। २०४ ‡ क्रूर = निर्दय

में रहते हुए अपने उलटे कामों से भली प्रजाओं को पीड़ा देते हैं*

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्॥२२७
प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥
क्षत्रविट् शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥२२९

यह जुआ पूर्व समय में बड़ा वैर उत्पन्न करनेवाला देखा गया है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष जी बहलाने के लिए भी जुआ न खेले ॥ २२७ ॥ जो मनुष्य गुप्त वा प्रकट इसका सेवन करे, उसको राजा जैसा चाहे वैसा दण्ड हो ॥२२८॥ क्षत्रिय वैश्य शूद्र दण्ड न दे सकें, तो उचित कर्म करके दण्ड चुका दें, ब्राह्मण धीरे २ देदेवे†

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् ।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥२३०॥

स्त्री, बालक, पागल, वृद्ध, कङ्गाल और रोगी इनको राजा (वृक्ष की-) जड़, बांस की लाठी वा रस्सी आदि से ताड़े ॥२३०॥

येनियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानांस्तान्निस्स्वान् कारयेन्नृपः॥२३१

बर्ताव वाले, वेद विरोधी (कुल्लू०) "केरान्" बड़ी टेढी चाल वाले (नारा०)। बिना आपत् के पर-धर्म से जीविका करनेवाले (कुल्लू०)

* पीड़ा देते हैं=दुःशील बना देते हैं, (नन्द०)

† याज्ञ० २। ४३ और मिलाओ ८। १७७ से ॥

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् द्विट्सेविनस्तथा ॥२३२
तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद् भूयो निवर्तयेत् ॥२३३॥

जो अधिकारों पर लगाए हुए पुरुष, धन की गर्मी से बिगड कर * कामवालों के काम बिगाड दें, उनका राजा सर्वस्व छीन ले † ॥२३१॥ झूठी राजाज्ञा बनानेवाले, मन्त्रियों में फोटक डालनेवाले, स्त्री बालक और ब्राह्मण की हत्या करनेवाले, और (राष्ट्र के) शत्रुओं से मिले हुओं को राजा मार डाले ‡॥२३२॥ जहां कहीं जो कार्य निर्णीत होचुका, और न्यायानुसार उस पर दण्ड होचुका उसको (राजा) किया हुआ जाने, उसको फिर न लौटाए § ॥२३३॥

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥
ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥२३५॥
चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥२३६॥
गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ।
स्तेये श्वपदकं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७

---

* उत्कोच (रिश्वत) लेकर † मिलाओ पूर्व ७।१२४ विष्णु० ५।१८० ‡ याज्ञ० २।२४० विष्णु० ५।९, ११ § यह किसी पहले राजा से किए के विषय में है (नारा०) अपने जजों से किए के विषय में

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याऽविवाहिनः ।
चरेयुः पृथिवीं दीना सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८॥

हां (राजा के) मन्त्री वा जज निर्णय ठीक न करें, तो उसको स्वयं राजा फिर करे, और उनको सहस्र दण्ड देवे * ॥ २३४ ॥ ब्राह्मण का मारनेवाला, शराब पीनेवाला, † (ब्राह्मण का सोना) चुरानेवाला और गुरु स्त्री गामी, यह सारे मनुष्य अलग २ महा पातकी जानने चाहिए ‡ ॥ २३५ ॥ इन चारों को ही, यदि यह प्रायश्चित्त न करें, तो शारीर दण्ड, और धन दण्ड, धर्म्मानुसार देवे ॥ २३६ ॥ गुरु स्त्री गमन में (तपे लोहे के साथ ललाट पर भग का चिन्ह बनावे, शराब पीने में शराब घर का, चोरी में कुत्ते के पाओं का, और ब्रह्महत्या करनेवाले में बे सिर का पुरुष बनावे § ॥ २३७ ॥ इनके साथ बैठकर न भोजन करें, न इनको यज्ञ कराएं, न पढ़ाएं, न इनसे विवाह सम्बन्ध करें, यह सारे धर्मों से अलग किए हुए दीन होकर पृथिवी पर घूमें ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।
निर्दयानिर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥२३९॥
प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् ।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥२४०

है (मेधा०, कुल्लू०) * याज्ञ० २ । ३०५ मेधा० कुल्लू० के अनुसार यह नियम उत्कोच से भिन्न विषय में है, यह छोटे कार्य में दण्ड है, बडे कार्य में अधिक दण्ड हो † ब्राह्मण (मेधा० राघ०) द्विजाति (कुल्लू०, नारा०) ‡ २३५-२४२ बौधा० १।१८। १८ विष्णु० ५।३-७ § २४० में ललाट पर निषेध कहने से सिद्ध है, कि यह चिन्ह ललाट पर बनाने चाहियें ।

इन चिन्हवालों को ज्ञाति और सम्बन्धी त्याग देवें, न यह दया के पात्र, न नमस्कार के योग्य रहते हैं, यह मनु की आज्ञा है ॥ २३९ किन्तु शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करते हुए सारे वर्णों को * राजा ललाट पर चिन्ह न दे, उत्तम साहस दण्ड देवे ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥
इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यऽकामतः ।
सर्वस्वहार मर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥२४२॥

ऐसे अपराधों में ब्राह्मण को मध्यम साहस (५०० पण) दण्ड देना चाहिए। अथवा धन और दूसरे सामान समेत उसे देश से निकाल देना चाहिए † ॥ २४१ ॥ (ब्राह्मण से) दूसरे यदि इन पापों को बिना इच्छा के करें; तो उनका सर्वस्व छीनने के योग्य है, जान बूझकर करें; तो देश निकाले ‡ के योग्य हैं॥२४२॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।
आददानस्तुतल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

धार्मिक राजा महापातकी के धन (दण्ड) को आप न लेवे, यदि

---

* सारे वर्ण=आर्य तीन वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। नारा०, नन्द० 'पूर्वे वर्णाः'=पहले तीन, वर्ण पाठ पढ़ते हैं ॥

† अगले श्लोक में 'विन इच्छा' और 'इच्छा से' कहने से यहां भी, इच्छा में गुणवान् ब्राह्मण को मध्यम साहस (निर्गुण को २४० में कहा उत्तम साहस) और इच्छा से किये में देश निकाला हो (कुल्लू०) ‡ कुल्लू० यहां प्रवासनं का अर्थ बध करता है, पर यहां वध अर्थ नहीं हो सक्ता, पूर्व २३८ में उन को पृथिवी पर घूमने

लालच से ले लेवे; तो महापातक के दोष से युक्त होता है ॥२४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

उस दण्ड को जल में (नदी आदि में) डालकर वरुण के अर्पण करे अथवा वेद और व्रत से सम्पन्न ब्राह्मण को देवे, * ॥ २४४ ॥

ईशो दण्डस्यवरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

दण्ड का स्वामी वरुण है, क्योंकि वह राजाओं का भी दण्डधारी है, और वेद के पार पहुंचा ब्राह्मण सारे जगत का स्वामी है † ॥२४५

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् ।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

जहां राजा पापियों से धन की प्राप्ति त्यागता है, वहां मनुष्य (ठीक) समय पर उत्पन्न होते हैं और दीर्घ जीवी होते हैं ॥२४६॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥२४७

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्यवधे तावान्वध्यस्यमोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तुविनियच्छतः ॥२४९॥

देना कह आए हैं, किंच स्वयं कुल्लू० ही पूर्व ८।२८४ की टीका में प्रवास्यः, का अर्थ देश निकाला करता है * याज्ञ २। ३०७

† वरुण राजाओं का अधिराज है, इसके लिये देखो तैत्ति ब्रा० ३।१।२।७ और विद्वान् ब्राह्मण के लिये देखो पूर्व १।९८-१०१

और वैश्यों की खेतियें जैसे बोई हों, वैसे अलग २ (समय२ पर) पकती हैं, बालक नहीं मरते हैं, और कोई विकार वाला (लूला लंगड़ा आदि) नहीं होता है ॥ २४७ ॥ जान बूझकर ब्राह्मणों को तंग करते हुए * शूद्रों को राजा तरह २ के वध के उपायों से मारे ॥ २४८ ॥ न मारने योग्य के मारने में जितना पाप राजा को देखा गया है, उतना मारने योग्य के छोड़ देनेमें है, और दण्ड देने वाले को, धर्म होता है † ॥२४९॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥
एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धाँल्लिप्सेत लब्धाँश्च परिपालयेत् ॥२५१॥
सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥
रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥
अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥
निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

नारा०'कालेन' के स्थान 'लोकेतु' पढता है, उस लोक में । *धन स्त्री आदि छीनते हुए (मेधा०) अत्यन्त दुःख देते हुए (नारा०) † मिलाओ पूर्व ८।१९, ३१०-३११, ३१७ ॥

द्विविधांस्तस्करान् विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

* (ऋणका न देना आदि) अठारह मार्गों में परस्पर झगड़ते हुए (वादी प्रतिवादी) के व्यवहार का निर्णय विस्तार से कह दिया है ॥ २५० ॥ इस प्रकार धर्म युक्त व्यहारों को निर्णय करता हुआ राजा (अपनी प्रजा में राज भक्ति बढ़ाकर) नए देशों को पाने की इच्छा करे, और पाए हुओं का पालन करे ॥ २५१ ॥ (रहने के लिये) भली भांति (उत्तम) देश का आश्रय लेकर और शास्त्रानुसार उसमें दुर्ग बनाकर कांटों के हटाने में पूरा २ यत्न करे † ॥ २५२ ॥ सदाचारियों की रक्षा से और कांटों के शोधने से प्रजा पालने में तत्पर राजा स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ‡ ॥ २५३ ॥ जो राजा चोरों को दण्ड न देता हुआ बलि लेता है, उसके देश में हल चल पड़जाती हैं, और वह स्वर्ग से हीन हो जाता है ॥ २५४ ॥ जिस के भुजबल का आश्रय लेकर देश निर्भय होता है, उसका देश सदा इसतहर बढ़ता जाता है, जैसे जल सेचन से वृक्ष ॥ २५५ ॥ दूसरों के धन ठगने वाले, गुप्त और प्रकट इन दो प्रकार के चोरों को राजा गुप्तचररूपी आंखों से जानता रहे ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥
उत्कोचकाश्चौपाधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥२५८॥

---

* अठारह व्यवहारों का उपसंहार करते हुए राजा के कर्तव्य का परिशिष्ट कहते हैं (राघ०) † देखो पूर्व ७।६९-७० कांटे = चोर, ठग, राजद्रोही आदि ‡ २५३-२५४ देखो पूर्व ८।३०७,३८६-३८७ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाःपण्ययोषितः॥२५९॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥२६०॥

उन में से प्रकट ठग वह हैं, जो नाना विध व्यवहार्य वस्तुओं में (खोट मिलाने) से जीविका करने वाले हैं, और जो चोर दस्यु (धाड़वी) आदि हैं, यह गुप्त ठग हैं।२५७। रिश्वत खोर, छलिये*, ठग, जुआरिये, मंगल † की सूचना से जीविका करने वाले मक्कार ‡, भाग्य बतलाने वाले।२५८। ठीक काम न करने वाले उच्च अधिकारी और वैद्य, अपने हुनर की महारत दिखला कर जीविका करने वाले §, और चालाक वेश्याएं।२५९। इस प्रकार के लोगों को प्रकट लोक के कांटे जाने, और भी आर्यों के चिन्ह (संन्यासादि) धारकर छिपकर विचरते हुए अनार्य ॥२६०॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्म कारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत्॥२६१॥
तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥२६२॥

---

* अपने ऊपर दूसरे का विश्वास उत्पन्न करा कर धोखा दे जाने वाले, (मेधा०) भय दिखला कर ठगने वाले (कुल्लू० राघ०) स्तुति आदि से फुसलाकर ठगने वाले (नारा०) † धन पुत्रादि का लाभ (कुल्लू० राघ०) ‡ अन्दर से पापी और बाहर से सदाचारियों के चिन्ह धारे § हुए अनुपयोगी हुनर (मेधा०) ॥
का पूरा पता लगाकर ।

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥२६३॥

इनको, अपने विश्वासी, (उन्हीं में मिलकर) उन २ कर्मों के करने वाले, गूढ गुप्तचरों से, और अनेकवेषधारी गुप्तचरों से (जानकर और) उखाड़ कर बस में लाए ॥२६१॥ अपने २ कर्म में जो उनके सच्चे दोष हैं, उन को प्रकट करके राजा बल और अपराध के अनुसार भली भांति दण्ड देवे ॥२६२॥ क्योंकि पृथिवी पर (भले वेष में) छिपे फिरते हुए दुष्ट-संकल्प चोरों की दुष्टता का रोकना दण्ड से बिना नहीं होसक्ता ॥२६३॥

सभाप्रपाऽपूपशाला वेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च॥२६४॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥२६५॥

सभा, प्रपा (प्याऊ=सबील), हलवाई का हट्ट, चकला, मद्य और अन्न के बिकने के स्थान, चौराहे, प्रसिद्ध वृक्ष, समाज (लोगों के इकट्ठ), तमाशे ॥२६४॥ पुराने बगीचे, जंगल, कारीगरों की दुकानें, उजाड़ घर, असली और बनावटी वन ॥२६५॥

एवं विधान्नृपोदेशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥२६६॥
तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैःपूर्वतस्करैः ॥२६७॥

इस प्रकार के स्थानों में राजा ठहरे रहने वाले और चलने फिरने

वाले सिपाहियों को और गुप्तचरों को चोरों के रोकने के लिये फिराता रहे ॥ २६६ ॥ उनके साथी बनजाने वाले, उनके पीछे लग जाने वाले, भांति२ के कर्मों के जानने वाले बड़े होश्यार जो पुराने चोर हों, उन गुप्तचरों से चोरोंको जाने और निर्मूल करे*

भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
चौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥
ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात् समित्रज्ञातिबान्धवान्॥२६९॥
न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

वह (गुप्तचर) उन चोरों को भक्ष्य भोज्य (चलो हमारे घर प्रीतिभोजन करो) के बहाने से, ब्राह्मणों के दर्शन (के बहाने) से (अमुक स्थान पर सिद्ध ब्राह्मण है,) शूर वीरता के कर्म (अमुक स्थान पर एक पुरुष बहुतों के साथ युद्ध करेगा) के बहाने से उन (चोरों) का (राज पुरुषों से) समागम करादें (पकड़वा दें) ॥ २६८ ॥ जो (पकड़े जाने की शंका से) वहां न जावें, और गुप्तचरों के विषय में सावधान हो जाएं, उनको राजा बल से पकड़कर मित्र ज्ञातिबान्धवों समेत मारडाले ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा चुराई वस्तु (वा चोरी के साधनों=संधेवे आदि) के विना चोर को न मारे, चोरी का माल वा साधन निकल आएं, तो बिन विचारे मरवाडाले ॥२७०॥

* "उत्सादयेत्" के स्थान पाठ 'उत्साहयेत्'=उत्साह दे (चोरी करने में) (गोवि० नारा० नन्द)

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥२७१॥
राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥२७२॥

गाओं में भी जो कोई चोरों को (जानकर) अन्न देते हैं, वा सामान (रखने) के लिये स्थान देते हैं, * उन सबको भी मरवा दे ॥ २७१ ॥ देश में जो रक्षा के काम पर लगाए गए हैं (पुलीस), और हद्दों पर रहने वाले जो सहायता के लिये नियत हैं, वह यदि (चोरों वा डाकुओं से की) मारपीट में मध्यस्थ रहें (सहायता के लिये न जाएं, वा पास खड़े देखते रहें) तो उनको भी जल्दी चोर की तरह दण्ड देवे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥
ग्रामघाते हिताभंगे पथि मोषाभिदर्शने ।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥२७४

जो धर्म (पुरोहिताई आदि से) जीविका करनेवाला अपने कर्तव्य के नियम से फिसलजाए, उसको भी अपने कर्तव्य से फिसले को, दण्ड से ही संतप्त करे ॥ २७३ ॥ गाओं के लूटने, जल का बांध टूटने, और मार्ग में मोस खोस देखने में जो (आस पास वाले) शक्ति अनुसार (सहायता के लिये) नहीं दौड़ते हैं, वह अपने माल असबाब समेत देश से निकाल देने चाहिये †

---

* (इत्यादि खरीदने के लिये) मूल धन देते और स्थान देते हैं (नारा०) † विष्णु ५ । ७४

राज्ञः कोषापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥२७५॥
सन्धिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णेशूलेनिवेशयेत् ॥२७६॥
अंगुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥
अग्निदान् भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातॄंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥२७८॥

राजा के खज़ाने को चुराने वाले, और (राजा के) प्रतिकूल स्थित, और शत्रुओं को भेद बतलाने वालों को राजा नाना प्रकार के दण्डों से मरवाए ॥ २७५ ॥ जो चोर रात को सेन्ध देकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथ काटकर तीक्ष्ण सूली पर चढ़ावे * ॥ २७६ ॥ गांठ कतरने वाले की पहली पकड़ में अंगुलियें † कटवादे, दूसरी में हाथ और पाओं, तीसरी में वध के योग्य होता है ‡ ॥ २७७ ॥ (जान कर भी) जो इन को अग्नि § और अनाज देते हैं, शस्त्रों के रखने के लिये स्थान देते हैं और चोरी के माल को अपने पास रखते हैं, उनको भी राजा चोर की तरह मरवाए ॥ २७८ ॥

---

* याज्ञ० २।२७३ † दो अंगुलियें अंगूठा और तर्जनी (कुल्लू० राघ० नारा०) तर्जनी और मध्यमा (नन्द०)

‡ याज्ञ २।२७४ विष्णु ५।१३६

§ अग्नि शीतादि हटाने के लिये (मेधा०) घर आदि को लगाने के लिये (नारा०)

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥२७९॥

(बड़े उपकारक) तालाब के फोड़ने वाले को जल में (डुबाने से) वा शुद्ध वध * से मारे, यद्वा (तालाब को) फिर बनवादे और उत्तम साहस (सहस्रपण) दण्ड दे † ॥२७९॥

कोष्ठगारायुधागार देवतागार भेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥
यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ।
आगमं वाप्यपां भिन्द्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम्॥२८१॥
समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वऽमेध्यमनापदि ।
स द्वौकार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥२८२॥
आपद्गतो ऽथवा वृद्धो गर्भिणी बालएव वा ।
परिभाषण मर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥२८३॥

(राजकीय) गोदाम घर, शस्त्रघर, और मन्दिरों के तोड़नवालों और (राजकीय) हाथी, घोड़े और रथों के चुरानेवालों को बिन विचारे मार ही दे ‡ ॥ २८० ॥ जो पूर्व सयम के बने तालाब का जल ही ग्रहण करे, वा जलों के आने के मार्ग को नष्ट करे, उसे उत्तम साहस दण्ड देवे § ॥ २८१ ॥ जो बिना आपत् (रोग आदि) के राजमार्ग पर मल त्यागे, वह दो कार्षापण दण्ड दे और मल को जल्दी शोधे ¶ ॥ २८२ ॥ आपत् में पड़ा हुआ वा

---

* शुद्ध वध=सिर काटना (नारा० राघ०) † याज्ञ २।२७८
‡ याज्ञ २।२७३ § और मार्ग को ठीक करे (नारा०)
¶ विष्णु ५।१०६-१०७

वृद्धा वा गर्भिणी स्त्री वा वाल यह झिडकने योग्य हैं, और मल शोधदें, यह मर्यादा है ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥
संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥२८५॥
अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥२८६॥

बिनजाने इलाज करने वाले सभी चिकित्सकों को दण्ड हो, मनुष्यों से भिन्न (पशु आदि) के विषय में प्रथमसाहस (अढ़ाई सौ) और मनुष्यों के विषय में मध्यम साहस (पांच सौ) हो * ॥ २८४ ॥ पुल, ध्वज, लकड़ी † और मूर्तियों का तोड़ने वाला उस हर एक वस्तु को नया बनवा दे और पांच सौ दण्ड दे ‡ ॥२८५॥ न निर्दोष वस्तु (केसर आदि) को (मिलावट मिलाकर) दूषित करने, (न फोड़ने योग्यों माणिक आदि को) फोड़ने, और मणियों के खराब छेद करनेमें प्रथम साहस दण्ड हो§

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा ।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेववा ॥ २८७ ॥

---

* याज्ञ २। २४२ विष्णु ५। १७५-१७७ पर यह मृत्यु न होने पर है, मृत्यु हो, तो अधिक दण्ड हो (नारा०) † गाओं आदि की झंडी (नारा०) पोहकर से पार होने की लकडी (कूल्लू०)

‡ याज्ञ २। २९७ विष्णु ५। १७४

§ याज्ञ २। २४५-२४६ विष्णु ५। १२४ (दण्ड के सिवाय वस्तु का मूल्य स्वामी को देवे)

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

जो सरल पुरुषों के साथ बेईमानी बर्ते वा मूल्य में विषमता करे* (घट वस्तु का अधिक मूल्य ले, वा उनकी वस्तु का घट मूल्य दे) उसको प्रथमसाहस वा मध्यम साहस दण्ड हो ॥ २८७॥ राजा बन्धनगृहों को सड़क के ऊपर बनवाए, जहां पापकारी दुखिया और विकराल (लंबे बालों नखों वाले) दीखते रहें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥

कोट (फसील) के तोड़ने वाले, खाइयों के भरने वाले और द्वारों के तोड़ने वाले को जल्दी ही देस से निकाल दे ॥२८९॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्त्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥२९०॥

सारे अभिचारों (मारने के होमों) में, असम्बन्धियों से किये † मूल कर्म (जड़ से किये जादू) में, और अनेक प्रकार के टोनों (मारण, मोहन, उच्चाटनादि) में दो सौ दण्ड देवे ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥

अबीजों (न उगने योग्यों) का, और, (निकृष्टों को) उत्कृष्ट बीज करके बेचने वाला, (ग्राम नगर आदि की) सीमा का तोड़ने वाला विकराल वध (नासा छेद आदि) को प्राप्त हो ॥२९१॥

---

* एक जैसा मूल्य देने वालों के साथ विषम बर्ते (कुल्लू०)
† भर्ता आदि के वश करने में दोष नहीं (नारा०)

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।
प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥
सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत॥२९३॥

सब कांटों में से अधिक पापी सुनारे को जब वह अन्याय (खोट मिलाकर देने) में प्रवृत्त हो, तो राजा छुरों से टुकड़े २ कटवाए ॥२९२॥ खेती करने की वस्तुओं (हल आदि) के शस्त्रों के और औषध के चुराने में राजा समय और प्रयोजन को * देखकर दण्ड नियत करे ॥२९३॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥
सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥
सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्नकिञ्चिदतिरिच्यते॥ २९६ ॥

राजा, मन्त्री, पुर, देश, कोश, दण्ड (हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे) और मित्र यह सात प्रकृतियें मिलकर † सात अंगों वाला राज्य कहलाता है ॥२९४॥ राज्य की इन सात प्रकृतियों में से यथा क्रम (परले २ से) पूर्व २ (के विनाश) को भारी व्यसन जाने ॥२९५॥ यह सात अंगोंवाला राज्य जो (यति के) त्रिदण्ड की तरह एक दूसरे से जकड़ा हुआ है, इन में से एक दूसरे से

* खेत बोने के दिनों में अधिक दण्ड हो अन्यदा न्यून इत्यादि। इसी प्रकार अधिक काम की वस्तु में अधिक दण्ड हो

† देखो पर्व ७।२५७ याज्ञ १।३५२

(अपने २) गुण की विशेषता से कोई भी बढ़कर नहीं है *

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७॥

(क्यों कि अपने२) उन२ कामों में, वह २ अंग विशेष है, जिस से जो काम सिद्ध होता है, उसमें वह श्रेष्ठ कहाता है ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२९८॥
पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेतततःकार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥
आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

गुप्तचरों से, उत्साह के सम्बन्ध से, और कर्मों के अनुष्ठान से राजा अपनीशक्ति और शत्रु की शक्ति को सदा जानता रहे ॥२९८॥ सारी पीड़ाएं (= अकाल आदि), व्यसन (प्रकृतियों में क्षोभ आदि) और उनकी गुरुता लघुता सोच कर राजा कार्यों (सन्धि विग्रह आदि) का आरम्भकरे ॥२९९॥ थक२ कर फिर २ कामों को आरम्भ करे, काम करने वाले पुरुष को

---

* पूर्व २९५ में जो पूर्व २ बडा कहा है, वह एक दूसरे के उपयोग की बहुमूल्यता से है,पर इन में से एक के बिना भी काम नहीं चल सका, इस लिये अत्यावश्यक होने से सब एक जैसे हैं ।

लक्ष्मी सेवन करती है ॥ ३०० ॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि यह सब राजा के बर्ताव हैं, राजा ही युग कहलाता है ॥:

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यत स्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

सोया हुआ (निरुद्यमी पड़ा हुआ) वह कलि होता है, निरा जागता हुआ (जानकर भी न करता हुआ) द्वापर, कर्मों में उद्यत हुआ त्रेता और करता हुआ सत्य युग होता है * ॥ ३०२॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वंराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि, और पृथिवी के तेज के योग्य राजा बर्ताव करे ॥ ३०३ ॥ इन्द्र जिस तरह बरसात के चार महीने बरसता है, वैसे इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ देशपर कामनाओं (के पूरा करने) की वर्षा करे ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथाहरेत्करं राष्ट्रान्नित्यकमर्कव्रतं हितत् ॥ ३०५ ॥

जैसे सूर्य आठ महीने रश्मियों द्वारा जल खींचता है, वैसे देशसे सदा † कर लेवे, यह सूर्य का व्रत है ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथाचरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

---

* मिलाओ ऐत० ब्रा० ७।१५ ॥

† नन्द० 'नित्यं' के स्थान 'सम्यक्' भलीभान्ति, पढ़ता है ॥

जैसे वायु सब जन्तुओं के अन्दर प्रवेश करके विचरता है, वैसे गुप्तचरों के द्वारा (सब के अन्दर) प्रवेश करे, यह वायु का व्रत है॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्धएवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रत मेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥
यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥३११॥
एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे परएव च ।

जैसे यम समय आने पर (निष्पक्ष हो अपराधानुसार) दण्ड देता है, वैसे राजा से प्रजा दण्डनीय होनी चाहिये, यह यम का व्रत है ॥ ३०७ ॥ वरुण से जैसे फांसों द्वारा बांधा हुआ ही दीखता है (पहले कुछ पता नहीं लगता) इस प्रकार पापियों को दण्ड दे, यह वरुण का व्रत है ॥ ३०८ ॥ जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे जिसपर प्रकृतियें प्रसन्न हैं, वह राजा चन्द्र व्रत वाला है ॥ ३०९ ॥ पाप करने वालों पर सदा प्रचण्ड

और तेजस्वी हो, और दुष्ट सामन्तों (हद पर रहने वालों) के मारने वाला हो, यह अग्नि का व्रत है ॥३१०॥ पृथिवी जैसे सब भूतों (उच्च नीचों) को तुल्य धारण करती है, वैसे (उच्च, नीच, दीन, अनाथ) सब भूतों को धारण करे, यह पृथिवी का व्रत है ॥३११॥ इन उपायों से और (अपनी बुद्धि से समझे) अन्य उपायों से युक्त राजा साव धान हो अपने देश में (रहते हुए) और दूसरे (देश) में (रहते हुए अपने देश में आकर चोरी करने वाले) चोरों को रोके ॥३१२॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥३१३॥
यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥

(कोश के क्षय आदि से) बड़ी आपदा में पड़ा हुआ भी ब्राह्मणों को (धनग्रहणादि से) प्रकुपित न करे, क्योंकि वह कुपित हुए इसको जल्दी सेना और वाहनों समेत मार सक्ते हैं ॥

जिन्हों ने अग्नि को सर्वभक्षी और समुद्र को अपेय (खारी) बना दिया, चन्द्र को क्षीण होने और पूरा होनेवाला बना दिया, उनको प्रकुपित करके कौन नहीं नष्ट होगा * ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥३१५॥

---

* इस श्लोक में जिन कथाओं की ओर इशारा है, वह महाभारत मोक्ष धर्म १२ । ३४४, ५५, ५७—५८, ६०—६१ में दी हैं कि भृगु ने शाप से अग्नि को सर्वभक्षी बनाया, वडवामुख ऋषि ने समुद्र को खारी बनाया, और दक्ष ने चन्द्र को घटने बढ़ने वाला।

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्मचैवधनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः॥३१६॥
अविद्वांश्चैवविद्वांश्च ब्राह्मणोदैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥३१७॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभि वर्धते ॥ ३१८ ॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हितत् ॥३१९॥

जो कुपित हुए दूसरे लोकों और दूसरे लोकपालों को रच दें,और देवताओं को अदेवता बना दें, उनको पीड़ा देता हुआ कौन बढ़ सक्ता है † ॥ ३१५ ॥ जिनके आश्रय लोक और देवता सदा खड़े हैं, और धन जिनका वेद है, कौन जीना चाहता हुआ उन को पीड़ा दे ❋ ॥ ३१६ ॥ जैसे स्थापन किया, और न स्थापन किया अग्नि बड़ा देवता है, इसप्रकार अविद्वान् और विद्वान् ब्राह्मण बड़ा देवता है ॥ ३१७॥ जैसे तेजस्वी अग्नि श्मशानों में भी दूषित नहीं होता है, किन्तु यज्ञ में बुलाया हुआ फिर भी बढ़ता ही है ॥ ३१८ ॥ इसप्रकार यद्यपि सारे ही अनिष्ट कर्मों में वर्त्तमान हों, तथापि ब्राह्मण सर्वथा पूजनीय हैं, यह बड़े देवता हैं ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥

† दूसरे लोकों को विश्वामित्र ने रचा, दूसरे इन्द्र (लोक पाल) को बालखिल्यों ने, और माण्डव्य के शाप से यम (देवता) विदुर बना (महाभारत १ । १०८, १६) ❋ देखो पूर्व १ । ९३—९५

ब्राह्मणों के प्रति सब प्रकार से बहुत ऊंचे आए क्षत्रबल का, ब्रह्म-बल ही रोकनेवाला है, क्योंकि क्षत्रबल ब्रह्मबल से उत्पन्न हुआ है

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥
नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्मक्षत्रं च संयुक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥
दत्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥३२३॥
एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥३२४॥

जलों से अग्नि, ब्रह्म से क्षत्र, और पत्थर से शस्त्र प्रकट हुआ है, उनका सब जगह पहुंचने वाला तेज अपने कारणों में ठण्डा होजाता है ॥ ३२१ ॥ बिना ब्रह्म के क्षत्र नहीं बढ़ता, और बिना क्षत्र के ब्रह्म नहीं बढ़ता है, ब्रह्म और क्षत्र मिला हुआ लोक परलोक में बढ़ता है * ॥ ३२२ ॥ दण्ड से उत्पन्न हुआ सारा धन (जो विनियोग से बचा हुआ हो) ब्राह्मणों को देकर, राज्य भारको पुत्र पर डालकर रण में प्राणत्याग करे॥३२३॥ इसप्रकार राजधर्मों में सदा सावधान होकर विचरता हुआ राजा सब भृत्यों को प्रजा के हित में लगाए रहे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥३२५॥

* वासि० १९ । ४ गौत० ११ । १४ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्त्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥३२६॥

यह राजा का सारा सनातन कर्मानुष्ठान कह दिया, अब क्रमशः वैश्य और शूद्र की यह कर्म विधि जाने ॥ ३२५ ॥ वैश्य जिसका संस्कार (उपनयन) होचुका है, विवाह करके व्यापार में और पशुओं के पालन में सदा सावधान हो * ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाःपरिददे प्रजाः ॥३२७॥
न च वैश्यस्य कामःस्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथञ्चन ॥३२८॥
मणिमुक्ताप्रवालानां लौहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥३२९॥
बीजानामुप्तिविच्चस्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः॥३३०॥
सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१
भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥३३२॥

ब्रह्मा ने पशु रचकर वैश्य को सौंपे हैं, और ब्राह्मण और क्षत्रिय को सारी प्रजाएं सौंपी हैं ॥३२७॥ वैश्य की ऐसी इच्छा कभी न

* देखो आगे १०। ७७-७८

हो, कि मैं पशुओं की रक्षा न करूं, और जब वैश्य चाहता है तो फिर दूसरे से कभी रक्षा न कराए ॥ ३२८ ॥ मणि, मोती मुलियें, धातें, वस्त्र, गन्ध और रसों के भावों के बल अबल को जाने रहे ॥ ३२९ ॥ (सब प्रकार के) बीजों के बोने को और क्षेत्र के गुण दोष को जाननेवाला हो, सब प्रकार के माप और तोल को जाने ॥ ३३० ॥ वस्तुओं के सार असार, देशों के गुण अवगुण और व्यवहार्य वस्तुओं के लाभ अलाभ और पशुओं का बढ़ाना जाने ॥ ३३१ ॥ (भिन्न २ योग्यता के) नौकरों की भृति (तनख्वाह) जाने, मनुष्यों की नाना भाषाएं जाने, वस्तुओं के रखने की युक्ति और क्रय विक्रय को जाने ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥
विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

धर्म से धन के बढ़ाने में पूरा प्रयत्न करे, और सब भूतों को अन्न ही प्रयत्न से दे ॥ ३३३ ॥ वेद के जाननेवाले यशस्वी गृहस्थ ब्राह्मणों की सेवा ही शूद्र का परम कल्याणकारी धर्म है † ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहङ्कृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५
एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तं निबोधत ॥ ३३६ ॥

† ३३४—३३६ देखो आगे १० । १२१—१२९

स्वच्छ रहनेवाला, ऊंचे (वर्णों) की सेवा करनेवाला, मृदु बोलने वाला, निरहंकार, ब्राह्मणादि का आश्रय लिए, * (शूद्र) उत्कृष्ट जाति को प्राप्त होता है ॥ ३३५ ॥ यह वर्णों का बिना आपत्काल के कर्मानुष्ठान कहा, अब आपत्ति में जो उनका धर्म है उसको (मिश्रित वर्णों के वर्णन के पीछे) जानो ॥ ३३६ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अधीयीरंस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान्यथाविधिः ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥
वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥३॥
ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थएकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

† अपने कर्मों में स्थित द्विजाति तीनों वर्ण (वेद को) पढ़ें, ब्राह्मण इनको पढ़ाए, न कि दूसरे दोनों (क्षत्रिय, वैश्य पढ़ाएं) यह निश्चय है ⁂ ॥ १ ॥ ब्राह्मण सब (वर्णों) की जीविका के उपायों को शास्त्रानुसार जाने, और दूसरों को उपदेश करे, और आप

---

* " ब्राह्मणोपोश्रयः " पाठ, (मेधा० गोवि० नारा०) ।

† चारों वर्णों के कर्त्तव्य कहकर अब वर्णों की और वर्णसंकरों की उत्पत्ति और उनकी वृत्तियें बतलाते हैं ⁂ अब्राह्मण से अध्ययन

वैसा हो (शास्त्रानुसार जीविका करे)* ॥ २ ॥ (अपने गुणों की) विशेषता से, अपने कारण की श्रेष्ठता से, और (विशेष) नियम † के धारने से, और संस्कार (उपनयन) की विशेषता से ब्राह्मण सारे वर्णों का स्वामी है ‡ ॥३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य यह तीनों वर्ण द्विजाति (द्विजन्मा) हैं, चौथा एक जाति (एक जन्मा) है शूद्र, पांचवां (कोई वर्ण) नहीं है § ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्तएव ते ॥५॥
स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥
अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमंविधिम्॥७॥
ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥८॥
क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तु रुग्रोनाम प्रजायते ॥ ९ ॥
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेवर्णयोर्द्वयोः ।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

आपत्काल में विहित है, देखो पूर्व २ । २४१–२४२ * वासि० १ । ३९–४१ गौतं० ११ । २५ † स्नातक के नियम जो चौथे में कहे हैं (मेधा० गोवि०, नारा०, राघ०) नियम = वेद (कुल्लू०) ‡ देखो पूर्व १ । ९३ § वासि० २ । १—२ आप० १ । १ । ३ याज्ञ० १ । १०

सारे वर्णों में अपने तुल्य वर्ण की अक्षतयोनि(कंवारी,विवाही)पत्नियों में से अनुलोमता से जो उत्पन्न हुए हों, वह जाति से वही जानने चाहिए * ॥५॥ बिना व्यवधान (निचले वर्ण में) उत्पन्न हुई स्त्रियों में से जो पुत्र द्विजों ने उत्पन्न किये हैं, उनको माता की निचाई से नीच होने के हेतु सदृश ही कहते हैं † ॥ ६ ॥ व्यवधान रहित स्त्रियों में से उत्पन्न हुओं की यह सनातन विधि है, दो वा एक (वर्ण) के व्यवधान वालियों में से उत्पन्न हुओं की यह धर्मयुक्त विधि जाने ‡ ॥ ७ ॥ ब्राह्मण से वैश्य की कन्या में से अंबष्ठ उत्पन्न होता है, शूद्र की कन्या में से निषाद जो पारशव कहलाता है § ॥ ८ ॥ क्षत्रिय का शूद्र की कन्या में से क्रूर आचार विहार वाला, क्षत्रिय शूद्र के स्वभाव वाला उग्रनामी उत्पन्न होता है ॥९॥ ब्राह्मण का तीनों वर्णों (की स्त्रियों) में से, क्षत्रिय का दोनों में से, और वैश्य का एक में से यह छः 'अपसद' कहे हैं ॥१० ॥

१६। * आप० २।१३। १ याज्ञ० १। ९० विष्णु० १६। १ इसमें अक्षतयोनि और अनुलोमता यह दो शब्द विचारणीय हैं। यदि अक्षत योनि के ही पुत्र उस वर्ण के होते हैं, तो सहोढ और कानीन, तथा कुण्ड और गोलक किस वर्ण के होंगे ? राघ० ने यह उत्तर दिया है, कि उनका द्विज होना गौण है। अनुलोमता से अभिप्राय सीधे क्रम से है अर्थात् ब्राह्मण का ब्राह्मणी में से, क्षत्रिय का क्षत्रिया में से, (मेधा०, गोवि०, कुल्लू०) बडी आयु के वर द्वारा छोटी आयु की स्त्री में से (नारा०, राघ०) † ६-१६ वासि० १८ गौत० ४। १६ -२८ बौधा० १। १६। ६-१७ याज्ञ० १। ९१-९५ विष्णु० १६। २-१५ सदृश ही = पिता के सदृश न कि पिता के सजातीय (कुल्लू०) माता के समान वर्ण ही (नन्द०) मिलाओ आगे १४ ‡ दो का व्यवधान जैसे ब्राह्मण का शूद्रा में से, एक का व्यवधान जैसे ब्राह्मण का वैश्या में से § देखो पूर्व ९। १७८ यहां पारशव अलग संज्ञा का प्रयोजन यह है, कि यह निषाद उस निषाद से अलग है, जो प्रतिलोमज है और मछलियें पकड़ना जिसकी जीविका है ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान्मगधवैदेहौ राजविप्रांगनासुतौ ॥ ११ ॥
शूद्रादायोगवःक्षत्ता चण्डालश्चाऽधमोनृणाम् ।
वैश्यराजन्य विप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

(अनुलोम कहकर प्रतिलोम कहते हैं) क्षत्रिय से ब्राह्मण की कन्या में से जाति से सूत उत्पन्न होता है, वैश्य से क्षत्रिया और ब्राह्मणी के पुत्र मागध और वैदेह होते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणी में से आयोगव, क्षता और चण्डाल जो मनुष्यों में नीच है, यह वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥
पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् ।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

अनुलोमता में एक के व्यवधान में जैसे अंबष्ठ और उग्र माने हैं, प्रतिलोम उत्पत्ति में वैसे क्षत्ता और वैदेह हैं * ॥१३॥ द्विजों के पुत्र जो क्रम से एक ही वर्ण नीचे की स्त्रियों में से उत्पन्न हुए हैं, उनको माता की निचाई से माता के वर्ण से बुलाते हैं † ॥१४॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतोनाम जायते ।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यामायोगव्यांतुधिग्वणः ॥ १५ ॥

---

* बिन व्यवधान के प्रतिलोम की अपेक्षा एक का व्यवधान होने से निन्दित हैं ॥ † माता की जाति के अनुसार उनके संस्कार हों (मेधा० गोवि० कुल्लू० नारा० नन्द०) देखो आगे ४१ ।

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥
सूतोवैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधःक्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अब जो संकरजातियां प्रतिलोम और अनुलोमों के परस्पर मिलाप से होती हैं, उनको पूर्णतया कहूंगा ॥२५॥ सूत, वैदेहक, और मनुष्यों में नीच चण्डाल, मागध, क्षत्ता, और आयोगव ॥२६॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥
यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्यजायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यांतु तथा बाह्येष्वपिक्रमः॥२८॥
ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥
प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यातरान्पुनः ।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥

यह छः अपनी जाति में, माता की जाति में और उत्कृष्ट जाति में अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में से दो में (क्षत्रिय वैश्य में) ब्राह्मण का पुत्र द्विज होता है, और अपनी जाति में भी द्विज होता है, वैसे बाह्यों में

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तुयान् ।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानितिविनिर्दिशेत् ॥२०॥
व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
आवन्त्यवाटधानौच पुष्पधःशैखएवच ॥ २१ ॥
झल्लो मल्लश्चराजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविडएवच ॥ २२ ॥
वैश्यात्तुजायतेव्रात्यात्सुधन्वाचार्यएवच ।
कारूषश्चविजन्माच मैत्रः सात्वतएव च ॥२३॥

द्विज अपने वर्ण की स्त्रियों में से जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, वह यदि (उपनयन) व्रत से हीन हों, तो उन, सावित्री से भ्रष्ट हुओं को व्रात्य बतलाएं * ॥ २० ॥ व्रात्य ब्राह्मण से दुष्टात्मा भूर्जकण्टक, आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध वा शैख उत्पन्न होता है † ॥२१॥ क्षत्रिय व्रात्य से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि नट, करण, खस वा द्रविड होता है ॥ २२ ॥ वैश्यव्रात्य से सुधन्वाचार्य,कारूष,विजन्मा मैत्र वा सात्वत उत्पन्न होता है॥२३॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥ २४ ॥

वर्णों के परस्पर व्यभिचार से, न विवाहने योग्य (सगोत्रा आदि) को विवाहने से, और अपने कर्मों के त्याग से वर्ण संकर होते हैं (इस लिये इस प्रकरण में व्रात्यों का कथन है) ॥२४॥

---

* देखो पूर्व २।३९ † यह एक के ही देश भेद से भिन्न नाम है (इसी तरह अगले दोनों श्लोकों में भी) (कुल्लू०) यहां भूर्ज कण्टक के स्थान, (मेधा०) भृज्जकण्टक कहता है ॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमाऽनुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥२५॥
सूतोवेदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधःक्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अब जो संकरजातियां प्रतिलोम और अनुलोमों के परस्पर मिलाप से होती हैं, उनको पूर्णतया कहूंगा ॥२५॥ सूत, वैदेहक, और मनुष्यों में नीच चण्डाल,मागध, क्षत्ता, और आयोगव ॥२६॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥
यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्माऽस्यजायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यांतु तथा बाह्येष्वपिक्रमः॥२८॥
ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥
यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥
प्रतिकूलं वर्त्तमाना बाह्या बाह्यातरान्पुनः ।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥

यह छः अपनी जाति में, माता की जाति में और उत्कृष्ट जाति में अपने सदृश वर्णों को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥ जैसे तीनों वर्णों में से दो में (क्षत्रिय वैश्य में) ब्राह्मण का पुत्र द्विज होता है, और अपनी जाति में भी द्विज होता है, वैसे बाह्यों में

भी क्रम है *॥२८॥ वह (बाह्य छः) भी एक दूसरे की स्त्रियों में अधिक दोष वाले निन्दित अनेकप्रकार के बाह्यों को उत्पन्न करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणी में से बाह्य जन्तु (चण्डाल) को उत्पन्न करता है, वैसे वह बाह्य चारों वर्णों में बाह्यतर को उत्पन्न करता है॥३०॥प्रतिकूल बर्तते हुए बाह्य फिर पन्द्रह बाह्यतरों को उत्पन्न करते हैं और हीन पन्द्रह हीनों को उत्पन्न करते हैं†॥३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

---

* छपे पुस्तकों में 'क्रमात्' पाठ मिलता है। टीकाकारों के अनुसार 'क्रमः' होना चाहिये, सो कर दिया है। श्लोक का आशय यह है, कि प्रतिलोम जातियां बाह्य जातियां हैं, अर्थात् विद्या सम्बन्ध और योनि सम्बन्ध से अलग कीहुई हैं। कि जैसे ब्राह्मण का पुत्र द्विजों में (क्षत्रिया वा वैश्या में से वा अपनी योनि में से) द्विज ही होता है। वैसे प्रतिलोम में भी द्विजों की सन्तान द्विज ही होती है, अर्थात् क्षत्रिय का ब्राह्मणी में से और वैश्य का क्षत्रिया या ब्राह्मणी में से द्विज ही होता है। द्विज होने का फल यह है, कि इन छः (ब्राह्मण के २ पुत्र क्षत्रिया वैश्या में से, + क्षत्रिय का १ वैश्या में से+ १ क्षत्रिय का ब्राह्मणी से+ २ वैश्य के क्षत्रिया ब्राह्मणी में से) उपनयन के योग्य हैं (मेधा०)॥

† शूद्र से प्रतिलोम आयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल यह तीन होते हैं। इनमें से आयोगव, आयोगवी में और चारो वर्णों में इन पांच में पांच सन्तान उत्पन्न करता है, वह पांच आयोगव से निकृष्ट होते हैं, इसलिये बाह्यतर हैं। इसी तरह क्षत्ता, और चण्डाल भी अपनी २ जाति और चारो वर्णों में पांच २ सन्तान मिलाकर तीनों बाह्यों की १५ बाह्यतर जातियां बनजाती हैं। इसी प्रकार तीन जो हीन हैं (बाह्य नहीं) सूत, मागध, वैदेह (देखो ११) यह भी अपनी जाति और चारों वर्णों में १५ हीनों को उत्पन्न करते हैं॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥
निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमितियं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥३४॥
मृतवस्त्र भृत्स्वनार्यासु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥३५॥
कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥
चाण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

दस्यु * आयोगवी (=शूद्र से वैश्या की कन्या) में से सैरिन्ध्र को उत्पन्न करता है, जो (बालों को) सजाने और (अंगों को मलने आदि) सेवा को जानता है, दास न होकर, दासों की जीविका करता है, वा फांसों से (हिरण आदि पकड़ कर) जीविका करता है ॥ ३२ ॥ (वैश्य से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुआ) वैदेह मीठा बोलने वाले 'मैत्रेयक' को उत्पन्न करता है, जो प्रातःकाल घण्टा बजाकर राजाओं की स्तुति पढ़ता है॥३३॥(ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ) निषाद आयोगवी में से)नौका चलाने से जीविका करने वाले'मार्गव''दास'को उत्पन्न करता है,जिसको आर्यावर्त निवासी कैवर्त कहते हैं॥३४॥ मृतकों के वस्त्र पहनने वाली, निन्दित अन्न (लहसन आदि वा जूठा आदि)

* 'दस्यु' देखो आगे ४५।

खाने वाली अनार्या * आयोगवी में से अलग यह तीनों हीनजाति के (सैरिन्ध्र, मैत्रेयक, मार्गव) उत्पन्न होते हैं॥३५॥वैदेही में से निषाद से 'कारावर' 'चमार'। वैदेहिक से अन्ध्र और मेद, जो गाओं से बाहर रहते हैं, चण्डाल से 'पाण्डुसोपाक' जो बांस के व्यवहार वाला है, और निषाद से वैदेही में ही आहिण्डिक उत्पन्न होता है॥३६-३७॥

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदासज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥
निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपिगर्हितम् ॥ ३९ ॥
सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥४०॥

चण्डाल से पुक्कसी (निषाद से शूद्रा की कन्या) में से सज्जनों से सदा निन्दित पापात्मा 'सोपाक' उत्पन्न होता है, जिसकी वृत्ति मारने योग्यों को (राजा की आज्ञा से) मारना है†॥३८॥ निषाद की स्त्री चण्डाल से श्मशान में रहने वाले 'अन्त्यावसायी' पुत्र को जनती है, जो बाह्यों का भी निन्दित है ॥ ३९ ॥ वर्णसंकर में जो यह जातियें पिता माता के द्वारा दिखलाई हैं, यह गुप्त वा प्रकट अपने २ कर्मों से जाननी चाहियें ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाःस्मृताः ॥४१॥

---

*मेधा०गोबि०कुल्लू०नन्द० के अनुसार 'मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु' पाठ पढ़ा है † मूल खोदकर उनके बेचने से जीविका करने वाला (नारा० नन्द० राम०) ॥

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगेयुगे ।
उत्कर्षंचापकर्षं च मनुष्येष्विहजन्मतः ॥ ४२ ॥

(आर्यों के) सजाति में से उत्पन्न हुए (ब्राह्मण के ब्राह्मणी में से, क्षत्रिय के क्षत्रिया में से, वैश्य के वैश्या में से) और अनन्तर जाति में से उत्पन्न हुए (ब्राह्मण का क्षत्रिया, वैश्या में से, क्षत्रिय का वैश्या में से) यह छः पुत्र द्विजों के धर्म वाले हैं (उपनयन के योग्य हैं) और प्रतिलोम से उत्पन्न हुए सभी शूद्रों के समान धर्मी कहे हैं ॥४१॥ यह सब तप के प्रताप से (विश्वामित्र की तरह) और बीज के प्रताप से (ऋष्यशृंग की तरह) समय २ पर मनुष्यों में से यहां ऊंची नीची जाति को प्राप्त होते हैं*।४२।

शनकैस्तुक्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाःशकाः ।
पारदा पल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥४४॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥

(जैसाकि) यह क्षत्रिय जातियें (उपनयन आदि) क्रियाके लोप से, और ब्राह्मणों के (कर्म कराने के अर्थ) न मिलने से † लोक में धीरे २ शूद्रता को प्राप्त हुई हैं ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रक, ओड्र, द्राविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन, किरात, दरद और खश ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की जो

---

*देखो आगे ६४ † मेधा० गोवि० ने ' ब्राह्मणातिक्रमेण=ब्राह्मणों को उलांघने से' पाठ माना है ।

जातियें (धर्म से) बाहर होगई हैं, वह चाहे म्लेच्छ भाषा बोलती हैं, चाहे आर्य भाषा बोलती हैं, वह सब दस्यु कहे गए हैं ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदा येचापध्वंसजाःस्मृताः ।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥
सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानांचिकित्सनम् ।
वैदेहकानांस्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥
मत्स्यघातोनिषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ।
मेदान्ध्रचुञ्चुमुद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् ।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥४९॥
चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।
वसेयुरेते विज्ञाता वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

जो द्विजों के अपसद हैं, और जो अपध्वंसज कहे हैं, वह द्विजों के ही निन्दित कर्मों से जीविका करें *॥ ४६ ॥ सूतों का (कर्म) घोड़ों का सिधाना चलाना, अम्बष्ठों का चिकित्सा करना, वैदेहिकों का अन्तःपुर की रक्षा, मागधों का वणिज ॥ ४७ ॥ निषादों का मछलियें मारना, आयोगव का तरखाना काम, मेद, अन्ध्र, चुञ्चु और मुद्गु का जंगली पशुओं का मारना ॥ ४८ ॥ क्षत्ता उग्र और पुक्कसों का बिल में रहने वालों (गोह आदि) का बांधना, मारना, धिग्वणों का चमड़ा बनाना बेचना, वेणों का बर्तन (कंसी आदि) बजाना ॥४९॥यह (गाओं आदि के पास के) प्रसिद्ध

* देखो पूर्व १७ और ४१ ।

वृक्षों के नीचे, श्मशानों में, पर्वतों और उपवनों में अपने कर्मों से प्रकट जीविका करते हुए बसें ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥
वासांसि धृतचैलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥५२॥
नतैःसमयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहःसदृशैः सह ॥ ५३ ॥
अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद् भिन्नभाजने ।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥
दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिन्हिता राजशासनैः ।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥
वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया ।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥५६॥

चण्डाल और श्वपचों का ग्राम से बाहर निवास हो और यह पात्र से अलग कर देने चाहियें, धन इनका कुत्ते और गधे हों॥५१॥ वस्त्र, मुरदों के कपड़े हों, भोजन टूटे बर्तनों (ठीकरों) में हो, भूषण लोहे के हों, और नित २ घूमते फिरें ॥५२॥ धर्मानुष्ठान करता हुआ पुरुष इनके साथ संगत (बैठना, बोलना आदि) न चाहे, उनका (लेनदेन का) व्यवहार और विवाह आपस में तुल्यों के साथ हो ॥ ५३ ॥ अन्न इनको टूटे बर्तन में दूसरे के आधीन करके

(=दास द्वारा) देना चाहिये, रातको वह गाओं में वा नगरों में न विचरें ॥ ५४ ॥ दिन को कार्य के लिये राजा की आज्ञा से (अपना) चिन्ह * लगाए हुए फिरें, और अनाथ मुरदे को ग्राम से बाहर लेजाएं, यह मर्यादा है ॥ ५५ ॥ राजा की आज्ञा से शास्त्रानुसार सदा बध के योग्य के वस्त्र, शय्या और भूषण लेवें।५६।

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥
अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

वर्ण से अलग हुआ, जो संकर योनि पुरुष, बे मालूम हो, उस अनार्य को जो आर्यों के रूप में हो, अपने कर्मों से जाने ॥५७॥ अनार्यपन, कठोर बोलना, क्रूर होना, कर्म से हीन होना यह (धर्म) इस लोक में संकरयोनि को प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा ।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥५९॥
कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः ।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥
यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

---

*लोहे के भूषण वा मोर के पिच्छ आदि (नारा०)। † ५७-५९ वासि० १८।७ विष्णु० १६। १७।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥६२॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥

(क्योंकि वह) पिता के स्वभाव को, वा माता के स्वभाव को वा दोनों के स्वभाव को सेवन करता है, दुष्टयोनिवाला अपने कारण को किसी तरह छिपा नहीं सक्ता है ॥ ५९ ॥ शुद्ध कुल में उत्पन्न हुए का भी जिसका (गुप्त) जाति संकर हो, वह मनुष्य उसके स्वभाव को थोड़ा बहुत लेताही है ॥६०॥ जहां यह वर्णों के बिगाड़ने वाले वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह देश देशवासियों समेत जल्दी नष्ट होता है (इसलिये राजा को वर्णसंकर रोकना चाहिये) ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण के लिये, गौ के लिये, स्त्री वा बाल की सहायता के लिये शुद्ध भावना से देह का त्याग प्रतिलोमजों को सिद्धि (स्वर्ग) देने वाला है *॥ ६२ ॥ किसी को न सताना, सत्य बोलना, किसी का हक़ न दबाना वा छीनना (मट्टी जल आदि से) शुद्धि, इन्द्रियों का संयम यह संक्षेप से चारों वर्णों में मनु ने धर्म कहा है † ॥ ६३ ॥

शूद्रायांब्राह्मणाज्जातः श्रेयसाचेत्प्रजायते ।
अश्रेयाञ्श्रेयसींजातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥६४॥
शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

---

*विष्णु०१६।१८ † गौत०८।२३ याज्ञ १।१२२ इस प्रकरण में कहने से संकर जातियों का भी यही धर्म जानना चाहिये (कुल्लू०)।

शूद्रा में से ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ यदि श्रेष्ठ से सन्तान उत्पन्न करे, तो न श्रेष्ठ भी सातवें जन्म में श्रेष्ठ जाति को प्राप्त होता है * ॥ ६४ ॥ शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है। इसी प्रकार क्षत्रिय से उत्पन्न हुए को और वैसे ही वैश्य से उत्पन्न हुए को जाने † ॥ ६५ ॥

---

* गौत० ४।२२ आप० २।१०-११ याज्ञ० १।९६ मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० यह अभिप्राय लेते हैं, कि ब्राह्मण की शूद्रा में से उत्पन्न हुई कन्या, यदि ब्राह्मण को विवाही जाए और उसकी फिर ब्राह्मण को, इसप्रकार छटी पीढ़ी में जाकर जो आगे सन्तान होगी, अर्थात् सातवीं पीढ़ी, वह शुद्ध ब्राह्मण समझे जाएंगे (इस अभिप्राय में 'ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ' यह पुंलिंग जाति के अभिप्राय से है तात्पर्य कन्या से है, पुत्र से नहीं, जैसे पूर्व श्लोक ३२ में 'आयोगव' पुँलिंग स्त्री के अभिप्राय से है-सम्पादक) नारा० नन्द० के अनुसार ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न हुआ पारशव, यदि आप भी सदाचारी हो, और सदाचारिणी ही पारशवी को विवाहे, तो इस तरह उसकी सन्तान सातवीं पीढी में शुद्ध ब्राह्मण बनजाती है। † कुल्लू० राघ० के अनुसार पूर्वोक्त रीति से शूद्र अर्थात् ब्राह्मग का शूद्रा में से उत्पन्न हुआ पुत्र सातवीं पीढी में शुद्ध ब्राह्मण होजाता है, और ब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से शूद्रा में से उत्पन्न हुआ आगे यदि शूद्रा स्त्री को ही विवाहता जाए, तो सातवीं पीढी में शुद्ध शूद्र होजाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न हुए में जाति का बदलना जानना चाहिये। किन्तु 'याज्ञवल्क्य १।९६ में पांचवीं पीढी में भी जाति का बदलना कहने से क्षत्रिय द्वारा शूद्रा में से उत्पन्न हुई सन्तान पांचवीं पीढी में शुद्ध शूद्र बनजाती है, और इसी नियम से वैश्य की शूद्रा में से उत्पन्न हुई सन्तान तीसरी ही पीढी में शुद्ध वैश्य वा शुद्ध शूद्र होजाती है। इसी न्याय से ब्राह्मण की वैश्या में से सन्तान पांचवें ही जन्म में, क्षत्रिया में से हुई तीसरे ही जन्म में, और क्षत्रिय की वैश्या में से हुई भी तीसरी पीढी में जाननी चाहिये

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥६६॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद् गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यइतिनिश्चयः ॥ ६७ ॥

एक पुरुष अनार्या में से यदृच्छा से (काम चार से, न कि विवाह सम्बन्ध से) ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ है, दूसरा ब्राह्मणी में से अनार्य से उत्पन्न हुआ है, इन दोनों में से श्रेष्ठता किस में है? यदि यह (संशय) हो *॥६६॥ तो निर्णय यह है, कि अनार्या नारी में से उत्पन्न हुआ आर्य गुणों से आर्य होता है, पर अनार्य से आर्या में से भी उत्पन्न हुआ (गुणों से) अनार्य ही होता है ॥६७॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मोऽव्यवस्थितः ।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥
सुबीजंचैवसुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा ।
तथार्याज्जातआर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

(कुल्लू० राघ०) नारा० यहां भी क्षत्रिय की शूद्रा में से सन्तान वा वैश्य की शूद्रा में से सन्तान अपने जैसों में ही विवाह करके भी उत्तम आचरण करते हुए सातवीं वा पांचवीं पीढी में शुद्ध क्षत्रिय और शुद्ध वैश्य बनजाते हैं, और शूद्रों कैसे कर्म करते हुए शुद्ध शूद्र बनजाते हैं। नंद० अनुलोमजों की तरह प्रतिलोमजों की भी यही व्यवस्था इस श्लोक से ठहराता है, अर्थात् शूद्र से उत्पन्न हुई प्रतिलोमज संतान भी यदि ब्राह्मणों ही में धंसती जाए, तो सातवीं पीढी में शुद्ध ब्राह्मण बनजाती है। *यहां 'अनार्या' और 'अनार्य' से शूद्र स्त्री और शूद्र पुरुष से अभिप्राय है (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० नन्द०) व्रात्य आदि की कन्या और व्रात्य आदि से अभिप्राय है (नारा०)।

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥
अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥
यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन् ।
पूजिताश्चप्रशस्ताश्च तस्माद्बीजंप्रशस्यते ॥ ७२ ॥
अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् ।
संप्रधार्याऽब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥७३॥

वह दोनों ही संस्कार के योग्य नहीं, यह धर्म मर्यादा है, पहिला जन्म की विगुणता से, दूसरा प्रतिलोम होने से ॥६८॥ जैसे उत्तम बीज उत्तम क्षेत्र में उत्पन्न हुआ पूर्ण उत्तम होता है, वैसे आर्य से आर्या में से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण संस्कार के योग्य होता है *॥ ६९ ॥ कई बुद्धिमान् बीज की स्तुति करते हैं, दूसरे क्षेत्र की, तीसरे बीज और क्षेत्र दोनों की, किन्तु इसमें यह व्यवस्था है ॥७०॥ अक्षेत्र (कालरी आदि) में बीज बोया मध्य में ही नष्ट होजाता है, विना बीज के क्षेत्र भी निरा चौंतरा ही होता है ॥ ७१ ॥ जिस लिये बीज के प्रताप से तिर्यग्योनि में उत्पन्न हुए ऋषि पूजनीय और प्रशंसनीय हुए हैं†, इससे बीज की प्रशंसा है ॥ ७२ ॥ अनार्य जो आर्य कर्मों वाला है, और आर्य जो अनार्य कर्मों वाला है, इन दोनों का विचार करके

* ६९-७२ मिलाओ पूर्व ९।३३-४१ † यहां टीकाकार ऋष्यशृंग की हरिणी से उत्पत्ति उदाहरणतया बतलाते हैं देखो पर्व० ९। २३

ब्रह्मा ने कहा न सम हैं, न असम हैं* ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥७४॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥७८॥

ब्राह्मण जो ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न हुए अपने कर्मों में स्थित हैं, वह यथाक्रम इन छः कर्मों का आश्रय लें †॥७४॥

---

* सम इसलिये नहीं, कि निरे द्विजों के कर्म करने से शूद्र द्विज बन नहीं गया । असम इसलिये नहीं, कि निषिद्ध के आचरण में दोनों तुल्य हैं (कुल्लू०) नारा० यह भाव लेता है, कि अनार्य=व्रात्य का पुत्र, ब्राह्मण का कर्म करे, और आर्य=अव्रात्य का पुत्र, खेती आदि करे, यह दोनों ब्राह्मण के सम नहीं, दोष वाले होने से, अत्यन्त नीचे भी नहीं, क्योंकि ब्राह्मण ही हैं । † ७४-८० वासि० २।१३-१९ गौत १०।१-७, ४९ आप २।१०।४-७ बौधा० १।१८।१-३ याज्ञ १।११८-११९ विष्णु २।१-७ और पूर्व १।८८-९० यथा क्रम कहने का यह अभिप्राय है, कि आप वेद पढ़े और दूसरों को पढ़ाए, आप यज्ञ करे और दूसरों से कराए, आप दान दे और दूसरों से ले (नन्द०) ।

पढ़ाना, पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना यह छः कर्म ब्राह्मण के हैं ॥ ७५ ॥ छः कर्मों में से तीन कर्म इसके जीविका हैं, यज्ञ कराना और पढ़ाना, और शुद्ध से (अपने कर्म में रते) से दान लेना ॥ ७६ ॥ तीन धर्म ब्राह्मण (के धर्म) से क्षत्रिय के लिये हट जाते हैं। पढ़ाना, यज्ञ कराना और तीसरा दान लेना ॥ ७७ ॥ वैसे ही यह वैश्य के लिये भी हट जाते हैं, यह मर्यादा है, प्रजा का स्वामी मनु उन दोनों (क्षत्रिय, वैश्य) के लिये यह धर्म नहीं बतलाता है ॥ ७८ ॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषीर्विशः ।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥
वेदाभ्यासोब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

(किन्तु प्रजा की रक्षा के लिये) शस्त्र अस्त्र का धारना यह क्षत्रिय का, और वणिज, पशु पालन, और खेती यह वैश्य का जीविका के लिये है, और धर्मार्थ-दान, पढ़ना और यज्ञ हैं॥७९॥ (जीविका के लिये भी) वेदाभ्यास ब्राह्मण का, प्रजा की रक्षा क्षत्रिय का, व्यापार वैश्य का यह अपने कर्मों में विशेष हैं ॥८०॥

अजीवंस्तुयथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण सह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥८२॥
वैश्यवृत्त्याप्यजीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपिवा ।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण अपने निज के कर्म से निर्वाह न कर सक्ता हुआ क्षत्रिय के धर्म से जीविका करे, क्योंकि वह (धर्म) इसका समीपी है*॥८१॥दोनों से निर्वाह न करसके, तो फिर कैसे हो, यदि यह संशय हो, तो खेती और पशुपालन का आश्रय लेकर वैश्य की जीविका से जीवे ॥८२॥ वैश्य वृत्ति से भी जीविका न करसके, तो ब्राह्मण वा क्षत्रिय अधिक हिंसा वाली और (वृष्टि आदि के) पराधीन† खेती को यत्न से छोड़ देवे ॥ ८३ ॥ खेती को कई अच्छा समझते हैं, पर यह जीविका श्रेष्ठों से निन्दित है, क्योंकि (इसमें) लोहे का मुखवाला काठ (हल वा कुदाल) भूमि, और भूमि में रहने वाले जन्तुओं की हिंसा करता है‡॥८४॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् ।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥
सर्वान्रसानपोहेत कृतान्नंच तिलैः सह ।
अश्मनो लवणंचैव पशवो ये चमानुषाः ॥ ८६ ॥

जीविका की त्रुटि से धर्म की निपुणता (अपनी सच्ची जीविका) त्यागते हुए (ब्राह्मण और क्षत्रिय) को वैश्य की

---

*८१-९८ वासि० २।२२।३९ गौत० ७।१-२६ आप० १।२०।१०-२१,४ बौधा० २।३।१६-२१ याज्ञ० ३।३५-४० विष्णु० २।१५; ५४।१८-२१ † पूर्व० ४।१५९-१६० में स्नातक के व्रतों में पराधीन कर्म का निषेध है ‡ यह खेती की निन्दावासि० २।३२-३६ के विरुद्ध है और यजु० १२।७१ में की खेती की प्रशंसा के विरुद्ध है ।

बेचने योग्य वस्तुएं धन के बढ़ाने के लिये बेचनी चाहियें, पर यह वस्तुएं त्याग के योग्य जान त्यागदे ॥ ८५ ॥ सारे रस, पके अन्न, तिल, पत्थर, लवण और पशु, और मनुष्य छोड़दे॥८६॥

सर्वंच तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च ।
अपिचेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥
अपःशस्त्रं विषंमांसं सोमंगन्धांश्च सर्वशः ।
क्षारंक्षौद्रंदधिघृतं तैलंमधुगुडंकुशान् ॥ ८८ ॥
आरण्यांश्चपशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्चवयांसि च ।
मद्यंनीलिंच लाक्षांच सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

रंगा हुआ हरएक प्रकार का सूती कपड़ा, सन, अलसी और ऊन के वस्त्र चाहे न भी रंगे हुए हों, फल, मूल और औषधियें (छोड़ दे) ॥ ८७ ॥ जल, शस्त्र, विष, मांस, सोम, सब प्रकार के गन्ध (चन्दन इतर आदि) खार, शहद, दही, घी, तेल, मोम, गुड़ और कुशा ॥ ८८ ॥ सारे जंगली पशु (हाथी आदि) दाढ़ों वाले (शेर आदि) और पक्षी (चकोर आदि) मद्य, नील, लाख और एकखुर वाले सभी (घोड़ा आदि) ॥८९॥

काममुत्पाद्यकृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः ।
विक्रीणीत तिलाञ्शुद्धान्धर्मार्थमचिरास्थितान् ॥९०॥
भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुतेतिलैः ।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिःसहमज्जति ॥ ९१ ॥

खेती करने वाला स्वयमेव खेती में उत्पन्न करके बेशक

धर्म के अर्थ तिलों को बेच दे, पर वह शुद्ध * हों, और (अधिक लाभ के लिये) देर तक रखे न हों ॥ ९० ॥ खाने और मलने और दान करने के सिवाय तिलों से यदि कुछ और करता है, तो कृमि बनकर कुत्ते के † विष्ठा में पितरों समेत डूबता है ॥९१॥

सद्यःपतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेणशूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥
इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः ।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥
रसा रसैर्निमातव्या नत्वेव लवणं रसैः ।
कृतान्नंचाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥९४॥

मांस के, लाख के और लवण (के बेचने) से ब्राह्मण जल्दी पतित होता है, और दूध के बेचने से तीन दिन में शूद्र होजाता है ॥ ९२ ॥ दूसरे (निषिद्ध) व्यवहार्य द्रव्यों के इच्छा पूर्वक ‡ बेचने से ब्राह्मण सातदिन में वैश्य भाव को प्राप्त होता है ॥ ९३ ॥ रस (गुड़ आदि) दूसरे रसों (घृत आदि) से बदल लेने चाहियें, पर लवण दूसरे रसों के साथ नहीं, पका अन्न, कच्चे अन्न से § और तिल धान से उनके बराबर बदले जाएं (न कि भाओ करके न्यून अधिक) ॥ ९४ ॥

---

* किसी दूसरे द्रव्य से मिले न हों (कुल्लू० राघ०) विशुद्ध= श्वेत हों, ऐसा कहने से काले तिलों का सर्वथा निषेध है (नन्द०)
† मेधा० के अनुसार 'श्व=कुत्ता' के स्थान 'सः=वह' पाठ है।
‡ नकि आपत्काल में लाचारी से § 'कृतान्नेन' तय्यार अन्न से, पाठ (मेधा० नन्द)।

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः ।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

आपदा को प्राप्त हुआ क्षत्रिय इस सब से जीविका करे, किन्तु ऊंची जीविका (ब्राह्मण की वृत्ति) कभी न स्वीकार करे ॥ ९५ ॥ जो निचली जाति का लोभ से ऊंचे के कर्मों से जीविका करे, उसको राजा निर्धन करके जल्दी ही निकाल दे॥९६॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥
वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्त्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्त्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥
अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्त्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥१००॥

अपना कर्म विगुण हुआ भी अच्छा है, न कि बेगाना चाहे बहुत अच्छा होसके, क्योंकि बेगाने कर्म से जीविका करता हुआ जल्दी जाति से पतित होजाता है * ॥ ९७ ॥ वैश्य अपनी

*ब्राह्मण को दान, मान के साथ निन्दित व्यवहार वाले से भी मिलजाए, तो वह उसके लिये अच्छे वणिज की अपेक्षा अच्छा है (नारा०)

वृत्ति से जीविका न करसके, तो अकार्यों (जूठा खाना आदि) को न करता हुआ शूद्र की वृत्ति से भी जीविका कर सक्ता है, पर सामर्थ्य वाला होकर उसे त्याग दे ॥ ९८ ॥ जब (भूख से) पुत्र स्त्री तंग हों,तो(द्विजों से पूरी जीविका न मिलने पर उनकी) सेवा करने को अशक्त हुआ शूद्र कारुक (दस्तकार-शिकलीगर आदि) के कर्मों से जीविका करे* ॥ ९९ ॥ जिन कर्मों के करने से द्विजों की सेवा होती हो, उन कारुक कर्मों और अनेक प्रकार के शिल्पों (चित्र खींचना आदि) को करे ॥१००॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद् धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण, वैश्य की जीविका न करता हुआ, यदि जीविका के अभाव से तंग होकर दुःख उठा रहा हो, तो इस धर्म का आचरण करे † ॥ १०१ ॥ विपदा को प्राप्त हुआ ब्राह्मण सब से (निन्दिततम से भी) दान लेलेवे, क्योंकि पवित्र वस्तु दूषित हो,यह शास्त्र मर्यादा से युक्त नहीं है‡१०२

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वाप्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥१०३॥
जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिवपङ्केन नसपापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

---

* ९९-१०० गौत० १०।६० विष्णु० ३ । १४ † १०१-११४ गौत० ७।४-५, २३ आप० १।१८।५-८,१४-१५ देखो उदाहरण १०३ में ‡

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माऽधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

(आपद् में) ब्राह्मणों को निन्दित, पढ़ाने, यज्ञ कराने और दान लेने से दोष नहीं होता है, क्योंकि वह अग्नि और जल के तुल्य हैं * ॥ १०३ ॥ प्राण संकट में पड़ा जो (ब्राह्मण) जहां तहां से अन्न खाता है, वह कीचड़ मे आकाशवत, पाप से लिप्त नहीं होता ॥ १०४ ॥ अजीगर्त भूख का मारा हुआ पुत्र के मारने को तय्यार हुआ, वह भूख के दूर करने को ऐसा करने पर भी पाप से लिप्त नहीं हुआ † ॥१०५॥ धर्म अधर्म के जानने वाला वामदेव (भूख से) पीड़ित हो प्राणों की रक्षा के लिये कुत्ते के मांस को चाहता हुआ (पाप से) लिप्त नहीं हुआ ॥१०६॥

भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥१०७॥
क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

महातपस्वी भरद्वाज पुत्र समेत भूख से पीड़ित हुआ निर्जन वन में वृधु † तरखान से बहुतसी गौएं दान लेता भया॥१०७॥धर्म

---

* वासि० २७।९ जैसे अग्नि अपवित्र वस्तुओं को भी भक्षण करता हुआ दूषित नहीं होता, और गंगाजल में मैला भी पड़ता हुआ दूषित नहीं करता है † अजीगर्त की कथा देखो ऐते० ब्रा० ७।१३-१६

† गोवि० ने 'वृबु' लिखा है। जो सायण ने ऋग्वेद ६।४५।३१ पर लिखा है।

अधर्म का जानने वाला विश्वामित्र भूख से पीड़ित हुआ चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की टांग लेकर खाने को तय्यार हुआ*॥१०८॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥
याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥
जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥
शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते॥११२॥

प्रतिग्रह, याजन और अध्यापन में से प्रतिग्रह निकृष्ट है, जो परलोक में ब्राह्मण के लिये बुरा है (अर्थात् आपत्काल में भी निन्दित याजन अध्यापन से काम चलसके, तो निन्दित प्रतिग्रह न ले) ॥१०९॥ क्योंकि याजन अध्यापन तो (उपनयन) संस्कार वालों के ही किये जाते हैं,पर प्रतिग्रह तो नीच जन्म वाले शूद्र से भी † किया जाता है ॥११०॥ (दुष्टों के) याजन और अध्यापन से किया पाप जप होमों से दूर होता है, (दुष्ट) प्रतिग्रह से हुआ पाप (लिये दान के) त्याग से और तप से (दूर होता है) ‡॥१११॥ ब्राह्मण अपनी वृत्ति से न निर्वाह करसक्ता हुआ, शिल और

---

*देखो महाभा० १२।१४१।२८ आदि † शूद्र और चण्डाल से भी (नारा०) ‡ वासि० २०।४५ आप० १।२८।११ विष्णु० ५४।२८ तप पर देखो ११।१९३

उञ्छ भी जहां तहां से लेलेवे, दान से शिला अच्छा है और उससे भी उञ्छ उत्तम है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥११३॥
अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यंधान्यमन्नं च पूर्वपूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

स्नातक ब्राह्मण भूख से पीड़ित हों, तो राजा से कुप्य * और धन मांगे, वह न देना चाहे, तो त्याग के योग्य† है ॥११३॥ जोते हुए खेत से बंजर; तथा गौ, बकरी, भेड़, सोना, अनाज और अन्न इनमें से पहला २, थोड़े दोष वाला है ‡ ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥
विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम्॥११७॥

---

* कुप्य=सोने चांदी से भिन्न धातें अर्थात् कांसी तांबे आदि के बर्तन। इसी तरह अनाज वस्त्रादि भी। राजा यहां शास्त्र को उलांघ कर बर्तने वाला क्षत्रिय राजा, वा शूद्र राजा अभिप्रेत है। मिलाओ पूर्व० ४।३३; ४।८४ आदि † अर्थात् जो नहीं देना चाहता, उससे न मांगे (कुल्लू०) उस राजा को त्यागदे, उसके देश में न रहे, (मेधा० गोवि० राघ०) ‡ वासि० १२।२

धन के यह सात आगम धर्मयुक्त हैं, दाय, लाभ, खरीद, जय, प्रयोग, कर्मयोग, और सत्प्रतिग्रह * ॥ ११५ ॥ विद्या (चिकित्सा आदि), शिल्प, (हुनर, चित्र बनाना आदि), मज़दूरी सेवा, पशु रक्षा, व्यापार, खेती, सन्तोष (थोड़े में), भीख और व्याज यह दस जीवन के हेतु हैं † ॥११६॥ ब्राह्मण वा क्षत्रिय व्याज न लेवें, हां (असन्त आपद् में) बहुत निचले पुरुष (सूत आदि) को देवें, वह भी धर्म (पञ्चमहायज्ञादि के पूरा करने) के लिये, और वह भी बहुत थोड़ी व्याज पर देवें‡ ११७

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन्परंशक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥११८॥
स्वधर्मो विजयस्तस्य नभये स्यात्पराङ्मुखः ।
शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥११९॥

---

* गौत० १०।३९-३२, दाय=बेर्डो की जायदाद। लाभ=दबे हुए धन का मिलना, वा मित्र वा श्वसुर से धन का मिलना। खरीद= जो वस्तु आप खरीदी हो। जय=जीत में मिला धन। प्रयोग=व्याज पर लगाना। कर्मयोग=खेती वा वणिज। सत्प्रतिग्रह=नेक से दान लेना। सभी टीकाकारों के अनुसार इन सात में से पहिले तीन चारों वर्णों के लिये धर्मयुक्त हैं, जय क्षत्रिय के लिये, प्रयोग और कर्मयोग वैश्य के लिये और सत्प्रतिग्रह ब्राह्मण के लिये। पर नारा० के अनुसार कर्मयोग=शिल्पादि कर्म से धन की प्राप्ति शूद्र का धर्म है। और नन्द० के अनुसार जय=मुकद्दमे का जीतना, प्रयोग= पढ़ाना; कर्मयोग=यज्ञ कराना है † अर्थात् आपत्काल में इन दस में से किसी से कोई जीविका करे। ‡ वासि० २।४०-४३ गोवि० नारा० 'अल्पिकां' के स्थान 'अल्पकं' पाठ पढ़ते हैं अर्थात् थोड़ा धन लगाएं।

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥१२०॥

शूद्रस्तुवृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि ।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥१२१॥

क्षत्रिय (राजा) आपदा में (पैदावार का) चौथा भाग लेता हुआ भी, प्रजा की पूरी शक्तिभर रक्षा करता हुआ (अधिक लगान के) पाप से छूट जाता है ॥ ११८ ॥ उसका अपना धर्म विजय पाना है, अतः भय में*पीठ न दे, शस्त्र के साथ वैश्यों की रक्षा करता हुआ उनसे धर्मयुक्त बलि लेवे ॥ ११९ ॥ अर्थात् अनाज में वैश्य से आठवां भाग, (सोने चांदी के लाभ में) बीसवां भाग जो कि घट से घट एक कार्षापण हो, लेवे, शूद्र, शिकलीगर शिल्पी (बढ़ई आदि) अपने कर्म से (राजा का) उपकार करें (उनसे कर न ले) † ॥ १२० ॥ शूद्र वृत्ति चाहता हुआ चाहे क्षत्रिय की सेवा करे, वा धनाढ्य वैश्य की सेवा करके जीना चाहे‡

---

* छपे 'नाहवे' के स्थान गोवि० 'न भये' पढ़ता है अर्थात् भय में पीठ न दे । 'रण में पीठ न दे' से भी अभिप्राय यही है, कि भय उपस्थित होने पर युद्ध में पीठ न दे। ऐसा ही मेधा० कुल्लू०लिखते हैं, इसलिये 'न भये' पाठ ही रखा है† मेधा० के अनुसार अनाज में आठवां अर्थात् अनाज के व्यवहारी वैश्यों से लाभ में से आठवां,और गोवि० के अनुसार किसानों से अनाज का आठवां अभिप्रेत है। पूर्व० ७।१३० में अनाज में बारहवां कहा है,सो यह आपद् में आठवां है और अत्यन्त आपद् में ११८ में कहा चौथा भाग लेवे। और वहां सोने चांदी का पचासवां कहा है, यह आपद् में बीसवां है । और ७।१३८ में शूद्रादि से महीने २ कर्म कराना लिखा है, यहां आपद् में अधिक भी करालें यह अभिप्राय है । ‡ १२१-१२९ गौत० १० । ५०-६५ याज्ञ० १।१२०-१२१

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य साह्यस्य कृतकृत्यता ॥१२२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्यनिष्फलम् ॥१२३॥
प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।
शक्तिंचावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्॥१२४॥
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदः॥१२५॥
न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥१२६॥

अथवा स्वर्ग (की प्राप्ति) के लिये, वा दोनों (स्वर्ग और जीविका) के लिये के लिये ब्राह्मणों की ही सेवा करे, क्योंकि ब्राह्मण का दास कहलाना इसकी कृतकृत्यता है ॥१२२॥ ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र का उत्तम कर्म कहा है, इससे भिन्न जो करता है, वह इसका निष्फल होता है ॥ १२३ ॥ उस (सेवक) की (सेवा की) शक्ति, (काम करने का) उत्साह और उसके पालने योग्यों का खर्च देखकर अपने कुटुम्ब से उसकी जीविका नियत करें ॥ १२४ ॥ झूठा अन्न, पुराने कपड़े, अनाज का तिलछट (वा चावलों की पिच्छ) और पुराने सामान (बर्तन आदि) देने चाहियें ॥ १२५ ॥ शूद्र में कोई पातक* (जाति से गिराने

* लहसन खाना आदि (गोवि० कुल्लू०) सूना आदि का पाप नहीं होता ब्रह्महत्या आदि का पाप उसको भी होता ही है (राघ०)

वाला कर्म) नहीं होता है, न वह संस्कार (उपनयनादि) के योग्य है, न इसका (द्विजों के) धर्म में अधिकार है, न धर्म से प्रतिषेध है॥१२६॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥१२७॥
यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

(शूद्र) जो धर्म प्राप्ति की कामना वाले हैं, अपने धर्म को जानते हैं, वह यदि मन्त्र को छोड़कर (और कामों में) नेकों (आर्यों) के आचार में स्थित होते हैं, तो वह पापी नहीं होते, अपितु प्रशंसा पाते हैं ॥ १२७ ॥ (आर्यों का) निन्दक न होकर जैसे २ भलों के आचरण का अनुष्ठान करता है, तैसे २ अनिन्दित हुआ इस लोक और परलोक को प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥
एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥१३०॥
एषधर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥१३१॥

(धन कमाने में) समर्थ भी शूद्र को धन का सञ्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणों को ही तंग करता है * ॥ १२९ ॥ यह चारों वर्णों के आपद्-धर्म कहे हैं,

---

*धन के मद से और सेवा न करने से (मेधा०गोवि०कुल्लू०राघ०)

जिनका पूरा २ अनुष्ठान करते हुए (चारों वर्ण) परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥ यह चारों वर्णों के धर्म की विधि पूर्ण कह दी है, इससे आगे प्रायश्चित्त की शुभविधि कहूंगा ॥ १३१ ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान् धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्योदेयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥
एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

* वह जो सन्तान (के लिये विवाह) चाहता है, जिसने यज्ञ करना है, जो पथिक है, जो (विश्वजित् यज्ञ में) सर्वस्व दे चुका है, गुरु के लिये (अर्थी), पिता के लिये (अर्थी), माता के लिये अर्थी, स्वाध्याय (अध्ययन अध्यापन) के लिये अर्थी, और रोगग्रस्त † ॥ १ ॥ इन नौ ब्राह्मणों को धर्म से मांगने वाले स्नातक जाने, इन निर्धनों को इनके विद्याविशेष के अनुसार देना चाहिये ॥२॥ इन नौ ब्राह्मणों को दक्षिणा सहित अन्न(वेदि

---

* पूर्व कहे अनुसार इस अध्याय में प्रायश्चित्त का विधान होना चाहिये था, पर १ से ४३ तक दान का विधान है, यह क्यों ? (उत्तर) दान से भी प्रायश्चित्त होते हैं, यह आगे दिखलाएंगे, इसलिये यहां दान के पात्र आदि का निर्णय आरम्भ में कर दिया है † गौत० ५।२१ आप० २।१०।१-२ बौधा० २।५।१९

के अन्दर) देवे, औरों को वेदि से बाहर पका अन्न देना कहा है(धन के देने में वेदि के अन्दर बाहर का कोई नियम नहीं है)*॥३॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥
कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वायोऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्ततिः ॥ ५ ॥
धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

राजा वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को यथायोग्य सारे रत्न और यज्ञ के लिये दक्षिणा (=धन) देवे ॥ ४ ॥ जो स्त्री वाला हुआ (धन) मांगकर और स्त्री विवाहता है, उसको रतिमात्र फल है, (उसमें उत्पन्न हुई) सन्तति तो धनदाता की होती है (अर्थात् होते हुए स्त्री के विवाह नहीं करना चाहिये, न ऐसे को धन देना चाहिये) † ॥ ५ ॥ वेदज्ञ पवित्र ब्राह्मणों को धन यथाशक्ति देवे, इससे मर कर स्वर्ग को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥
अतःस्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

जिसके कुटुम्ब के पालन पोषण के लिये अनाज तीन वर्ष के

---

* गौत० ५ । २२ बौध० २।५।२० † आप० २ । १० । ३ मेधा० गोवि० नारा० राघ० राम० ने इस श्लोक को छोड़ दिया है ।

लिये पर्याप्त हो वा अधिक हो वह सोम पीने योग्य है * ॥७॥ इससे थोड़े धन के होते हुए जो द्विज सोम पीता है, वह जो पहले सोम पीचुका है, † उस का फल भी नहीं पाएगा, क्योंकि ॥८॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वदः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥
भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥
यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥
योवैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ।
कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

जो समर्थ हुआ अपने कुटुम्बियों के भूखे मरते हुए दूसरे लोगों को दान देता है, उसका वह दान धर्माभास है, जो ज़ाहरा शहद है, पर विष के स्वाद वाला है (अन्त में नरक में डालता है) ॥ ९ ॥ कुटुम्बियों को तंग करके जो कुछ परलोक के लिये करता है, वह उसके लिये दुःख परिणाम वाला होता है जीते हुए भी और मरकर भी॥१०॥(क्षत्रिय आदि) यजमान का, विशेष करके ब्राह्मण का यज्ञ (दूसरे अङ्ग पूरे होकर निरा) एक अङ्ग से रुका हुआ हो, तब, जो वैश्य बहुत धन वाला हो,

---

* वासि० ८।१० याज्ञ० १।१२४ विष्णु० ५९।८ 'सोम पीने योग्य है, सोमयज्ञ कर सक्ता है। यह काम्य सोमयज्ञ के विषय में निषेध है, नित्य तो यथा कथंचित् अवश्य करना चाहिये (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) † नित्य यज्ञ में, देखो पूर्व० ४।२६, ६।१०

पर पाक यज्ञों से रहित हो और सोमयाजी न हो, उसके घर से यज्ञ की सिद्धि के लिये धन ले सक्ता है, जबकि राजा धार्मिक है*

आहरेत् त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः ।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥
योऽनाहिताग्निः शतगु रयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥
आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

यदि दो वा तीन अङ्ग रुके हों, तो शूद्र के घर से भी ले सक्ता है, क्योंकि शूद्र का यज्ञों में (स्वतन्त्र) कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १३ ॥ जो सौ गौ वाला होकर आहिताग्नि नहीं, वा सहस्र गौ वाला होकर सोमयाजी नहीं, उन दोनों के कुटुम्बों से भी बिना विचारे ले आवे † ॥ १४ ॥ जो सदा लेता है, देता नहीं, ‡ उस न देते हुए से (धक्के से) लेवे है, इसप्रकार इसका यश फैलता है और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडऽनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

---

*११-१५ गौत०१८।२४-२७ 'राजा धार्मिक हो' जो कि इस अंश में शास्त्र पर चलते को दण्ड न दे । †गोवि०के अनुसार यह नियम केवल क्षत्रिय कुटुम्ब से लेने के विषय में है, मेधा० कुल्लू० के अनुसार क्षत्रिय ब्राह्मण दोनों से ‡ 'जो सदा दान लेता है' ऐसा ब्राह्मण (गोवि० कुल्लू० राघ०) 'जो सदा कमाता ही है, दान नहीं करता, ऐसा चारो वर्णों में से कोई (मेधा० नारा०)

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥

ऐसे ही जिसने छः भोजन नहीं खाए (=तीन दिन रात भूखा रहा है) वह सातवें भोजन में हीनकर्म वाले * से एक दिन मात्र के लिये हरसक्ता है † ॥ १६ ॥ खल्यान से, खेत से, वा घर से अथवा जहां से मिले (लेवे), हां यदि वह पूछे, तो उसे साफ बतला देना चाहिये, (कि मैंने इस निमित्त चुराया है)॥१७॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥
योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥
यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥
न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥२१॥
तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥
कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥२३॥

---

* अपने से हीन कर्म वाले (मेधा०) दानादि धर्म से रहित (कुल्लू०) पति त आदि नारा०) †१६-२३ गौत० १८।२८-३२ याज्ञ० ३।४३-४४

(ऐसे निमित्तों में भी) क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन कभी नहीं हरना चाहिये, हां भूख से मरता हुआ वह दस्यु से * और यज्ञ हीन (क्षत्रिय ब्राह्मण) से हरसक्ता है ॥ १८ ॥ जो दुष्टों से धन लेकर भलों को देता है, वह अपने आपको नौका बनाकर उन दोनों को तारता है † ॥ १९ ॥ यज्ञशीलों का जो धन है, उसको बुद्धिमान् (यागादि में लगने से) देवताओं का धन कहते हैं, यज्ञ न करने वालों का जो धन है, वह असुरों का धन कहलाता है ॥ २० ॥ धार्मिक राजा उसको (ऐसे निमित्तों पर हरने वाले को) दण्ड न दे, क्योंकि राजा की ही मूर्खता से ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है ‡ ॥ २१ ॥ (इसलिये) उसके (ब्राह्मण के) कुटुम्ब को देखकर, और उसकी विद्या और आचार को जानकर राजा अपने कुटुम्ब से धर्मयुक्त जीविका नियत करे ॥२२॥ इसकी जीविका नियत करके सब से (शत्रु चोरादि से) इसकी रक्षा करे, क्योंकि रक्षा किये हुए ब्राह्मण से राजा उसके धर्म से छटा हिस्सा पाता है § ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते॥२४॥
यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
सयाति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः॥२५॥

---

* 'दस्यु' देखो १०।४५ नारा० के अनुसार यह हक राजा को है † एक का धन शुभकर्म में लगाने से, दूसरे को शुभकर्म के पूरा कराने से । नन्द० ने १९-२१ श्लोक नहीं लिखे ‡ २१-२२ देखो पूर्व० ७-१३४-१३५ § देखो पूर्व० ८।३०४

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥२६॥
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥
आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥
विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥२९॥
प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते ।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

यज्ञ के लिये ब्राह्मण शूद्र से कभी धन न मांगे, क्योंकि मांगकर यज्ञ करता हुआ मरकर चण्डाल होता है * ॥ २४ ॥ यज्ञ के लिये धन मांगकर जो सारा नहीं लगाता है, वह ब्राह्मण सौ वर्षतक भास वा काक बनता है † ॥ २५ ॥ देवता के धन को और ब्राह्मण के धन को जो लोभ से हरता है, वह पापी दूसरे जन्म में गिद्ध की जूठ से जीता है ॥२६॥ नित्य जो पशुयाग और सोमयाग हैं उनके (धनाभाव से) न होसकने में, प्रायश्चित्त के लिये, वर्ष बदलने पर (चैत्र शुक्ल के आरम्भ में) सदा वैश्वानरी इष्टि ‡ करे ॥ २७ ॥ जो द्विज बिना आपत् के आपत्काल की विधि से धर्म करता है, वह परलोक में उसका फल नहीं पाता है,

* याज्ञ० १।१२७ विष्णु० ५९।११ † याज्ञ० १।१२७ ‡ याज्ञ० १।१२६ विष्णु० ५९।१० और मिलाओ पूर्व० २५-२६

यह विचारा हुआ है ॥ २८ ॥ क्योंकि विश्वेदेवों, साध्यों, ब्राह्मणों और महर्षियों ने आपदा में मरने के भय से *(आपद्धर्म) असली कर्म का प्रतिनिधि बनाया है ॥ २९ ॥ सो जो मुख्य-विधि के समर्थ होकर अनुविधि से बर्तता है (प्रतिनिधि से कर्म करता है) उस दुर्मति को पारलौकिक फल नहीं होता है ॥३०॥

न ब्राह्मणो वेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥३१॥
स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥
श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विजः ॥३३॥

धर्मका जाननेवाला ब्राह्मण कुछ भी(अपकार)राजा से न निवेदन करे, केवल अपनी शक्ति† से ही उन अपकारी मनुष्यों को दण्ड दे‡॥३१॥ (स्वाधीन) अपनी शक्ति से और (पराधीन) राजशक्ति से (स्वाधीन होने से) अपनी शक्ति बलवत्तर है, इसलिये अपनी ही शक्ति से ब्राह्मण वैरियों का निग्रह करे § ॥ ३२ ॥ बिना विचारे ‖ अथर्व और अङ्गिरस से देखी श्रुतियों का प्रयोग करे, वाणी ही ब्राह्मण का शस्त्र है, उससे ब्राह्मण वैरियों को मारे ॥ ३३ ॥

---

* ऐसा न हो, कि भूखा ही मरजाए। † अपनी शक्ति जो आगे ३३ में कही है ‡ मिलाओ पूर्व ०९।२९० § मिलाओ पूर्व ९।३१३-३२१ ‖ 'अविचारयन्' के स्थान 'अभिचारयन्' अभिचार कर्म करता हुआ (नारा०) 'अभिचारितं' (नन्द०) अभिचारकर्म=ऐसा कर्म जिसका फल शत्रु का मरना हो।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥
विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

क्षत्रिय भुजबल से अपनी आपदा तरे, वैश्य और शूद्र धन से, ब्राह्मण जप और होम से* ॥ ३४ ॥ ब्राह्मण मर्यादा बनाने वाला, शासन करने वाला (अधर्म का दण्ड-प्रायश्चित्त-देने वाला) आचार्य, और सब का हितैषी कहा है, उसके लिये अनिष्ट वचन न कहे, न कठोर वचन कहे † ॥ ३५ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तोनासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

---

* वासि० २६।१६ † पूर्वार्ध के अर्थ में टीकाकारों का भेद है। विधाता=बनाने वाला (जगत् का अग्निहोत्र के द्वारा) (मेधा० नारा०) विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वाला (गोवि० कुल्लू०) करने, न करने और अन्यथा करने के समर्थ (राघ०) अभिचार आदि का करने वाला (नन्द०) शासिता=निग्रह करने वाला, राजा का भी (मेधा०) पुत्र शिष्यादि का (कुल्लू०) अधर्म का (नारा०) धर्म कराने वाला (नंद०) वक्ता=अध्यापक (गोवि० नारा०) हित का बतलाने वाला (मेधा०) धर्मादि का बतलाने वाला (कुल्लू० राघ०) मुद्रित पुस्तकों में जो 'शुष्कां' पाठ है, उसके स्थान मेधा० गोवि० नारा० नंद० के अर्थानुसार 'शुक्तां' पाठ चाहिये। अनिष्टवचन= इसे मारो बांधो इत्यादि। कठोरवचन, नीच मूर्ख इत्यादि। नारा० 'ब्रूयात्' के स्थान 'कुर्यात्' पढ़ता है। अर्थ-उसके लिये न अनिष्ट करे, न कठोर बोले।

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत् ।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

न कन्या, न (विवाही हुई) युवति, न थोड़ी विद्यावाला, न मूर्ख, न पीड़ित, न जिसका उपनयन नहीं हुआ वह, अग्निहोत्र का होता हो * ॥ ३६ ॥ यह होम करते हुए नरक में गिरते हैं, और वह (यजमान) भी, जिसका वह कर्म है, इसलिये श्रौत कर्मों में कुशल, वेद के पार पहुंचा हुआ होता होना चाहिये ।३७।

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
नत्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथञ्चन ॥ ३९ ॥
इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्त्तिं प्रजाः पशून् ।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

ब्राह्मण धन के होते हुए यदि प्रजापति देवता के लिये घोड़ा अग्न्याधान की दक्षिणा न दे, तो वह अनाहिताग्नि होता है (आधान का फल नहीं पाता है) ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय हुआ दूसरे पुण्यकर्म करे, किन्तु थोड़ी दक्षिणा वाले यज्ञों से कभी यजन न करे ॥ ३९ ॥ थोड़ी दक्षिणा वाला यज्ञ इन्द्रिय, (जीतेजी) यश, स्वर्ग, आयु, (मरने के पीछे) कीर्ति, प्रजा और पशुओं को हनन करता है, इसलिये थोड़े धनवाला यज्ञ न करे ॥४०॥

* ३६-३७ वासि० ३।६ गौत० ३।४ आप० २।१५।१८-१९ और पूर्व० २।१७२; ५।१५५; ९।१८

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥
ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥४२॥
तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥४३॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छा से अग्नियों को त्यागकर (=सायं प्रातः होम न करके) महीनाभर चान्द्रायण करे, क्योंकि वह वीर, * हत्या के तुल्य है † ॥४१॥ जो शूद्र से धन पाकर अग्निहोत्र करते हैं, वह शूद्रों के ऋत्विज हैं, वेद वादियों में निन्दित हैं ‡ ॥४२॥ वह जो सदा शूद्र की अग्नियों को § उपासते हैं, उन मूर्खों के माथे पर पाओं धर कर दाता दुःखों को तर जाता है ॥४३॥

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥
अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

विहितकर्म को न करता हुआ और निन्दित को करता

---

* वीर=पुत्र (गोवि० कुल्लू० नारा० राघ०) अग्नियें पुत्र इस लिये हैं, कि आप उत्पन्न की होती हैं (नारा०) वीर=क्षत्रिय (नंद०) अथवा वीर=देवता (राघ०) † वासि० १।१८; २१।२७ गौत० २२।३४ विष्णु० ५४।१३ ‡ मिलाओ पूर्व० ११।२४ § शूद्र के धन से अग्निहोत्र करते हैं। नन्द० पूर्वार्ध को इस तरह पढ़ता है 'पापानां सततं तेषामग्निं शूद्रस्य जुह्वतां'।

हुआ, तथा इन्द्रियों में फंसा हुआ मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होता है* ॥४४॥ बुद्धिमान् पुरुष बिन इच्छा (बिनमर्ज़ी) से किये पाप में प्रायश्चित्त कहते हैं, दूसरे आचार्य इच्छा करके किये में भी कहते हैं, क्योंकि श्रुति में देखते हैं † ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥४६॥
प्रायश्चीत्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥४७॥
इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

बिन इच्छा किया पाप वेदाभ्यास से शुद्ध होता है, और मोहवश इच्छा से किया पाप भिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों से (शुद्ध होता है) ॥ ४६ ॥ प्रमाद से वा पूर्वले (जन्म के) कर्म से ‡ प्रायश्चित्ती होकर द्विज प्रायश्चित्त किये बिना धर्मात्माओं के साथ संसर्ग न करे ॥ ४७ ॥ कई यहां के खोटे कर्मों से, और कई पूर्वले (जन्म में) कियों से रूप के उलट पलट को

---

* ४४-४६ वासि० २०।१-३ ; २२ गौत० १९ बौधा० ३।१० याज्ञ० ।२१९, २२६ † ऐत० ब्रा० ७।२८ में लिखा है; कि इन्द्र ने यतियों को भेड़ियों के आगे डाल दिया (भेड़ियों के आगे डालना बिना इच्छा नहीं होसक्ता) उसको हत्या लगी, वह प्रायश्चित्त के लिये ब्रह्मा के पास गया, ब्रह्मा ने उसको प्रायश्चित्त के लिये उपहव्य में बतलाया। ‡ पूर्वले जन्म का पाप, खोटे नख होने इत्यादि शरीर में आई त्रुटियों से अनुमान किया जाता है।

प्राप्त होते हैं (इसलिये भी प्रायश्चित्त करना चाहिये *॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥
पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

(ब्राह्मण के) सोने का चुराने वाला खोटे नखों को, शराब पीने वाला काले दांतों को, ब्रह्महत्या करने वाला क्षयरोग को, और गुरुस्त्रीगामी दुष्ट चमड़े को (पाता है) ॥ ४९ ॥ चुगली खाने वाला नाक की दुर्गन्धि को, झूठी निन्दा करने वाला मुंह की दुर्गन्धि को, अनाज का चोर अंगहीनता को और (अनाज) मिलाने वाला अङ्ग की अधिकता को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

अन्नहर्ताऽऽमयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥
एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥
चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥५३॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥५४॥

अन्न चुराने वाला अग्नि की मन्दता (बदहज़मी) को, वाणी

---

* ४८-५४ नारद० १।१८; २०।६; २१।४३-४४ याज्ञ० ३।२०७-२१५

का चुराने वाला * गुंगेपन को, वस्त्रों का चुराने वाला लङ्गड़े पन को प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥ इसप्रकार कर्म शेष † से भलों से निन्दित जड़, गूंगे, अन्धे, बहिरे और विकृत आकृति वाले उत्पन्न होते हैं ॥ ५२ ॥ जिस लिये प्रायश्चित्त न किये पुरुष निन्दित लक्षणों से युक्त हुए उत्पन्न होते हैं, इसलिये शुद्धि के लिये सदा प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या, सुरा (नामी शराब) का पीना, चोरी (ब्राह्मण के सुवर्ण की), गुरु स्त्री के पास जाना, इन (कर्मों) को महापातक कहते हैं, और उन (महा पातकियों) के साथ संसर्ग ‡ भी (पांचवां महापातक है) § ५४

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥
ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥५६॥
निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

---

* वाणी=वेद, वेद का चुराने वाला, जो बिना आज्ञा लिये दूसरे पढ़ते हुए से सुनकर पढ़ लेता है (गोवि० कुल्लू० राघ०) दूसरे की रचना को अपनी प्रकट करने वाला (नारा०) † कर्मशेष=परलोक में भुक्त कर जो बचा कर्म। छपे पुस्तकों में 'कर्मविशेषण' के स्थान 'कर्मावशेषण' पाठ नारा० नन्द० के अनुसार कर दिया है। मेधा० गोवि० कुल्लू० का अर्थ भी इसी पाठ में ठीक बनता है। ‡ संसर्ग=नाते रिश्ते, और वेद पढ़ने पढ़ाने का लिया जाता है, न कि निरा मिलना वा बात करना। § '५४–७० वासि० १।१९-२३ गौत० २१।१-१२ आप० १। २१। ७-१९. बौधा० २।२।१-८ ; १२-१३ ; १५-१६ याज्ञ० ३।२२७-२४२ विष्णु० ३५।१; ३५-३८।६, ३९-४२ देखो पूर्व९।२३५

रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीश्वन्त्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥५८॥

ऊंचे जन्म के लिये (अब्राह्मण होकर मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि) झूठ बोलना, राजा के पास (प्रजा की) चुगली करना, गुरु पर झूठा अपराध लगाना, ब्रह्महत्या के तुल्य हैं ॥ ५५ ॥ वेद को भुला देना, वेदों की निन्दा, झूठी साक्षिता; मित्र की हत्या, निषिद्ध आहार, वा आहार के लिये अनुचित वस्तु का खाना, * यह छः सुरापान के तुल्य हैं ॥ ५६ ॥ अमानत का, मनुष्य, घोड़े, चांदी, भूमि, हीरे और मणियों का हरलेना सोने की चोरी के तुल्य कहागया है ॥ ५७ ॥ सगी बहिन, कंवारी, चण्डाली, मित्र और पुत्र की स्त्री में वीर्य सेचन गुरु स्त्री के गमन के तुल्य है†

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च॥५९॥
परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥६०॥
कन्याया दूषणंचैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

---

* निषिद्ध लहसन आदि, अनुचित विष्ठा आदि (गोवि० कुल्लू० राघ०) निषिद्ध और जिसके खाने को जी न चाहे (मेधा०) अपवित्र पुरुष वा वस्तु के संसर्ग से दूषित और स्वभावतः खाने के अयोग्य (नारा० नन्द०) † ५५-५८ श्लोकों में जो पाप जिस २ के तुल्य कहे हैं, उनके लिये वही प्रायश्चित्त नहीं होता, थोड़ा घट होता है, क्योंकि तुल्यता घट में कीजाती है (टीकाकार)।

व्रात्यताबान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

* गोहत्या, यज्ञ के अयोग्य (शूद्रादि, वा दुष्टकर्मी) को यज्ञ कराना, परस्त्री गमन, अपने आपको बेचना, गुरु, माता, पिता का त्याग (सेवा आदि न करना) ब्रह्मयज्ञ का त्याग, अग्नि का त्याग और पुत्र का त्याग† ॥५९॥ छोटे (भाई) के पहले विवाहे जाने पर (बड़े के) विवाह का उलांघा जाना, और (छोटे का बड़े को) उलांघ कर विवाह करना, उन दोनों को कन्या देना, और उन दोनों को यज्ञ कराना (विवाह होम कराना) ॥६०॥ कन्या पर दोष लगाना, ब्याज लेना, व्रत का भंग, तालाब, बगीचा, स्त्री और सन्तान का बेचना ‡ ॥ ६१ ॥ व्रात्यता, बान्धवों का त्याग, नौकर होकर पढ़ाना, नौकर से विद्या ग्रहण, बेचने के अनुचित (तिल आदि) का बेचना § ॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारोमूलकर्म च ॥६३॥

---

* अब आठ श्लोकों से उपपातक कहते हैं †यहां अपने आपको बेचना=दास बनना (मेधा०) यह केवल आर्यों के लिये उपपातक है, शूद्र दास होते ही हैं (नारा०) वेद को भुला देना पूर्व० ७५ में महापतक कहा है, यहां ब्रह्मयज्ञ का त्याग उपपातक कहा है ‡ यहां ब्याज लेना वैश्य से भिन्न के लिये उपपातक है, वा शास्त्र प्रतिषिद्ध ब्याज लेना वैश्य के लिये भी। और व्रतभंग ब्रह्मचर्य का तोड़ना (गोवि० कुल्लू० राघ०) किसी भी स्वीकार किये नियम का भंग (मेधा० नारा०) § यहां व्रात्यता=समय पर उपनयन न होना (देखो पूर्व० १०।२०) बान्धव=चाचे, मामे और उनके कन्या पुत्र आदि। इनका त्याग आपदा में इनको रुलने और अनाथ होने देना।

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥६४॥

सब प्रकार की खानों में अधिकार, महायन्त्रों का जारी करना, औषधियों की हिंसा, (समय से पूर्व, वा व्यर्थ काटना) स्त्री से जीविका करना, अभिचारकर्म, और मूलकर्म * ॥ ६३ ॥ इन्धन के लिये हरे वृक्षों का काट गिराना, निरा अपने लिये कर्म का आरम्भ, और निन्दित का अन्न खाना † ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्नितास्तेयमृणानामनपक्रिया ।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्यचक्रिया ॥६५॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥६६॥

---

* यहां 'महा यन्त्रों का जारी करना' अपनी भूमि के सेचन के लिये दूर जाने वाले जल के प्रतिबन्ध के यन्त्र बनाना (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) सूअर आदि बड़े २ प्राणियों के मारने के लिये बड़े २ यन्त्र बनाना (नारा०) स्त्री से जीविका करना=स्त्री धन से अपना और कुटुम्ब का पालन (मेधा०) पर घर में सेवा आदि के लिये स्त्री को भेजकर उससे जीविका (राघ०) स्त्री को वेश्या बनाकर उससे जीविका (कुल्लू०) पर घरों में सेवादि कराके स्त्री से कमाए धन से जीविका (नारा० नन्द०) † यहां 'निरा अपने लिये' देवता, पितर और अतिथियों के उद्देश के बिना केवल अपने लिये पकाना आदि (मेधा० कुल्लू० राघ० नारा० नन्द०) और देखो ३।११८ निन्दित=राजा वा जुआरिया आदि। निन्दित अन्न का खाना पूर्व० ५७ में कहा है, किन्तु मेधा० और कुल्लू० यहां भी ५७ में कहा ही लेते हैं। भेद यह करते हैं, कि लहसन आदि का जान बूझकर बार २ खाना महापातक है, बिन जाने एक बार खालेना उपपातक।

अग्न्याधान करना (सोने चांदी से भिन्न वस्तु की) चोरी, ऋणों का न चुकाना, असत् शास्त्रों की शिक्षा, नाट्य का कर्म* ॥ ६५ ॥ अनाज, (सोने चांदी से भिन्न) धातों और पशुओं का चुराना, शराब पीने वाली स्त्री का सेवन, स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध, और नास्तिकपन (यह सब) उपपातक हैं ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्मयंचमैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥
खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविक वधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण को पीड़ा देना (चोट लगाना), न सूंघने योग्य (विष्टा आदि) का और शराब का सूंघना, (सरल पुरुषों से) कुटिलता करना, पुरुष से मैथुन, यह जाति भ्रंशकर (जाति से फिसलाने वाला) पातक कहा है ॥ ६७ ॥ गधे, घोड़े, ऊंट, हरिण, हाथी, बकरी, भेड़, मछली, सांप, भैंसे की हत्या संकरीकरण (वर्णसंकर तुल्य बनाने वाला) कहा है ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥
कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

---

* ऋण—ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण देखो वासि० ११।४५ असच्छास्त्र=चार्वाक और निर्ग्रन्थ (मेधा०) पाषण्ड शास्त्र (नारा०)

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानिसम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

निन्दितों * से धन (दान) लेना, वणिज, शूद्र की सेवा, और असत्य भाषण यह अपात्रीकरण (दान लेने के अयोग्य बनाने वाला) पातक जानना चाहिये ॥ ६९ ॥ कृमि, कीड़े, और पक्षियों की हत्या, शराब के साथ रक्खी वस्तु का भोजन, फल, लकड़ी और फूलों की चोरी, और धीरज न होना (अत्यन्त कायरपन) यह मलावह (अपवित्र बनाने वाला) पातक है ॥ ७० ॥ यह (ब्रह्महत्यादि) अलग कहे हुए सारे पाप, जिन२ व्रतों से दूर होते हैं, उनको भली भांति जानो॥७१॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥७२॥
लक्ष्यंशस्त्रभृतांवास्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धेत्रिरवाक्शिराः ॥७३॥

ब्रह्महत्या करने वाला बन में कुटिया बनाकर और मुरदे की खोपरी की झंडी लटकाकर भिक्षा का अन्न खाता हुआ शुद्धि के लिये बारह वर्ष रहे † ॥ ७२ ॥ अथवा जानते हुए शस्त्रधारियों का अपनी इच्छा से निशाना बने, अथवा जलती अग्नि में अपने आपको नीचे सिर करके तीनबार डाले ‡॥७३॥

---

* निंदित (देखो पूर्व० ४।८४) † ७२-८६ वासि० २०।२५-२८ गौत० २२।२-१० आप० १।२४। १०-२५; २५।११-१२; २८।२१-२९, याज्ञ० ३।२४३-२५०, विष्णु० ५०।१-६, १५ यह ७२ में कहा प्रायश्चित्त कुल्लू०नारा०राघ० के अनुसार इरादे से कीहुई ब्रह्महत्या

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥७४॥
जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥
सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
धनं हि जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छेदम् ॥७६॥

अथवा अश्वमेध वा स्वर्जित, वा गोसव, वा अभिजित वा विश्वजित वा त्रिवृत अग्निष्टुत यज्ञ करे * ॥ ७४ ॥ अथवा ब्रह्महत्या के दूर करने के लिये मिताहारी और संयमी होकर किसी एक वेद का स्वाध्याय करता हुआ सौ योजन यात्रा करे † ॥ ७५ ॥ अथवा किसी विद्वान् ब्राह्मण को सारा धन देदे, जो धन जीवन के लिये पर्याप्त हो, वा सारे सामान समेत घर‡॥७६

का है ‡‡ जानते हुए=यह ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करने के लिये निशाना बना है, ऐसा जानते हुए (मेधा० गोवि० कुल्लू० राम०) नारा० के अनुसार यह प्रायश्चित्त इच्छापूर्वक ब्रह्महत्या करने वाले को है । कुल्लू० राघ० यह दो प्रायश्चित्त और ७४ में कहा अश्वमेध यह तीन प्रायश्चित्त जब कोई क्षत्रिय जान बूझकर ब्रह्महत्या करे, तो उसके विषय में हैं । पहले दो प्रायश्चित्तों में ज़खमी होकर बच रहे, तो भी उसका प्रायश्चित्त होजाता है ।

* गोसव, (देखो कात्या० श्रौ० २२।८।३) अभिजित (देखो आश्व० श्रौ० ८।५।१३) अग्निष्टुत (देखो आश्व० ९।७।२२–२५) गोवि० नारा० के अनुसार त्रिवृत स्तोम वाले अग्निष्टुत से, † कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त बिना इरादे के निरे नाम-मात्र (निर्गुण) ब्राह्मण के मारने में है ‡ मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार 'धनं हि' पाठ रक्खा है, जोकि छपे पुस्तकों में 'धनं वा' है । कुल्लू० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त अज्ञान से जातिमात्र के ब्राह्मण के मारने में हैं ।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत् प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ।
जपेद्वानियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥
कृतावपनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥
ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥७९॥
त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥८०॥

अथवा हविष्य भोजन करता हुआ उलटे प्रवाह सरस्वती के मूलतक जाए, वा अल्पाहारी हुआ तीन वार वेद की संहिता का स्वाध्याय करे * ॥ ७७ ॥ अथवा गोब्राह्मण के हित में रत हुआ सिर मुंडवाकर ग्राम के निकट वा गोशाला, वा आश्रम वा वृक्ष के नीचे निवास करे † ॥ ७८ ॥ गोब्राह्मण के लिये झट प्राणों का त्याग करे, गौ और ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है ‡ ॥७९॥ तीनवार (चोरी को) रोकने

---

* कुल्लू० के अनुसार इनमें से पहला प्रायश्चित्त ज्ञानपूर्वक जातिमात्र ब्राह्मण के वध में है, दूसरा अज्ञान से जातिमात्र ब्राह्मण के वध में है † नारा० के अनुसार सारे प्रायश्चित्तों में यह नियम बर्ते, मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार ७२ में कहे १२ वर्ष प्रायश्चित्त का यह विकल्प है, अर्थात् चाहे १२ वर्ष उस तरह बन में काटे, चाहे इस तरह ग्राम समीपादि में काटे ‡ बारह वर्ष का व्रत आरम्भ किये को जब गौ ब्राह्मण की रक्षा का अवसर मिले, उस समय प्राणों की परवाह न करके उनको बचाता हुआ मरजाए, तौभी, बच रहे, तौ भी, उसी समय हत्या से छूट जाता है (गोवि० कुल्लू० नारा०)

वाला, वा सर्वस्व जीत देने वाला, अथवा उसके निमित्त ब्राह्मण को जीवन लाभ हो, तो (ब्रह्महत्या से) छूट जाता है *॥८०॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥
शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥
धर्मस्य ब्राह्मणोमूलमग्रं राजन्यउच्यते ।
तस्मात्समागमे तेषामेनोविख्याप्य शुध्यति ॥८३॥
ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥८४॥
तेषां वेदविदोब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम् ।
सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्राविदुषांहिवाक् ॥८५॥

इसप्रकार सदा पक्के नियमों वाला, ब्रह्मचारी और संयमी हुआ बारहवें वर्ष के समाप्त होने पर ब्रह्महत्या को दूर करता है †॥८१॥ अथवा अश्वमेध में ब्राह्मणों के और राजा के समागम में अपना पाप निवेदन करके अवभृथ स्नान करके (ब्रह्महत्या के पाप से) छूटता है ‡ ॥ ८२ ॥ क्योंकि ब्राह्मण धर्म की जड़

---

*ब्राह्मण का सर्वस्व हरते हुए का तीनबार पूरा मुकाबिला करने वाला न छुड़ासके तो भी, और छुड़ा देसके, तो एकबार ही, अथवा ब्राह्मण जब स्वयं प्राण संकट में पड़जाए, तो उसे बचा लेने से भी पाप से छूट जाता है ।

† यह भिन्न २ प्रायश्चित्त देश, काल और अवस्था के अनुसार हैं। ‡ गो॰वि॰ इसको १२ वर्ष के प्रायश्चित्त के अन्दर ही यदि

है, और क्षत्रिय अग्र है, इसलिये उनके समागम में अपना पाप प्रसिद्ध करके शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण उत्पत्ति से ही देवताओं का भी देवता है, और जगत् के लिये प्रमाण है, क्योंकि इसमें वेद मूल है (उसका उपदेश वेद मूलक है) ॥ ८४ ॥ उन (ब्राह्मणों) में से तीन भी जो वेदवेत्ता हैं, पाप का प्रायश्चित्त बतलासक्ते हैं, वही उन (पापियों) के पवित्र करने के लिये होगा, क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र करने वाली है ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥
हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥८७॥
उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा ।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥८८॥

इनमें से किसी विधि का आश्रय लेकर संयमी ब्राह्मण (आदि) अच्छे मनवाला होने से ब्रह्महत्या से किये पाप को दूर करता है ॥ ८६ ॥ (ब्राह्मण का) गर्भ जो (स्त्री पुरुष नपुंसक रूप से) अज्ञात है, उसकी हत्या करके, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय और वैश्य की हत्या करके, और आत्रेयी स्त्री की हत्याकर के यही प्रायश्चित्त करे * ॥ ८७ ॥ गवाही में झूठ बोलकर,

अवभृथ स्नान का अवसर मिलजाए, तो उतने से ही शुद्धि मानता है । कुल्लू० भविष्य पुराण के आश्रय इसका खण्डन करके इसे स्वतन्त्र प्रायश्चित्त मानता है, अर्थात् जबकि गुणवान् ब्राह्मण निर्गुण ब्राह्मण को मारे तो ।

* ८७-८८ वासि० २०।३४-३६ गौत० २२।११-१४ आप० १।२४।

गुरु पर मिथ्या दोष लगाकर, अमानत को चुराकर, अपनी स्त्री और मित्र का वध करके भी (यही प्रायश्चित्त करे) *॥८८॥

इयंविशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतोद्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥
सुरां पीत्वा द्विजोमोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥९०॥

यह शुद्धि बिना कामना के ब्राह्मण के वध में कही है, इच्छा से ब्राह्मण के वध में प्रायश्चित्त † नहीं बतलाया है ॥८९॥ द्विज राग से सुरा पीकर अग्नि के तुल्य गर्म सुरा पिये, उससे शरीर के दग्ध होने पर उस पाप से छूटता है ‡ ॥ ९० ॥

६-९, २३ बौधा० २।१।१२ याज्ञ० ३।२५१ विष्णु० ५०।७-१० ; ५२।४ मेधा० और दूसरे कई टीकाकारों के अनुसार आत्रेयी, अत्रिगोत्र की स्त्री, कुल्लू० और कई टीकाकारों के अनुसार रजस्वला ब्राह्मणी
* गवाही में झूठ बोलकर, जहां उस गवाही से किसी का वध हो (मेधा० गोवि० नारा०) सोने भूमि आदि की गवाही में (कुल्लू० राघ०) गुरु पर मिथ्या कलंक (देखो पूर्व० ५१) अमानत, क्षत्रिय वैश्य का सोना, वा ब्राह्मण की चांदी आदि (कुल्लू० नारा० राघ०) अथवा निर्धन ब्राह्मण का चाहे कुछ ही हो (मेधा०) स्त्री=अपनी स्त्री (नारा० नन्द०) अपना मित्र चाहे ब्राह्मण न भी हो (नारा०)

† अर्थात् यह प्रायश्चित्त नहीं, इससे दुगुना होता है (राघ०) ‡ ९०-९७वासि०१०।१९।२२ गौत०२३।१०-१२आप०१।२५।३।१०; २५।१० बौधा० २।१।१८-२२ याज्ञ० ३।२५३-२५३ विष्णु० ५१।१-४ ; । ९०-९१ के प्रायश्चित्त इच्छा से सुरा पीने में हैं देखो आगे १४६ । सुरा आगे ९५ में तीन प्रकार की कहेंगे, ब्राह्मणों को उन तीनों के पीने में यह प्रायश्चित्त है, क्षत्रिय वैश्य को पैष्टी=पीठी की, आटे के रस से निकाली में यह प्रायश्चित्त है देखो आगे ९३-९४

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।
पयोघृतं वाऽऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥
कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥९२॥

अथवा अग्नि के तुल्य (गर्म) गोमूत्र वा जल पिये, वा दूध, वा घी वा गोबर का रस मरने तक पिये ॥ ९१ ॥ अथवा बालों के वस्त्र पहने, जटा धारे, (बोतल की) झंडी लगाए बरसभर चावलों के कण, वा खली एकबार रात को खावे*॥९२॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥९३॥
गौडी पैष्टी चमाध्वी च विज्ञेयात्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा नपातव्या द्विजोत्तमैः ॥९४॥
यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥९५॥

सुरा अन्नों की मल है, और पाप मल कहलाता है, इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सुरा न पिये †॥९३॥ गुड़की (गौड़ी)

---

* गोवि० कुल्लू० राघ० नन्द० के अनुसार यह प्रायश्चित्त अज्ञान से पैष्टी सुरा के पीने में हैं,नारा० के अनुसार माध्वी से मिले जल के पीने में है, मेधा० राघ० के अनुसार अज्ञान से पैष्टी के पीने में और ज्ञानपूर्वक गौडी माध्वी के पीने में है ।

† यहां अन्न की मल कहने से पैष्टी सुरा से अभिप्राय है, वह सारे द्विजों के लिये महापातक है और ब्राह्मण के लिये दूसरी दो गौड़ी और माध्वी भी महापातक हैं ।

पीठी की (पैष्टी) और महुए की (माध्वी) *यह तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये, जैसी एक है, वैसी सभी हैं, ब्राह्मणों को नहीं पीनी चाहियें ॥९४॥ यक्ष राक्षस और पिशाचों का अन्न है मद्य, मांस, सुरा और आसव, वह देवताओं की हवि खाने वाले (खाने योग्य) ब्राह्मण को नहीं खाने चाहियें ॥ ९५ ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥
यस्यकायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैतिब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥९७॥
एषा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥९८॥

मद से मूढ़ हुआ ब्राह्मण अपवित्र स्थान में गिरेगा वा (अनुचित रीति से) वेद का उच्चारण करेगा, वा कोई और अकार्य करेगा ॥ ९६ ॥ जिसके शरीर में स्थित वेद एकबार भी मद्य से डुबो दिया जाता है, उसका ब्राह्मणत्व दूर होजाता है और वह शूद्रता को प्राप्त होता है ॥ ९७ ॥ यह सुरा पीने का नानाप्रकार का प्रायश्चित्त कहा, इससे आगे (ब्राह्मण का) सोना चुराने का प्रायश्चित्त कहूंगा ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान् मां भवाननुशास्त्विति ॥९९॥

---

* माध्वी=महुए के फूलों की (कुल्लू०) महुए के फूलों की वा द्राक्ष की (नारा०) अंगूरों की (कई)

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

सोने की चोरी करने वाला ब्राह्मण (आदि) राजा के पास जा अपना कर्म प्रकट करता हुआ कहे, मुझे आप दण्ड दें*॥९९॥ राजा (उसके कन्धे पर से) मूसल को लेकर एकबार उसे स्वयं मारे, वध से चोर शुद्ध होता है, ब्राह्मण निरा तप से ही † ॥ १०० ॥

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्‌ब्रह्महणो व्रतम् ॥१०१॥
एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

तप से सुवर्ण की चोरी से उत्पन्न हुए पाप को दूर करना चाहता हुआ द्विज चीर पहनकर वन में ब्रह्महत्या करने वाले के व्रत को करे ‡ ॥ १०१ ॥ इन व्रतों से चोरी के पाप को द्विज दूर करे, और गुरु स्त्री गमन के पाप को इन व्रतों से दूर करे॥१०२॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुध्यति।१०३

* ९९-१०० देखो पूर्व० ८।३१४-३१६ † 'तपसैवतु' पाठ मेधा० ने पढ़ा है। यही पाठ हमने स्वीकार किया है। गोवि० कुल्लू०नारा० राघ० ने 'तपसैव वा' पाठ पढ़ा है। वा=पर (नारा० नन्द०) वा= अथवा, वा से अभिप्राय यह है, कि क्षत्रिय वैश्य भी तप से शुद्ध होसके हैं। पर ब्राह्मण के लिये निरा तप है,क्योंकि 'तपसैव' में'एव' पढ़ा है। (कुल्लू०) वा=अथवा सात लक्ष गायत्री का जप(राघ०)जो प्रायश्चित्त अगले श्लोकों में कहे हैं, उनकी अपेक्षा से 'अथवा' कहा है (गोवि०) ‡ आप० १।२५।१० याज्ञ० ३।२५८ विष्णु० ५२।३

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥१०४॥

गुरुस्त्रीगामी अपने पाप को बतलाकर तपी हुई लोहे की शय्या पर सोवे, और जलती हुई लोहे की प्रतिमा को गले लगाकर मृत्यु से शुद्ध होता है * ॥१०३॥ अथवा आप अपना लिंग और अण्डकोश काटकर और अञ्जलि में रखकर शरीर के गिरने तक दक्षिण पश्चिम कोण को चला जाए ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासी वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा खाट का पाया हाथ में लिये चीर पहने दाढ़ी मूंछ धारे एकाग्रमन हो निर्जन वन में एकवर्ष कृच्छ्र प्राजापत्य करे † ॥ १०५ ॥ अथवा गुरु स्त्री गमन (पाप) के दूर करने के लिये इन्द्रियों को रोक कर तीन महीने हविष्य वा यवागू (जौ

---

*१०३-१०६ वासि०२०।१३-१४ गौत०२३।८-१२ आप० १।२५।१-२, १०; २८।१५-१८ याज्ञ० ३।२५९-२६० विष्णु० ३४।२; ५३।१ यहां गुरु का अर्थ द्वा मेधा० आचार्य और पिता दोनों लेता है, कुल्लू० नारा० राघ० निरा पिता लेते हैं † मेधा० कुल्लू० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त गुरु स्त्री को भ्रम से अपनी स्त्री समझकर गमन करने में है, नारा० के अनुसार अपने वर्ण से छोटे वर्ण की गुरुस्त्री के विषय में है । प्राजापत्य कृच्छ्र देखो आगे २११

के दलिये) के भोजन में चान्द्रायण व्रत करे * ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥
उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान् पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

इन व्रतों से महापातकी अपने पाप को दूर करें, † और उपपातकी इसी प्रकार इन (अगले) नाना प्रकार के व्रतों से (पाप को दूर करें) ॥ १०७ ॥ गो हत्या करने वाला उपपातकी (तीन महीने प्रायश्चित्त करे) बाल सारे (सिर, दाढ़ी मूंछ) मुंडाए हुए, उस चमड़े (मारी गौ के चमड़े) से ढका हुआ गोस्थान में रहे, एक महीना निरे जौ (पतले करके) पिये ‡ ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौमासौ नियतेन्द्रियः ॥१०९॥
दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥११०॥

दो महीने संयमी बन कर गोमूत्र से स्नान करे, (भोजन के) चौथे वेले खार और लवण से विना परिमित भोजन करे॥१०९॥

---

* मेधा० राघ० के अनुसार यह प्रायश्चित्त गुरुवत् माने गए मामा चाचा आदि की स्त्री के गमन में है। कुल्लू० के अनुसार अपनिव्रता वा असवर्णा गुरुस्त्री के गमन में है। चान्द्रायण देखो आगे २१६। † नारा० यहां महापातकी से तात्पर्य उन से लेता है जो पूर्व ५५ आदि में महा पातकियों के तुल्य कहे हैं ‡ १०८-११६ गौत २२।१८ आप १।२६।१ याज्ञ ३।२६३-२६४ विष्णु ५०।१६-२४।

दिन को उन गौओं के पीछे जाए, खड़ा हुआ ऊपर उठी गोधूलि को पिये, (गौओं के शरीर पर हाथ फेरने, वा हाथ से खुजाने आदि की) सेवा करके और नमस्कार करके रात को वीरासनसे रहे *

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतोवीतमत्सरः ॥ १११ ॥
आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥११२॥
उष्णेवर्षतिशीते वा मारुते वाति वाभृशम् ।
नकुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥१३॥

गौएं ठहरें, तो उनके साथ ठहरें, चलें, तो उनके साथ चलें, बैठें, तो बैठे, शुद्ध रहे, और (गौओं पर) क्रोध न करे ॥ १११ ॥ रोगिणी, वा चोर बाघ आदि भयों से पीड़ित हुई, गिरी हुई, वा कीचड़ लगी को सारे उपायों से छुड़ाए ॥ ११२ ॥ धूप में, वर्षा में, सर्दी में, वा बहुत वायु चलने में शक्ति अनुसार गौओं की रक्षा किये बिना अपनी रक्षा न करे ॥ ११३ ॥

आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवाखले ।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥११४॥
अनेनविधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति॥११५॥

---

* वीरासन से रहे—दीवार शय्या आदि के सहारे बिना ठहरे रखवाली करे) (कुल्लू०)

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥११६॥
एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥११७॥

अपने वा दूसरों के घर में, खेत में, वा खल्यान में भक्षण करती हुई किसी को न बतलाए, और दूध पीते हुए बछड़े को न बतलाए ॥११४॥ इस विधि से जो गो हत्यारा गौओं की सेवा करता (हुआ व्रत करता) है, वह गोहत्या से किये पाप को तीन महीने में दूर करता है ॥ ११५ ॥ भली भांति व्रत पूरा करके दस गौएं और एक बैल, न हों, तो अपना सर्वस्व, वेदज्ञ ब्राह्मणों को देवे* ॥ ११६ ॥ अवकीर्णी के सिवाय दूसरे उपपातकी भी अपनी शुद्धि के लिये यही व्रत अथवा चान्द्रायण करें ॥११७॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥
हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा ।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽऽहुतीः ॥११९॥
कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रामं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥
मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च ।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥१२१॥

* याज्ञ ३।२६५ । ११७-१२३ वासि २३।१४ गौत० २५ । १-४ आप १।२६।८ बौधा० २।१।३०-३५ याज्ञ ३ । २८० विष्णु २८ । ४८-५०

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥
तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति ॥१२३॥

पर अवकीर्णी रातको चौराहे में पाकयज्ञों की विधि * से, काने गधे से निर्ऋति का यज्ञ करे ॥ ११८ ॥ यथाविधि (निर्ऋति के लिये) अग्नि में होम करके, अन्त में 'समा' इस ऋचा† से, वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि के लिये घी से आहुतियें दे ॥ ११९ ॥ ब्रह्मचारी द्विज का अपनी इच्छा से वीर्य स्खलन व्रत का लोप है, यह वेदवादी धर्मात्मा कहते हैं ॥१२०॥ ब्रह्मचारी अवकीर्णी होजाए, तो उसका ब्राह्मतेज वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि इन चारों को प्राप्त होता है (इसलिये इनको आहुतियें देनी कही हैं) ॥१२१॥ इस पाप के प्राप्त होने पर (निर्ऋतियाग करके) गधे का चमड़ा पहन कर अपना कर्म बतलाता हुआ सात घरों से भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥ उनसे पाई भिक्षा से एक काल भोजन करता हुआ, और (दिन में) तीनवार स्नान करता हुआ वरसमें जाकर शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥१२४॥
संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥१२५॥

---

* पशु कल्प, जैसा कि आश्व० गृ० (१।११) आदि में कहा है (नारा०) † यह ऋचा तैति० आर० २।१८।४ में है ।

जाति भ्रंश करने वाला कोई कर्म अपनी इच्छा से करे, तो सान्तपन कृच्छ्र करे, बिना इच्छा के करे, तो प्राजापत्य करे * ॥ १२४ ॥ संकर करने और अपात्र बनाने वाले कर्मों में शुद्धि के लिये महीना भर चान्द्रायण करे मलीन करने वालों में तीन दिन गर्म यवागू पिये † ॥ १२५ ॥

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥
अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुध्यर्थमात्मनः ॥१२७॥

ब्रह्महत्या का चौथा भाग (=तीन बरस) क्षत्रिय के मारने में (प्रायश्चित्त) कहा है, सदाचारी वैश्य (के मारने) में आठवां भाग (डेढ़वर्ष) और शूद्र में सोलहवां भाग (९ महीने) जानो † ॥१२६॥ बिना इच्छा के क्षत्रिय को मारकर ब्राह्मण अपनी शुद्धि के लिये एक बैल समेत एक सहस्र गौएं दान करे ‡ ॥ १२७ ॥

---

* जाति भ्रंश करने वाले कर्म देखो पूर्व ६७ सान्तपन कृच्छ्र देखो आगे २१२ संकर, अपात्र और मलिन बनाने वाले कर्म देखो पूर्व ६८-७०। यवागू=जौ का पानी, देखो बौधा ३। ६

† १२६-१३० वासि० २०।३१-३३ गौत० २२।१४-१६ आप० १।२४।१-४ बौधा० १।१९।१-२; २।८-१० याज्ञ० ३।२६६-२६७ विष्णु० ५०।१२-१४ पूर्व० (६६ में) क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का मारना उपपातक कहा है, उपपातकी को तीन मास का गोहत्या वाला प्रायश्चित्त कह आए हैं, इसलिये यह भारी प्रायश्चित्त सदाचारी क्षत्रिय वैश्य को इच्छा से मारने में है ‡ मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार 'शुध्यर्थ मात्मनः' करदिया है, जो छपे पुस्तकों में 'सुचरित व्रतः' है।

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन्दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥
एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥१२९॥
एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्छूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥१३०॥

अथवा संयमी जटाधारी होकर ग्राम से बहुत दूर वृक्षों के नीचे रहता हुआ तीन बरस ब्रह्महत्या करने वाले के व्रत को करे * ॥ १२८ ॥ यही प्रायश्चित्त ब्राह्मण सदाचारी वैश्य को मारकर करे, वा एक सौ गौएं देवे † ॥ १२९ ॥ यही सारा व्रत छः महीने, शूद्र के मारने वाला करे, अथवा (अपनी शुद्धि के लिये) एक बैल सहित दस श्वेत गौएं ब्राह्मण को देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतंचरेत् ॥ १३१ ॥
पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनोव्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥१३२॥

---

* १२६ में तीन वर्ष का व्रत कहा ही था, फिर यहां कहने का यह तात्पर्य है, कि ब्रह्महत्या के और चिन्ह 'मुरदे की खोपरी का झंडा आदि' न धारे। निरा ग्राम से दूर वृक्षों के नीचे रहे (गोवि० कुल्लू० नारा०) † १२९-१३० इन दोनों में कहे दो २ प्रायश्चित्त बिना इच्छा के वैश्य और शूद्र के मारने में है। इच्छा से मारने में पूर्व १२७ में है।

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥
घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् ॥१३४॥
हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥१३५॥

बिल्ला, नेउला, चाष, मेंडक, कुत्ता, गोह, उल्लू, कौआ, इनको मारकर शूद्रहत्या का व्रत करे * ॥ १३१ ॥ अथवा तीन दिन निरा दूध पिये, वा चार कोस चले, वा नदी में स्नान करे, वा जल देवता वाला सूक्त जपे † ॥ १३२ ॥ सर्प को मारकर ब्राह्मण तेज़ अग्रवाले लोहे का दण्ड दान करे, नपुंसक (के मारने) में पलाल का एक भार और एक मासा सिक्का दान करे ‡ ॥ १३३ ॥ सूअर में घी का घड़ा, तित्तिर में एक द्रोण तिल, तोते में दो वर्ष का बछड़ा, और कूंज में तीन वर्ष का (बछड़ा दान करे) § ॥ १३४ ॥ हंस, बलाका, बगले, मोर,

* वासि० २१।२४ गौत० २२।१९ आप० १।२५।१३ याज्ञ० ३।२७० विष्णु० ५०।३०-३२ यहां शूद्र हत्या के व्रत से गोवधव्रत चान्द्रायण अभिप्रेत है, न कि १२७ में कहा, वह भी बार २ हत्या करने में है। क्योंकि यह छोटी वस्तुएं हैं (गोवि० कुल्लू० नन्द०) † यह अज्ञान से मारने में प्रायश्चित्त है, इनमें से भी पूर्व २ न होसके, तो परला २ कराए (गोवि० कुल्लू० नारा० राघ०) जल देवता वाला सूक्त ऋग्वेद १०।९ ‡ गौत० २२।२३,२५ याज्ञ० ३।२७३ विष्णु० ५०।३४-३५ § गौत० २२।२४ याज्ञ० ३।२७१, २७३-२७४ विष्णु० ५०।३६-३९ यहां घड़ा=१०० पल (नारा०) द्रोण=चार आढक (मेधा०) १२८ पल (नारा०)

बानर, बाज, और भास को मारकर ब्राह्मण को गौ देवे*॥१३५॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥
क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१३७॥
जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥१३८॥

घोड़े को मार कर वस्त्र देवे, हाथी को मार कर पांच नीले बैल, और बकरे मेढे को मारकर बैल और गधे को मार कर एक वर्ष का बछड़ा देवे † ॥ १३६ ॥ हिंस्र पशुओं को मार कर दूधवाली धेनु देवे, अहिंस्रों को मार कर बड़ी बछड़ी, और ऊंट को मारकर रत्ती भर (देवे) ‡ ॥१३७॥ चारों भी वर्णों की चञ्चल स्त्रियों को मार कर हत्या की शुद्धि के लिये (ब्राह्मणादिक्रम से) ज़ीन, धनुष, बकरी, भेड़ देवे ‡ ॥१३८॥

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥
अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥१४०॥

---

* याज्ञ ३।२७२ विष्णु० ५०।३३ † याज्ञ० ३।२७१, २७४ विष्णु० ५० । २५-२८ ‡ याज्ञ० ३ । २७२-२७३ विष्णु० ५०।२९ । ४०-४१ यहां रत्ती भर सोना अभिप्रेत है (मेधा० गोवि० कुल्लू० नारा० नन्द० राघ०) ‡ गौत० २२ । ६ याज्ञ० ३।२६८

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति॥१४१॥
फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥१४२॥
अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥
कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

दान से सर्पादि की हत्या की शुद्धि करने में असमर्थ हो, तो पाप के दूर करने के लिये द्विज (हरएक पाप के लिये) एक २ कृच्छ्र करे * ॥ १३९ ॥ हड्डी वाले (क्षुद्र) जीवों के हज़ार के मारने में, और बिना हड्डी वालों का गड्डा भर मारने में शूद्र हत्या का व्रत करे † ॥ १४० ॥ हड्डी वालों के (एक २ के) वध में कुछ ही (कोई एक पण ही) ब्राह्मण को देवे, और बिन हड्डी वालों (में से एक २) की हिंसा में प्राणायाम से शुद्ध होता है ‡ ॥ १४१ ॥ फल देने वाले वृक्षों, झाड़ियों, (खरबूजे

---

* वासि० २१।२६ याज्ञ० ३।२७४

† वासि० २१।२५ गौत० २२।२०-२१ आप० १।२६।२ याज्ञ० ३।२६९ विष्णु ५०.४६ हड्डी वाले क्षुद्र जन्तु छिपकिली आदि गोवि० कुल्लू० नारा०) ‡ गौत० २२।२२ याज्ञ० ३।२७५ विष्णु० ५०।४७ मेधा० गोवि० कुल्लू० के अनुसार यह प्रायश्चित्त एक २ के मारने में, नारा० के अनुसार पिछले श्लोक में कही संख्या से थोड़ों के मारने में है। कुछ ही=एक पण (नारा०) आठ मुट्ठी दाने (नन्द०)

आदि की) वल्लों, (गिलो आदि) बेलों, और फूले हुए पोदों के काटने में सौ ऋचा जपे * ॥ १४२ ॥ खाने योग्य अन्न में उत्पन्न होने वाले, रसों (गुड़ आदि) में उत्पन्न होने वाले, और फल फूल में उत्पन्न होने वाले जीवों के वध में घी पीना पाप का शोधक है † ॥ १४३ ॥ जोती भूमि में उत्पन्न हुई (धान आदि) और अपने आप वन में उत्पन्न हुई (नीवार आदि) ओषधियों के व्यर्थ काटने में एक दिन दुग्धाहारी हुआ गौ के पीछे जाए ‡ ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥
अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥१४६॥
आपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥
स्पृष्ट्वा दत्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वाऽपः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम् ।१४८।

इन व्रतों से जाने और बिन जाने की हिंसा से उत्पन्न हुआ पाप दूर करना चाहिये, अब अभक्ष्य के भक्षण में प्रायश्चित्त सुनो

---

* याज्ञ० ३ । २७६ विष्णु० ५० । ४८ पूर्व० ६४ में रस वाले वृक्षों का काटना उपपातक कहा है, उसका प्रायश्चित्त चान्द्रायण होता है, यह छोटासा प्रायश्चित्त बिना जाने एक बार काटने में है (कुल्लू०) सौ ऋचा=गायत्री आदि (कुल्लू०) गायत्री (नारा०) † याज्ञ० ३ । २७५ विष्णु० ५० । ४९ रस ॥ गुड़ मट्ठा आदि (मेधा० गोवि० कुल्लू०) ‡ याज्ञ० ३।१४४ विष्णु० ५०।५०

अज्ञान से मदिरा पीकर संस्कार (उपनयन) से ही शुद्ध होजाता है, जानकर पिये, तौ भी प्राणान्तिक नहीं बतलाना चाहिये यह मर्यादा है * ॥ १४६ ॥ सुरा के भांडे में वा मद्य के भांडे में स्थित जल को पीकर पांच दिन शंखपुष्पी (लेहली) डालकर उबाले हुए दूध को पिये † ॥ १४७ ॥ मदिरा को छूकर वा दान देकर वा यथा विधि दान लेकर, वा शूद्र का जूठा पानी पीकर तीन दिन कुशा से कढ़ा हुआ पानी पिये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥
अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥
वपनं मेखलादण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मणि ॥१५१॥

सोम यज्ञ करचुका हुआ ब्राह्मण तो सुरा पिये हुए के (मुख के) गन्ध को भी सूंघले, तो जल में तीन बार प्राणायाम करके घी पीकर शुद्ध होता है ‡ ॥१४९॥ अज्ञान से विष्ठा मूत्र वा सुरा

---

* वासि० २०।१९ गौत० २३।२ आप० १।२५।१० बौधा० २।१।१९ याज्ञ० ३।२५५ विष्णु० ५१ । २, ४ पूर्व० ९३-२४ द्विजों को सुरापान महापातक है, और सुरा के तीन भेद बतलाए हैं, उनसे भिन्न मद्य के विषय में यह प्रायश्चित्त है । यह उपनयन भी तप्त कृच्छ्र कराकर होना चाहिये, जैसाकि गौत० २१ । ७ में कहा है । जानकर पीने में ९२ में कहा प्रायश्चित्त वा दूसरी स्मृतियों में कहे प्रायश्चित्त कराए

† वासि० २०।२१ बौधा० २।१।२२ विष्णु० ५१।२३-२४ ‡ गौत० २३।६ विष्णु० ५१।२५

से स्पर्श कीहुई वस्तु को खाकर तीन द्विज वर्ण फिर उपनयन के योग्य होते हैं* ॥१५०॥ फिर उपनयन करने में द्विजों के (सिर) मूंडना, तडागी, दण्डधारण, भिक्षा मांगना और व्रत नहीं होते हैं†

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ।
जग्ध्वामांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥
शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यानपिद्विजः ।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

जिनका नहीं खाना चाहिये, उनका अन्न खाकर, वा स्त्री और शूद्र का जूठा खाकर, वा अभक्ष्य मांस खाकर सात दिन (पानी बनाकर) जौ पिये ‡ ॥ १५२ ॥ (देर पड़ा रहने से) खट्टे हुए (अन्न) और काढ़े, चाहे मेध्य भी हों,§ उनको पीकर द्विज तब तक अशुद्ध होता है, जब तक वह नीचे नहीं जाता ॥१५३॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१५४॥
शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

गाओं का सूअर, गधा, ऊंट, गीदड़, वानर और कौए के

---

* वासि० २०।२० गौत० २३ । ३ याज्ञ० ३।२३५ विष्णु० ५१ । २
† वासि० २०।१८ बौधा० २।१। २० विष्णु० ५१।५ व्रत अग्नि की सेवा और मद्य मांसादि का त्याग (गोवि० कुल्लू० राघ०) वेदव्रत (नारा०)
‡ वासि० १४।३३ विष्णु० ५१।४०, ५४, ५६ पूर्व० ४।२२२ में कहे प्रायश्चित्त के साथ इसका विकल्प है § राघ० नन्द० 'अमेध्यानपि' पद च्छेद करके, अमेध्य = लहसन आदिक, अर्थ करते हैं ।

मूत्र वा विष्ठा को खाकर द्विज चान्द्रायण करे ॥ १५४ ॥ सूखे मांस, पृथिवी में उत्पन्न होने वाले कुकरमुत्ते (छत्रियें), अज्ञात, (स्वभाव वाले का मांस) और हत्या घर से लाया मांस, इनको खाकर यही व्रत (चान्द्रायण) करे * ॥ १५५ ॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥
मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः ।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदकेवसेत् ॥ १५७ ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसंकथञ्चन ।
स कृत्वाप्राकृतंकृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥
विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च ।
केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

कच्चा मांस खाने वाले, (गाओं के) सूअर, ऊंट, (गाओं के) कुक्कड़, मनुष्य का मांस कौए और गधे के भक्षण में तप्त कृच्छ्र शुद्ध करने वाला है[१]॥१५६॥जो द्विज (ब्रह्मचारी) समावर्तन हुए विना मासिक (श्राद्ध) का अन्न खावे, वह तीन दिन उपवास करे,

---

* विष्णु० ५१।२७, ३४ राघ० 'भौमानि'=भूमि में होने वाले (कुकरमुत्ते) कवकानि=कुकरमुत्ते (वृक्षों पर होने वाले) लेता है। पर मेधा० 'भौमानि' को विशेषण मानकर यह कहता है, कि वृक्ष की खोड़ों में होने वालों का निषेध नहीं । [१] वासि० २३।३० गौत० २३।४-५ विष्णु० ५१।३-४ पूर्व० ५।१९-२१ में भी प्रायश्चित्त कहा है, वह बार २ करने के विषय में है, यह एकही बार करने के विषय में है (कुल्लू० राघ०) तप्त कृच्छ्र देखो आगे २१५

एक दिन जल में वास करे*॥१५७॥ जो ब्रह्मचारी शहद वा मांस किसी तरह खाले, वह प्राजापत्य कृच्छ्र करके शेषव्रत को समाप्त करदे † ॥ १५८ ॥ बिल्ली, कौए, चूहे, कुत्ते और नेउले का झूठा तथा बाल वा कीड़े से दूषित खाकर ब्राह्मी सौंचल का काढ़ा पिये‡

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ।
अज्ञानभुक्तंतूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥१६०॥
एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतांविधिः ॥ १६१ ॥
धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

जो अपनी शुद्धि चाहता है, उसे अभोज्य अन्न नहीं खाना चाहिये, जो भूल से खालिया हो, तो उगल दे, वा प्रायश्चित्तों से जल्दी शोधन करे § ॥ १६० ॥ यह अभक्ष्य भक्षण के व्रतों

---

* विष्णु० ५१ । ४३-४४ टीकाकार यहां मासिक से मासिक श्राद्ध लेते हैं, वह भी सपिण्डी करण से पूर्व एकोद्दिष्ट श्राद्ध, क्योंकि पूर्व० २।१८९ में श्राद्ध भोजन की अनुज्ञा है । मेधा० के अनुसार जलवास चौथे दिन करे, कुल्लू० राघ० के अनुसार तीन दिन में से पहले दिन करे † वासि०२३।१२ याज्ञ०३।२८२ विष्णु० ५१।५५ 'ब्रह्मचारी' के स्थान मेधा० गोवि० नारा० नन्द० 'व्रतचारी' पढ़ते हैं । अर्थ व्रतचारी का भी ब्रह्मचारी ही लेते हैं, किन्तु नारा० ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी, विधवा आदि लेता है ‡ वासि० २३।'१ विष्णु० ५१ । ४६ बाल वा कीड़े से दूषित=बाल वा कीड़े के संसर्ग से दुष्ट (गोवि० कुल्लू० राघ०) § गौत० २३ । २६ शोधनैः= प्रायश्चित्तों से (मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ०) शोधक वस्तुओं से (नारा० नन्द०)

की नाना विधियें कही हैं, अब (महापातक से भिन्न) चोरी के दोष दूर करने वाले व्रतों की विधि सुनो ॥ १६१ ॥ ब्राह्मण अपने जाति वालों के घर से ही इच्छा पूर्वक धान, अन्न, धन की चोरी करके वर्ष भर कृच्छ्र से शुद्ध होता है * ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥१६३॥
द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः ।
चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥१६४॥
भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥१६५॥

मनुष्य, स्त्री, क्षेत्र और घर तथा कुंए और बावड़ी के जल के सारा हर लेने में प्रायश्चित्त चान्द्रायण बतलाया है† ॥१६३॥ थोड़े मूल्य वाले द्रव्यों की दूसरे के घर से चोरी करके, वह (चुराया धन स्वामी को) चुकाकर अपनी शुद्धि के लिये सांतपन कृच्छ्र करे‡ ॥१६४॥ भक्ष्य भोज्य, यान, शय्या, आसन, पुष्प, मूल और फलों के चुराने में पञ्चगव्य शुद्धि करने वाला है§ १६५

---

* विष्णु० ५२।५ यह हद का प्रायश्चित्त बतला दिया है, देशकाल द्रव्य के परिमाण आदि की अपेक्षा से घट होसक्ता है (मेधा० गोवि० कुल्लू० नारा० नन्द०) † विष्णु० ५२।६ मनुष्य, स्त्री=दास, दासी (मेधा०) 'जलानां' के स्थान 'तडागानां तालावों के' पाठान्तर है (राघ०) ‡ विष्णु० ५२।७ थोड़े मूल्य वाले=मट्टी के बर्तन बटलोई आदि, लकड़ी के द्रोण आढक आदि, लोहे के कुदाल आदि (मेधा०) रांगा सिक्का आदि(गोवि०कुल्लू०राघ०) पलाल आदि(नारा०)§१६५-१६६विष्णु०५२।८-९यह और अगला नियम अज्ञानसे करने मेंहैं(नारा०)

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।
चैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥
मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।
अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता॥१६७॥
कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥१६८॥

घास, काठ, वृक्ष, सूखा अन्न, गुड, वस्त्र, चमड़ा और मांस के चुराने में तीन दिन उपवास हो ॥ १६६ ॥ मणि, मोती, गुलियें, तांबा, चान्दी, लोहा, कांसी और पत्थर के चुराने में बारह दिन (चावलों के) कण खाए ॥ १६७ ॥ सूती, रेशमी, ऊनी कपड़ों के, दो खुर वाले (गौ आदि) एक खुर वाले (घोड़े आदि) के, पक्षियों, गन्धों (चन्दन आदि), औषधियों के और रस्सी के चुराने में तीन दिन दूध पिये * ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत ॥ १६९ ॥
गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च॥१७०॥

इन व्रतों से द्विज चोरी के पाप को दूर करे, और गमन न करने योग्य स्त्री से गमन करना इन व्रतों से दूर करे ॥ १६९ ॥ सगी बहिन, मित्र वा पुत्र की स्त्री, कंवारी और चण्डाली में

* विष्णु० ५२।१० रस्सी कुएं की (मेधा०)

वीर्य सेचन करके गुरु स्त्री गमन का प्रायश्चित्त करे * ॥१७०॥

पैतृष्वस्रेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥
एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् ।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

पिता की बहिन, तथा माता की बहिन की कन्या और माता के सगे† भाई की कन्या जो बहिन के तुल्य हैं, इनका गमन करके चान्द्रायण करे ॥१७१॥ इन तीनों को बुद्धिमान् पत्नी के अर्थ न विवाहे, क्योंकि यह (सपिण्ड) सम्बन्ध वाली होने से विवाह के योग्य नहीं इनको विवाहता हुआ नीचे गिरता है ‡ ॥१७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु ।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥

---

* वासि० २० । १५-१६ गौत० २३ १२-१३, ३२ बौधा० २।१।१३ याज्ञ० ३ । २३३ विष्णु० ३४।२ ; ३६।७ ; ५३।१ और देखो पूर्व० ५९ । मेधा० गोवि० कुल्लू० राघ० के अनुसार जानकर बार २ ऐसा पाप करे तो मरण प्रायश्चित्त, इतरथा १०१ में कहा प्रायश्चित्त करे, नारा० के अनुसार १२ वर्ष का करे ।

† सब टीकाकारों के अनुसार 'भ्रातुराप्तस्य' पाठ चाहिये जो छपे पुस्तकों में 'भ्रातुस्तनयां' है । नन्द० के अनुसार 'भ्रातुराप्ताम' है । पूर्व० ३।५ में माता की सपिण्डा को विवाहने का निषेध कहा ही है, किन्तु दाक्षिणात्यों में मामा की कन्या के विवाहने का आचार देखकर निषेध की दृढ़ता के लिये फिर कहा है (कुल्लू०)

‡ नीचे गिरता है=नरक में पड़ता है (कुल्लू०) जाति से गिर जाता है (नारा०)

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥
चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७५॥
विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि ।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥१७६॥

मनुष्य से भिन्न जाति की नारियों (भेड़ आदि) में, रजस्वला (स्त्री में), योनि से भिन्न स्थान में, और जल में वीर्य सेचन करके कृच्छ्र सांतपन करे * ॥१७३॥ द्विज किसी पुरुष से, वा अपनी स्त्री से छकड़े में, पानी में, वा दिन में मैथुन करे, तो वस्त्रों समेत स्नान करे † ॥१७४॥ ब्राह्मण चण्डाल वा अन्त्यजों की स्त्रियों का गमन करके, उनका भोजन खाकर वा दान लेकर, यह सब भूल से करे तो पतित होता है. ज्ञान से तुल्यता को प्राप्त होता है ‡ ॥१७५॥ व्यभिचारिणी स्त्री को पति एक घर में रोके और जो व्रत पुरुष को परस्त्री गमन में है, वह इससे करवाए § १७६

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपमन्त्रिता ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥

* गौत० २२ । ३६; २३।३४ याज्ञ० ३ । २८८ विष्णु० ५३ । ४, ७
† याज्ञ० ३।२९१ विष्णु० ५३।४ बिना इच्छा के करने में यह प्रायश्चित्त है (नारा०) ‡ वासि० २३ । ४१ बौधा० २।४।१३-१४ विष्णु० ५३।५-६ अन्त्यज=म्लेच्छ भील आदि (मेधा० गो वि० कुल्लू०) सूत आदि (नारा०) यवन आदि (राघ०) § वासि० २१ । ८ । १२-१३ विष्णु० ५३।८ परस्त्री गमन को ५९ में उपपातक कहा है, और ११७ में उसका प्रायश्चित्त चान्द्रायण कहा है ।

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः ।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

वह सजातीय पुरुष से प्रार्थना कीहुई यदि फिर दूषित हो, तो कृच्छ्र चान्द्रायण इसका पवित्र करने वाला कहा है * ॥ १७७ ॥ द्विज एकरात वृषली के सेवन से जो पाप करता है, उसको भीख मांगकर खाता हुआ, नित्य (गायत्री का) जप करता हुआ तीन वर्षों में दूर करता है † ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७९॥
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥१८०॥

यह स्वयं पाप करने वाले चारों (हत्यारे, चोर, अभक्ष्य भक्षक और अगम्यागामियों) की भी शुद्धि कही है, अब पतितों के साथ संसर्ग वालों के प्रायश्चित्त सुनो ॥ १७९ ॥ पतित के साथ बरस भर के लगातार संसर्ग से पतित होजाता है, पर यज्ञ कराने, पढ़ाने वा रिश्तेदारी से, न कि साथ चलने बैठने वा खाने से ‡

* छपे पुस्तकों में ' उपयन्त्रिता ' पाठ है। टीकाओं के अनुसार ' उपमन्त्रिता ' चाहिये, सो कर दिया है † आप० १।२७।११ बौधा० २।१।२१ विष्णु ० ५३ । ९. वृषली=चण्डाली (मेधा० कुल्लू० राघ०) शूद्रा (मेधा० गोवि० नारा०)

‡ वासि० १।२२ गौत० २१ । ३ बौधा० २।२।३५ याज्ञ० ३ । २६१ विष्णु ३५।३-५ गोवि० नारा० यज्ञ कराने आदि से दोनों अभिप्राय लेते हैं, उसको यज्ञ करवाना वा उससे यज्ञ करवाना, इसी प्रकार उससे पढ़ना वा उसको पढ़ाना, और यह भी कि साथ चलने बैठने खाने से चार बरस में पतित होता है ।

योयेन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥
पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥१८२॥

जो मनुष्य इनमें से जिस पतित के साथ संसर्ग को प्राप्त हो, वह उसके संसर्ग (दोष) की शुद्धि के लिये उसी का प्रायश्चित्त करे * ॥ १८१ ॥ (पतित के) सपिण्ड और बान्धव (समानोदक) निन्दित दिन में सायं समय ग्राम से बाहर निकलकर ज्ञाति, ऋत्विज् गुरुओं के सामने पतित की उदक क्रिया (जलाञ्जलि) करें (मानों वह मर गया है) † ॥१८२॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।
अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥
निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥१८४॥
ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥१८५॥

और दासी जल भरे घड़े को प्रेतवत् ‡ पाओं से उलटे, और बान्धवों के साथ एक दिन रात आशौच करें ॥ १८३ ॥

* विष्णु० ५४.१ १° १८२-१८५ वासि० १५।१२-१६ गौत० २०.४-७ बौधा० २।१।३६ याज्ञ० ३।२९५

‡ प्रेतवत्=यह अमुक के लिये है, ऐसा कहती हुई (मेधा०) दक्षिण मुख होकर (गोवि० कुल्लू० राघ० नारा० नन्द०)

उस पतित से संभाषण, इकट्ठे बैठना, जायदाद का देना, और लोक व्यवहार (उत्सवादि में निमन्त्रण आदि) छोड़ देवें ॥१८४॥ उसका बड़प्पन (आगे से उठना आदि) और बड़े को मिलने योग्य उद्धार हटा दिया जाए, और उसका भाग उससे छोटा जो गुणों में अधिक हो, वह लेवे ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये॥१८६॥
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥१८७॥
एतमेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥१८८॥

जब प्रायश्चित्त पूरा होजाए, तब उसके साथ किसी पवित्र जलाशय में स्नान करके, जल का भरा एक नया घड़ा (उसी जलाशय में) फेंकदें (मानों पानी सांझा करदें) * ॥ १८६ ॥ उस घड़े को जल में फेंककर अपने भवन में प्रवेश करके पूर्ववत सारे ज्ञाति कार्यों को करे ॥ १८७ ॥ पतित हुई स्त्रियों के विषय में भी यही विधि बर्तें, पर उनको खान पान और वस्त्र (घर से) देना चाहिये, और वह (अपने) घर के समीप रहें† ॥१८८॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत् ।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥१८९॥

* १८६-१८७ वासि० १५।१७-२१ गौत० २।१०-१४ बौधा० २।१।३६ याज्ञ० ३ । २९६ † याज्ञ० ३ । २९७

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

प्रायश्चित्त पूरा न किये पापियों के साथ कोई व्यवहार न करे, पर प्रायश्चित्त कर चुकों को कभी न निन्दे (पूर्ववत् बर्ते)* ॥ १८९ ॥ बालहत्या करने वाले, कृतघ्न (भलाई के बदले बुराई करने वाले) और शरणागत के मारने वालों के साथ न रहे, चाहे वह धर्ममर्यादा से शुद्ध भी होचुके हों ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥
प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥१९२॥

जिन द्विजों को विधि अनुसार सावित्री का उपदेश न हो, उनको तीन कृच्छ्र कराकर यथाविधि उपनयन कराए † ॥१९१॥ जो द्विज (शास्त्र) विरुद्ध आजीविका वाले हैं, वा (उपनीत होकर भी) वेद नहीं पढ़े हैं, वह यदि प्रायश्चित्त करना चाहें, तो उनको भी यही (तीन कृच्छ्र) उपदेश करे ‡ ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति जपेन तपसैव च ॥१९३॥
जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

---

* १८९-१९० याज्ञ० ३।२९९ विष्णु० ५४।३२-३३ † वासि० ११।७६-७९ आप० १।१।२३; २।१० विष्णु० ५४।२६ उपनयन का समय देखो पूर्व० २।३८ ‡ विष्णु० ५४।२७

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥
सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥
व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥१९७॥
शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः ।
संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥
श्वशृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

यदि ब्राह्मण निषिद्ध कर्म से धन कमाते हैं, तो उनके त्याग से, स्वाध्याय से और तप से शुद्ध होते हैं * ॥ १९३ ॥ एकाग्रचित्त हो तीन हजार गायत्री जपकर, महीना भर गोष्ठ में दूध पीकर, दुष्ट प्रतिग्रह से छूटता है † ॥१९४॥ उपवासों से दुर्बल हुए, गोष्ठ से फिर आए, नम्र हुए उसको (ब्राह्मण) पूछें, हे सौम्य ! क्या तू हमारे साथ समता चाहता है (अर्थात फिर दुष्ट प्रतिग्रह नहीं करेगा) ‡ ॥१९५॥ ब्राह्मणों के सामने सत्य कहकर (सत्य कहता हूं, फिर ऐसा नहीं करूंगा, कहकर) गौओं के लिये चारा डाले, गौओं मे बनाए तीर्थ § (जहां

* याज्ञ० ३। २९० विष्णु० ५४। २४, २८ निषिद्ध कर्म=दुष्ट प्रतिग्रह आदि † मेधा० गायत्री जप में दो मत दिखलाता है, कई कहते हैं, प्रति दिन तीन हजार गायत्री जपे, दूसरे कहते हैं महीने में तीन हजार जपे अर्थात् प्रति दिन १०० गायत्री जपे। ‡ १९५-१९६ याज्ञ० ३। ३०० § गौओं के पानी पीने के घाट (मेधा०)

गौओं ने चारा खाया है) पर (ब्राह्मण व्यवहार में) उसका स्वीकार करें ॥ १९६ ॥ व्रात्यों को यज्ञ कराके, बेगानों की अन्त्येष्टि करके, अभिचार करके और अहीन यज्ञ करके तीन कृच्छ्रों से शुद्ध होता है * ॥१९७॥ शरणागत को त्याग कर, वेद को बिगाड़ कर, द्विज बरस भर निरे जौ खाता हुआ उस पाप को दूर करता है † ॥ १९८ ॥ कुत्ते, गीदड़, गधे, ग्रामीण कच्चा मांस खाने वाले (बिल्ली आदि), मनुष्य, घोड़े, ऊंट, और सूअर से काटा हुआ पुरुष प्राणायाम से शुद्ध होता है ‡ ॥१९९॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजपएव वा ।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्तयानां विशोधनम् २००
उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः ।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति २०१
विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च ।
सचैलोबहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥२०२॥
वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०३॥

---

* आप० १।२६।७ याज्ञ०३।२८९ विष्णु० ५४।२५ व्रात्य देखो पूर्व० १०।२० अभिचार=किसी के मारने के लिये यज्ञ-श्येन आदि † याज्ञ० ३।२८९ वेद को बिगाड़ कर=न पढ़ाने योग्य को पढ़ाकर (मेधा० गोवि० कुल्लू० नन्द०) मिथ्या अर्थ करके (नारा०) अनभ्यास से भूलकर (राघ०) ‡ वासि० २३। ३१ गौत० २३।७ याज्ञ० ३।२७७ विष्णु० ५४। १२ नारा० 'अग्राम्यैः' पद च्छेद कर 'अग्राम्यैः क्रव्याद्भिः=जंगली दरिन्दे=भेड़िया आदि' अर्थ लेता है ।

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥२०४॥

महीना भर छटे समय (तीसरे दिन रात को) भोजन, प्रति दिन संहिता का स्वाध्याय और शाकल होम यह पंक्ति-दूषकों का शोधक है * ॥ २०० ॥ ऊंट के यान, वा गधे के यान पर चढ़कर, वा इच्छा से नंगा हुआ स्नान करके प्राणायाम से शुद्ध होता है † ॥ २०१ ॥ पीड़ित होकर मल मूत्रादि का त्याग जल (-प्रयोग) के बिना, वा जलों के अन्दर करे, तो वस्त्रों समेत (गाओं से) बाहर (नदी आदि में) स्नान कर गौ को स्पर्श करके शुद्ध होता है‡॥२०२॥ वेदविहित नित्य कर्मों के लोप में और स्नातक के व्रतों के लोप में (एक दिन) भोजन न करना प्रायश्चित्त है § ॥ २०३ ॥ ब्राह्मण को 'हुं' कहकर और बड़े को 'तूं' कहकर, स्नान करके बाकी दिन कुछ न खाए, और (उसको) नमस्कार करके प्रसन्न करे ‖ ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥२०५॥

---

* पंक्ति दूषक ३।१५१ आदि में कहे हैं, शाकल होम देखो यजुर्वे० ८। १३ नारा० कहता है, जिन पंक्ति-दूषकों का अलग प्रायश्चित्त नहीं कहा, उनका यह प्रायश्चित्त है † याज्ञ० ३।२९१ विष्णु० ५४.२३ मेधा० कुल्लू० कहते हैं,' जो ऊंट वा गधे की सीधी पीठ पर (न कि यान पर) चढ़े वह एक से अधिक प्राणायाम करे ‡ विष्णु० ५४।१० § विष्णु० ५४।२९ स्नातक व्रत अध्याय ४ में कहे हैं ‖ याज्ञ० ३। २९२ 'हुं' रोकने के लिये, हुं, ऐसा मत कहे, इत्यादि। 'तूं' बिना आदर के एकवचन से बुलाकर 'तूं ऐसा कह कर' इत्यादि।

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च ।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

(ब्राह्मण को) तिनके से भी ताड़कर, वा गले में कपड़ा बांधकर वा विवाद में जीतकर, प्रणायाम करके प्रसन्न करे * ॥ २०५ ॥ (ब्राह्मण को) मारने की इच्छा से दण्ड उठाकर सौ बरस, और मारकर हजार बरस नरक को प्राप्त होता है † २०६

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति द्विजन्मनः ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥
अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने ।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ।२०८।
अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥२०९॥
यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥२१०॥

(ब्राह्मण का) लहू जितने धूलिकणों को लपेटता है, उतने हजार बरस लहू निकालने वाला नरक में रहता है ‡ ॥ २०७ ॥ ब्राणह्म को (मारने की इच्छा से) दण्ड उठाकर कृच्छ्र करे, प्रहार करके अतिकृच्छ्र, लहू उत्पन्न करके कृच्छ्र और अति-

---

* याज्ञ० ३। २९२ देखो पूर्व० ४। १६६ † २०६-२०७ मिलाओ पूर्व० ४।१६५, १६७-१६९ ‡ छपे पुस्तकों में 'संगृह्णाति महीतले' पाठ है। पर टीकाकारों के सब के अनुसार 'संगृह्णातिद्विजन्मनः' चाहिये वैसा कर दिया है।

कृच्छ्र दोनों करे * ॥ २०८ ॥ जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है, उनके दूर करने के लिये शक्ति और पाप को देखकर प्रायश्चित्त की कल्पना करे † ॥२०९॥ जिन उपायों से मनुष्य पापों को दूर करता है, उन उपायों को तुम्हें बतलाउंगा, जो देव ऋषि और पितरों ने सेवन किये हैं ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥२११॥
गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिं सर्पिः कुशोदकम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥२१२॥
एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥

प्राजापत्य (कृच्छ्रव्रत) करता हुआ द्विज तीन दिन प्रातः काल ही खाए, तीन दिन सायंकाल ही खाए, तीन दिन बिन मांगा खाए और फिर तीन दिन कुछ न खाए ‡ ॥ २११ ॥ गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी, कुशा का उबला हुआ पानी, यह सब इकट्ठा करके एक दिन खाए, और एक दिन उपवास करे, यह कृच्छ्र सांतपन कहा है § ॥ २१२ ॥ अतिकृच्छ्र करता

---

* याज्ञ० ३।२९३ विष्णु०५४।३०पूर्व०६७में ब्राह्मण को पीड़ा देना और १२४ में उसका प्रायश्चित्त कहा है। †याज्ञ० ३।२९४ विष्णु० ५४।३४ ‡ वासि० २१।२० गौत० २६।२-५ आप० १ । २७ । ७ बौधा० २ । २। ३८; ४।५।६-७ याज्ञ० ३।३२० विष्णु०४६।१० मेधा० के अनुसार बिन मांगे अपनी स्त्री वा नौकरों से दिया भी अयाचित है §बौधा०४।५।१३ याज्ञ० ३।३१३ विष्णु० ४६।१९

हुआ तीन २ दिन तीन बार करके पूर्व कहे की तरह एक २ ग्रास खाए, अन्त्य में तीन दिन उपवास करे * ॥ २१३ ॥

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रति त्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥२१४॥
यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नामकृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥
एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥
एतमेवविधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥११७॥

तप्त कृच्छ्र करता हुआ ब्राह्मण तीन २ दिन गर्म किया जल, दूध, घी और वायु पिये और एकबार स्नान करे और संयमी रहे † ॥ २१४ ॥ मन को वश में रखकर, अप्रमत्त हो, बारह दिन कुछ न खाना, पराक कृच्छ्र होता है, जो सारे पापों का मिटाने वाला है‡॥२१५॥तीन समय स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में एक २ ग्रास घटाता जाए, और शुक्ल में बढ़ाता

---

* वासि० २४।१-२ गौत० २५।१८-१९ बौधा० २।२।४०;४।५।८ याज्ञ० ३।३२० पूर्व कहे की तरह=२११ में कहे की तरह, एक २ ग्रास तीन दिन प्रातः, तीन दिन सायं, तीन दिन बिन मांगा। †वासि० २१।१८ बौधा० २। २। ३७; ४।५।१० याज्ञ० ३।३१८ विष्णु० ४६। ११ ‡ बौधा० ४।५। १९ याज्ञ० ३।३२१ विष्णु० ४६। १८ अप्रमत्त हो= व्रत के अंगों में भूल न करता हुआ, (मेधा० ना०रा०) कृच्छ्र के अंग देखो वासि० २४।५

जाए, यह चान्द्रायण कहा है * ॥ २१६ ॥ यही सारी विधि (=ग्रास का बढ़ाना घटाना और तीन समय स्नान) शुक्लपक्ष से आरम्भ करके यव मध्यम चान्द्रायण करता हुआ करे§॥२१७॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणंचरन् ॥२१८॥
चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमितेसूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥२१९॥
यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैतिसलोकताम् ॥१२०॥
एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

---

* २१६–२२१ वासि० २४।४५–४७; २७।२१ गौत० २७ बौधा० ३।८ : ४।५।१७–२१ याज्ञ० ३।३२४–३२७ विष्णु० ४७ पूर्णमासी को १५ ग्रास खाकर कृष्ण प्रतिपदा से एक २ घटाता जाए, इस प्रकार चतुर्दशी को एक ग्रास रह जाएगा, फिर अमावस्या को उपवास करके प्रतिपदा से एक २ बढ़ाए, पूर्णमासी को फिर १५ ग्रास खाए। यह पिपीलिका मध्य चांद्रायण है। चंद्र की गति वाला होने से, एक २ कला की तरह, एक २ ग्रास घटने बढ़ने से चान्द्रायण और पिपीलिका मध्य=चींटी की कमर वाला है। जैसे चींटी दोनों ओर मोटी, मध्य में पतली होती है, इस प्रकार इसके दोनों ओर अधिक ग्रास और मध्य में उपवास आता है § शुक्ल प्रतिपदा से एक २ ग्रास बढ़ाता हुआ पूर्णमासी को १५ग्रास खाकर, कृष्णपक्ष में एक २ घटाता जाए। जौ की तरह इसका मध्य मोटा और किनारे पतले होने से 'यवमध्य चान्द्रायण' है।

यतिचान्द्रायणं करने लगा संयमी हुआ, हविष्य भोजन करता हुआ (शुक्ल वा कृष्ण पक्ष से आरम्भ करके) दुपहर के समय आठ २ ग्रास खाए ॥ २१८ ॥ सावधान हुआ प्रातःकाल चार ग्रास खाए, चार सायं काल को खाए, यह शिशु चान्द्रायण कहा है ॥ २१९ ॥ सावधान हुआ जिस किस रीति से हविष्य अन्न के २४० ग्रास जिस किस तरह खाता हुआ चन्द्र की सलोकता को प्राप्त होता है * ॥ २२० ॥ इस व्रत को रुद्र, आदित्य, वसु, मरुत और महर्षियों ने सम्पूर्ण पापों से छूटने के लिये किया है

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्त्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥२२२॥
त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥
स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥२२४॥
सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥
एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥२२६॥

महाव्याहृतियों से प्रति दिन स्वयं (व्रती) होकर होम करे,

* जिस किसी तरह अर्थात् एक २ दिन में इतने २ ग्रास इस नियम के बिना जिस दिन जितने चाहे, खाए । महीने में २४० ग्रास ही खाए, यह नियम रहे (नारा०)

अहिंसा, सत्य, अक्रोध और सरलता का आचरण करे॥२२२॥तीन बार दिन को और तीन बार रात को वस्त्रों समेत जल में प्रवेश करे, और (व्रत करता हुआ) स्त्री, शूद्र और पतितों के साथ कभी संभाषण न करे * ॥ २२३ ॥ (दिन) खड़ा रहने और (रात) बैठने से लंघाए, ब्रह्मचारी और व्रती † हो, गुरु देवता और ब्राह्मणों का पूजक हो ॥ २२४ ॥ गायत्री का और पावन मन्त्रों ‡ का शक्ति अनुसार नित्य जप करे, सभी व्रतों में प्रायश्चित्त के लिये इस प्रकार श्रद्धा से करे ॥२२५॥ जिन्होंने अपने पाप प्रकट किये हैं, वह द्विज इन व्रतों से शोधनीय हैं, पर जिन्हों ने पाप प्रकट नहीं किये, उनको मन्त्रों से और होमों से शुद्ध करे §

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यतेपापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयंकृत्वाऽनु भाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

प्रकट करने से, पश्चात्ताप से, तप से, वेदाध्ययन से, तथा

---

* स्त्रियों से संभाषण का निषेध माता और बड़ी बहिन आदि के सिवाय है, और पत्नी से किसी कार्य के उपयोगी संभाषण में निषेध नहीं (मेधा०) † व्रती=तड़ागी बांधना आदि, ब्रह्मचारी के के व्रतों से व्रती हो (गोवि० कुल्लू० नारा०) ‡ पावनमन्त्र=अघमर्षण और पावमानी ऋचा आदि देखो विष्णु० ५६ § वासि० २५।३ रहस्य पापों का प्रायश्चित्त पूछा इस तरह जासक्ता है, कि अमुक पाप कोई करे, तो क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये (कुल्लू० राघ०) जैसे पापों के प्रकाश में निरी अपनी ही बदनामी नहीं, किन्तु दूसरे की भी बदनामी और हानि है, ऐसे पाप रहस्य होते हैं (नारा०)

आपत्काल में * दान से पाप करने वाला पाप से छूटता है ॥ २२७ ॥ जैसे २ मनुष्य अधर्म करके स्वयं कहता है, वैसे २ केंचुली से सांप की तरह उस पाप से छूटता है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥
कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात् प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

जैसे २ उसका मन पाप-कर्म की निन्दा करता है, वैसे २ उसका वह शरीर† उस पाप से छूटता है ॥२२९॥ पाप करके पश्चात्ताप करने से उस पाप से छूटता है, फिर ऐसा नहीं करूंगा, (ऐसे दृढ़ संकल्प द्वारा) निवृत्ति से वह पवित्र होजाता है ॥२३०॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥२३१॥
अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥२३२॥
यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्॥ २३३ ॥

इस प्रकार परलोक में कर्म के फल का परिणाम मन से सोचकर मन वाणी और शरीर से सदा शुभ कर्म करे ॥२३१॥

---

* आपत्काल में अर्थात् जब प्रायश्चित्ती प्रायश्चित्त करने के वा वेद पाठ करने के असमर्थ हो।

† शरीर=आत्मा (मेधा० गोवि० कुल्लू० नंद०) सूक्ष्म शरीर (नारा०)

भूल से वा जानकर निन्दित कर्म करके उससे छूटना चाहता हुआ दुबारा न करे ॥ २३२ ॥ (तप कहते हैं) जिस कर्मके करने पर मन हलका न रहे (मन पर बोझ पड़जाए) उसमें उतना तप करे, जितना सन्तोष देने वाला हो ॥ २३३ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषिकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥२३४॥
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥२३५॥

सारा सुख जो देवताओं और मनुष्यों का है, वेद के द्रष्टा ऋषि बतलाते हैं, इसका आदि तप, मध्य तप और अन्त तप * ॥ २३४ ॥ ब्राह्मण का तप ज्ञान है, क्षत्रिय का तप रक्षा करना है, वैश्य का तप व्यापार है, और शूद्र का तप सेवा है २३५

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥
औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥२३७॥
यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥२३८॥

अपने ऊपर वश रखने वाले, फल मूल और वायु के खाने

---

* सुख की तप से उत्पत्ति, तप से स्थिति, और तप से पूर्णता होती है।

वाले ऋषि केवल तप से ही चर-अचर समेत त्रिलोकी को देखते हैं ॥ २३६ ॥ औषध, अरोगता, विद्या, और अनेक प्रकार की दैवी स्थिति, तप से प्राप्त होते हैं, क्योंकि तप इन सब का साधन है*॥२३७॥ जिससे पार होना कठिन है, जिसको पाना कठिन है, जिस पर चढ़ना कठिन है, जिसको करना कठिन है, वह सब तप से होजाता है, तप की शक्ति को कोई नहीं उलांघ सक्ता ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥
कीटाश्चाहिपतंगाश्च पशवश्चवयांसि च ।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥२४०॥
यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

महापातकी और दूसरे भी अकार्य करने वाले, भली भांति तपे तप द्वारा उस पाप से छूटजाते हैं ॥ २३९ ॥ कीड़े, पतंगे, सांप, पशु, पक्षी और स्थावर जीव (वृक्ष बेल आदि) तप के बल से स्वर्ग को प्राप्त होते हैं† ॥ २४० ॥ जो कुछ पाप

---

* मेधा० गोवि० नारा० 'अगदो' के स्थान 'अगदाः'। औषध= रसायन, अगद=रोग-नाशक औषध (मेधा०) विष-नाशक मन्त्र रूप औषध(नारा०)दैवी स्थिति इन्द्रादि देवता रूप से स्थिति। (कुल्लू०)

† नारा० 'कीटाश्च' के स्थान 'श्वानश्च=कुत्ते' पढ़ता है। पक्षी आदि का तप देखो कपोताख्यान (महाभा० १२) राघ० कहता है, कीड़े आदि का दुःख भोगना ही तप है, जो अपने खोटे कर्मों का फल भोग रहे हैं।

मन वाणी वा शरीर से मनुष्य करते हैं, उस सारे पाप को तपोधनी पुरुष तप से ही जल्दी जला देते हैं ॥ २४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥
प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः ।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥
इत्येतत्तपसो देवा माहाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुद्भवम् ॥२४४॥

तप से ही शुद्ध हुए ब्राह्मण के यज्ञों को देवता स्वीकार करते हैं, और उसकी कामनाएं पूरी करते हैं ॥ २४४ ॥ तप से ही प्रजापति प्रभु ने इस शास्त्र को रचा, वैसे ही ऋषि तप से ही वेदों को प्राप्त हुए॥२४३॥देवता इस सब(जगत)की तप से पवित्र उत्पत्ति देखते हुए इसप्रकार यह तप का माहात्म्य कहते हैं*२४४

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥२४५॥
यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥२४६॥

यथाशक्ति प्रतिदिन वेदाभ्यास, महायज्ञों का करना, (अपराध को) क्षमा करना, यह कर्म महापातकों से उत्पन्न हुए

* छपे पुस्तकों 'पुण्यमुत्तमं' पाठ है, पर टीकाकारों के सब के अनुसार 'पुण्यमुद्भवं' पाठ होना चाहिये, सो ठीक कर दिया है ।

पापों को भी, जल्दी नष्ट कर देते हैं * ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि प्राप्त हुई लकड़ी को अपने तेज से झट दग्ध कर देता है, वैसे वेदवेत्ता पुरुष ज्ञान की अग्नि से सारे पापों को दग्ध करदेता है †

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अतऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥
सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपिभ्रूणहणंमासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

यह (ब्रह्महत्यादि) पापों का यथाविधि प्रायश्चित्त कहा है, इससे आगे रहस्यों का प्रायश्चित्त जानो ॥ २४७ ॥ ओंकार, और व्याहृतियों सहित प्रति दिन किये सोलह प्राणायाम, महीने में गर्भ हत्यारे को भी पवित्र कर देते हैं ‡ ॥ २४८ ॥

कौत्संजप्त्वापइत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।
माहित्रंशुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥२४९॥
सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवतिनिर्मलः ॥ २५० ॥

कौत्स (कुत्स ऋषि से देखा) 'अपः' यह सूक्त (ऋग्वेद १।९७), वासिष्ठ (वसिष्ठ से देखा) 'प्रति' यह तृच (ऋग० ७।८०) माहित्र (महित्रीणामवो, इत्यादि सूक्त) (ऋग० १०।१८५) और शुद्धवती ऋचाओं (ऋग० ८।८।१९) का स्वाध्याय

* वासि० २७।७ याज्ञ० ३।३११ † वासि० २७।१-२
‡ वासि० २६।४ बौधा० ४।१।२९ विष्णु० ५५।५

करके सुरा पीने वाला भी शुद्ध होता है *॥२४९॥ अस्यवामीय (सूक्त) (ऋग्० १।१६४) को वा शिव संकल्प (यजु० ३४।१-६) को एक बार जपकर सोना चुराने वाला क्षण से निर्मल होता है†

हविष्यन्तीयमभ्यस्य नतमंहइतीति च ।
जपित्वापौरुषंसूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥
एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥२५२॥

हविष्पान्तीय (सूक्त—ऋग्० १०।८८) और 'नतमंहः' (ऋग्० ८।२३।५) का अभ्यास करके, और पुरुष सूक्त (ऋग्० १०।९०) का जप करके गुरुस्त्रीगामी (पाप से) छूटता है ‡ ॥ २५१ ॥ छोटे बड़े पापों को दूर करना चाहता हुआ 'अव' (ऋग्० १।२४।१४) इस ऋचा का, अथवा 'यत्किञ्चेदं' (ऋग्० ७।८९।५) इस ऋचा का वर्ष भर जप करे ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वाचान्नं विगर्हितम् ।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥
सौमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति ।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥२५४॥

दान के अयोग्य का दान लेकर, और निन्दित अन्न खाकर मनुष्य तरत्समन्दीय (९।५८।१–४) जपता हुआ तीन दिन से

---

* वासि० २६।५ † वासि०२६।६ 'यहां एक बार' से पूरा महीना प्रति दिन एक २ बार अभिप्रेत है (गावि० कुल्लू० नारा०) ‡ वासि० २६।७ याज्ञ० ३।३०१

पवित्र होता है * ॥ २५३ ॥ नदी में स्नान करके महीना भर सोम और रुद्र देवता वाला सूक्त (६।७४।१-४) और 'अर्यम्णम्' (इत्यादि) तीन ऋचा (ऋग्० ४।२।४-६) का स्वाध्याय करता हुआ बहुत पापों वाला शुद्ध होता है ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥२५५॥
मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नमइत्यृचम् ॥२५६॥
महापातकसंयुक्तोऽनु गच्छेद्गाः समाहितः ।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥२५७॥
अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥
त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः ।
मुच्यते पातकैः सर्वै स्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥२५९॥
यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥
हत्वालोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥२६१॥

(किसी तरह का भी) पापी 'इन्द्रम्' इत्यादि (ऋग्वेद १।१०६।१-७) सात ऋचाएं छः महीने जपे, वा जल में

* गौत० २४।२-३ बौधा० ४।२।८-१

निन्दित बात (मैथुन वा मलमूत्र त्याग) करके महीना भर भीख मांग कर खाए ॥ २५५ ॥ शाकल होम के मन्त्रों (यजु०८।१३) से वर्ष भर घी का होम करे, वा 'नमः' (ऋग्० ६।५१।८) इस ऋचा को जप करे, तो द्विज बड़े भारी पाप को भी दूर करता है * ॥ २५६ ॥ महापातकों से युक्त हुआ सावधान होकर गौओं के पीछे जाए, और भिक्षा के अन्न का आहार करता हुआ वर्ष भर पावमानी ऋचाओं (ऋग्वेद मण्डल ९) को जप करके शुद्ध होता है ॥ २५७ ॥ तीन पराकों से पवित्र हुआ शुद्ध हो जंगल में तीनवार वेदसंहिता का अभ्यास करके सारे पापों से छूट जाता है † ॥ २५८ ॥ सावधान हो तीन दिन उपवास करे, दिन में तीन वार स्नान करे, और तीन वार अघमर्षण सूक्त (१०।१९०) का जप करे, तो सारे पातकों से छूट जाता है ‡ ॥ २५९ ॥ जैसे यज्ञों का राजा अश्वमेध सारे पापों का दूर करने वाला है, वैसे अघमर्षण सूक्त सारे पापों को दूर करने वाला है ॥ २६० ॥ इन तीनों लोकों को भी मार कर, और जहां तहां से भी खाता हुआ ऋग्वेद को धारण करता हुआ ब्राह्मण (आदि) किसी पाप को नहीं प्राप्त होता§॥२६१॥

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

---

* नारा० कहता है 'नमः' इस ऋचा को प्रति दिन १०८ वार पढ़े † पराक देखो पूर्व० २१५ । वेदसंहिता=मन्त्र ब्राह्मण दोनों (कुल्लू० राघ०) केवल मन्त्र संहिता (नारा०) यह श्लोक 'अनश्नत्पारायण' का वर्णन करता है, जिसका पूरा वर्णन बौधा० ३।९ में है, ‡२५९–२६० वासि०२६।८ गौत० २४।१०-१२ बौधा०३।५;३।२।११ याज्ञ० ३।३०२ विष्णु० ५५।७ § वासि० २७।२

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्रं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥
ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एषज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥
आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयो यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
सगुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥२६५॥

ऋचाओं की संहिता वा यजुओं की संहिता, वा उपनिषद् समेत सामों की संहिता को एकाग्र हो तीन वार अभ्यास करके सारे पापों से छूट जाता है * ॥ २६२ ॥ जैसे मट्टी का ढेला बड़ी झील में प्रवेश करके जल्दी † बे पता होजाता है, वैसे हरएक दुष्कर्म तीन लड़ वाले (ऋचा, यजु, साम मन्त्रों वाले) वेद में डूब जाता है ॥ २६३ ॥ ऋचाएं, यजु, और अनेक प्रकार के (बृहद्रथन्तर आदि) साम और अन्य ‡ यह तीन लड़ वाला वेद जानना चाहिये, जो इसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है ॥२६४॥ (सारे वेदों के) आदि में होने वाला,

---

* बौधा० ४।५।२९ † गोवि० के अनुसार 'क्षिप्रं' पाठ कर दिया है, जो छपे पुस्तकों में 'क्षिप्तं' है ‡ अन्य से इन तीनों के ब्राह्मण अभिप्रेत है (कुल्लू०) अन्यानि के स्थान 'मेधा० गोवि० आद्यानि पढ़ते हैं अर्थ मुख्य । इस मुख्य का साम से अन्वय करके मेधा० दो तात्पर्य्य लेता है, मुख्य साम, जो संहिता में आए हैं, न कि वह जो ब्राह्मण में आए हैं, अथवा जो संहिता पाठ से पढ़े गए हैं, न कि पद पाठ, वा क्रम पाठ से। गोवि० इनमें से पहला तात्पर्य्य ही मानता है ।

तीन अक्षरों वाला ब्रह्म (ओम्) है, जिस पर वेद की बुनियाद है, वह एक दूसरा तीन लड़ का गुप्त वेद है, जो उसको जानता है, वह वेद का जानने वाला है ॥ २६५ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तोधर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस न स्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥
तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन् मानवो भृगुः ।
अस्यसर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्यनिर्णयम् ॥ २ ॥
शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाऽधममध्यमाः ॥ ३ ॥

हे निष्पाप तूने चारों वर्णों का धर्म सम्पूर्ण कह दिया है, अब हमें कर्मों की परली (मरने के पीछे) फल सिद्धि ठीक २ बतलाएं * ॥ १ ॥ वह मनु का पुत्र धर्मात्मा भृगु उन महर्षियों से बोला, इस सारे कर्मयोग का निर्णय सुनो ॥ २ ॥ शुभ-अशुभ फल वाला कर्म मन वाणी और शरीर से उत्पन्न होता है, और मनुष्यों की उत्तम अधम मध्यम गतियें कर्म से उत्पन्न होती हैं॥३॥

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

* 'तत्त्वतः पराम्' मुक्ति को ठीक २ बतलाएं (राघ०)

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

उस देही का जो तीन प्रकार का तीन (मन, वाणी, शरीर) के आश्रित दस लक्षण से युक्त कर्म है, उसका प्रेरक मन को जाने * ॥ ४ ॥ (वह दस लक्षण यह हैं) दूसरे के धन का चिन्तन (किस तरह मेरे हाथ आजाए), मन से अनिष्ट का चिन्तन, और मिथ्या दृढ़ विश्वास (परलोक कुछ नहीं, सब लूटने का ढकोसला बनाया हुआ है इत्यादि) यह तीन प्रकार का मानस कर्म है † ॥ ५ ॥ कठोर, झूठ, सब प्रकार की चुगली, और निष्प्रयोजन बकवास, यह चार प्रकार का वाणी का (पाप) है ॥ ६ ॥ बिना दिये (किसी का धन) लेना,

* तीन प्रकार का उत्तम, मध्यम, निकृष्ट । दस लक्षण, जो आगे ५–७ में कहे हैं † अनिष्ट चिन्तन=दूसरे के बध आदि का चिन्तन, वा निषिद्ध ब्रह्महत्यादि का चिन्तन । ५–२ याज्ञ०३।१३१ ; १३५–१३६

(शास्त्र) आज्ञा से बिना हिंसा, परस्त्री का सेवन यह तीन प्रकार का शारीर माना है ॥ ७ ॥ मन से किये शुभ-अशुभ कर्म को मन से, वाणी से किये को वाणी से, और शरीर से किये को शरीर से भोगता है ॥ ८ ॥ शरीर से किये कर्म दोषों से मनुष्य स्थावर योनि (वृक्षादि योनि) को, वाणी से किये कर्मों से पक्षी और पशु योनि को और मन से किये पापों से नीच योनि (चण्डालादि जन्म) को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथमनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥१०॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥११॥

वाणी का दण्ड, मन का दण्ड, शरीर का दण्ड, जिसकी बुद्धि में यह तीन दण्ड स्थित हैं, वह त्रिदण्डी कहलाता है * ॥ १० ॥ मनुष्य इन तीनों दण्डों को सब जीवों के विषय में लगाकर, काम और क्रोध को रोक कर सिद्धि को प्राप्त होता है

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१२॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

* दण्डी संन्यासी तीन दण्डों को इकट्ठा बांधकर हाथ में रखते हैं। यह श्लोक बतलाता है, कि वह तीन दण्ड इसलिये हैं, कि मनुष्य को अपने मन, वाणी और शरीर को अपने बस में रखना चाहिये, उनको दमन करना चाहिये।

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥
असंख्या मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ।
उच्चावचानिभूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

इस शरीर का जो प्रवर्तक (काम में लगाने वाला) है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, और जो कर्म करता है, उसको बुद्धिमान् भूतात्मा (भूतों का बना-शरीर) कहते हैं ॥ १२ ॥ एक और अन्तरात्मा*जीव नामवाला है, जो सब देहधारियों का स्वभाविक साथी है, जिससे हरएक जन्म में सारे सुख दुःख को जानता है ॥ १३ ॥ वह दोनों महान् और क्षेत्रज्ञ (पृथिवी आदि-) भूतों के साथ मिले हुए, ऊंच नीच सब भूतों में स्थित उस (परमात्मा) के आश्रय रहते हैं ॥१४॥ उस (परमात्मा) के शरीर से असंख्य मूर्तियें निकली हैं, जो ऊंचे नीचे भूतों को सदा चेष्टा कराती हैं†

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥
तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः ।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥१७॥
सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान् ।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥१८॥

मरने के पीछे पापियों के लिये (नरक की) यातना (भोगने)

---

* जीव से यहां महत् तत्त्व-बुद्धि, लिंग शरीर अभिप्रेत है, जैसाकि अगले श्लोक में महान् कहा है † मूर्तियें=भिन्न२देह।

के लिये (भूतों की) पांच मात्राओं स एक और दृढ़ * शरीर उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥ उस शरीर मे यम से दी उन यातनाओं को भोगकर उन्हीं भूत मात्राओं में वह अलग २ फिर लीन होजाते हैं ॥ १७ ॥ वह विषयासक्ति से उत्पन्न हुए दुःख फल वाले पापों को भोगकर, पाप से छूटा हुआ फिर उन दोनों बड़े पराक्रम वालों (महान् और परमात्मा) को प्राप्त होता है।१८।

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह ।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥१९॥
यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ।
तैरेव चावृतोभूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

वह सावधान हो इसके पुण्य पाप दोनों को इकट्ठा देखते हैं, जिससे युक्त हुआ यह जीव परलोक और इस लोक में सुख दुःख को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ यदि वह धर्म अधिक और पाप थोड़ा करता है, तब वह उन्हीं भूतों (स्थूल देह से खींच कर साथ लिये भूतों) से लपेटा हुआ स्वर्ग में सुख भोगता है॥२०॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः ।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥२१॥
यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः ।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यदि अधिक अधर्म और थोड़ा धर्म सेवन करता है, तब

---

* ध्रुव का अर्थ दृढ़ है । गोवि० और नारा० ने 'ध्रुवं' के स्थान 'दृढं' पढ़ा है ।

वह इन भूतों से त्यागा हुआ (मरा हुआ) यम की दी यातनाओं को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ यम की यातनाएं पाकर दूर हुए पाप वाला वह जीव फिर उन्हीं पांचों भूतों को प्राप्त होता है२२

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥
सत्वंरजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वान शेषतः ॥२४॥

इस जीव की धर्म और अधर्म से यह गतियें अपने चित्त से देखकर मन को सदा धर्म में लगाए ॥ २३ ॥ सत्त्व, रज, तम यह, तीन आत्मा (=महान् आत्मा) के गुण जाने, जिन से वह महान् आत्मा इन सारे भावों को पूरा २ व्याप कर स्थित है॥२४॥

यो यदैषां गुणोदेहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥
सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजःस्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥२७॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

(यद्यपि सारे देह इन तीनों गुणों वाले हैं तथापि) इनमें से जो गुण जब देह * में पूरा २ बढ़ता है, वह तब उस देही को उस गुण की अधिकता वाला (उस गुण के अधिक लक्षणों वाला) बना देता है ॥ २५ ॥ सत्त्व (का लक्षण) ज्ञान है, तम का अज्ञान, रागद्वेष रजस् कहे हैं । इन (गुणों) का यह लक्षण सब प्राणिशरीरों का व्यापक है (सब शरीरों में पाया जाता है) ॥२६॥ सो मनुष्य जब अपने अन्दर सुख से भरा हुआ गहरी शान्ति वाला, मानों शुद्ध प्रकाश वाला जो कुछ (संवेदन) प्रतीत करे, उसे सत्त्व निश्चय करे ॥२७॥ और जो (संवेदन) दुःख से युक्त, और आत्मा का सन्तोषकारी न हो, उसको रजस् जाने, जिसका रोकना कठिन † और देहधारियों को सदा (विषयों की ओर) खींचता है ॥ २८ ॥ जो (संवेदन) भूल से युक्त है, जिसका विषय स्फुट नहीं । जो तर्क से निश्चित न हो, (बाह्य इन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियों से) निश्चित न हो, उसको तम निश्चय करे‡ ॥ २९ ॥ इन तीनों गुण के यथा क्रम उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फल की जो उत्पत्ति है, उसको पूरा २ कहूंगा

* लिंग देह में (राघ०) पूर्व कर्म की प्रबलता के वश इस देह में कोई गुण प्रबल होता है (मेधा० गोवि०) † मेधा० 'अप्रतिघं' के स्थान 'अप्रतिपं' पढ़कर 'अप्रत्यक्ष' अर्थ लेता है । छपे पुस्तकों में भी यही पाठ है । पर दूसरी टीकाओं का पाठ 'अप्रतिघं' है अर्थ भी स्पष्ट है सो कर दिया है ‡'अव्यक्तं विषयात्मकं' पाठ है । गोवि० कुल्लू० नारा० राघ० के अनुसार 'अव्यक्त विषयात्मकं' है ।

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥३१॥
आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय-संयम, (दान-) धर्म का अनुष्ठान, आत्म-विचार यह सत्त्व गुण के चिन्ह हैं॥३१॥ (कामना से) कर्मों में रुचि, धीरज न होना, निषिद्ध कर्मों का स्वीकार, लगातार विषयों की सेवा यह रजो-गुण के चिन्ह हैं ३२

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

लोभ, निद्रा, कायरपन, क्रूरपन, नास्तिकपन, आचार का त्याग, मांगना और प्रमाद यह तमो-गुण के लक्षण हैं ॥ ३३ ॥ तीन (कालों) में * रहने वाले इन तीनों गुणों का क्रमशः यह संक्षिप्त अपने २ गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥३५॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

* नन्द० 'त्रिषु' के स्थान 'नृषु'=मनुष्यों में, पढ़ता है ।

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्नलज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥३७॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

जिस कर्म को करने के पीछे, करते हुए, वा करने लगे, लज्जा आती है, वह सब, बुद्धिमान् को तमो-गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥ ३५ ॥ जिस कर्म से इस लोक में बड़ी प्रसिद्धि चाहता है,और असिद्धि में शोक नहीं करता है,* वह रजो-गुण का चिन्ह जानना चाहिये ॥३६॥ जब (किसी विषय को) पूरे तौर से जानना चाहता है, जिसका आचरण करता हुआ लज्जा नहीं करता है, जिससे इसका आत्मा प्रसन्न होता है, वह सत्त्व गुण का चिन्ह है ॥ ३७ ॥ तम का लक्षण काम है, रज का अर्थ है, सत्त्व का लक्षण धर्म है, इनमें से अगला २ श्रेष्ठ है॥३८॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥३९॥
देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥४०॥
त्रिविधात्रिविधैषातु विज्ञेया गौणिकी गतिः ।
अधमा मध्यमाऽग्र्या च कर्मविद्याविशेषतः ॥४१॥

* यदि उस काम में सफलता न हो, तो दूसरा काम आरम्भ करता है, शोक से छोड़ नहीं देता है ।

इनमें से जिस गुण से जो पुरुष जिन २ गतियों को प्राप्त होता है, वह इस सारे जगत् की संक्षेप से यथा क्रम कहूंगा॥३९॥ सत्त्व-गुणी देवता भाव को प्राप्त होते हैं, रजो-गुणी मनुष्य भाव को, तमो-गुणी तिर्यक्-योनि को प्राप्त होते हैं, यह तीन प्रकार की गति हैं ॥४०॥ गुणों की गति कर्म और उपासना के भेद से उत्तम मध्यम और अधम तीन २ प्रकार की जाननी चाहिये ॥४१॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपः।
पशवश्चमृगाश्चैव जघन्या तामसीगतिः ॥ ४२ ॥
हस्तिनश्चतुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्चगर्हिताः।
सिंहाव्याघ्रावराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४४॥

पोदे, कृमि, कीड़े, मछलियें, सांप, कछुए *, पशु और मृग यह तमो-गुणी अधम गति है ॥ ४२ ॥ हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ †, सिंह, बाघ, और सूअर, यह तमो-गुणी मध्यम गति है ॥ ४३ ॥ चारण, सुपर्ण ‡, दम्भी पुरुष, राक्षस और पिशाच यह तमो-गुणी उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

* 'सकच्छपाः' पाठ (गोवि० कुल्लू० राघ०) के अनुसार है। पर मेधा० नारा० नन्द० के अनुसार 'सरीसृपाः'=रींगन वाले, पाठ है † म्लेच्छ=शबर आदि (नारा०) ‡ चारण=कथक गायक आदि (मेधा०) रस्सी आदि पर नाचने वाले (नारा०) नट (गोवि० कुल्लू०) देवयोनि विशेष (राघ०) सुपर्ण=पक्षिराज।

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाश्च कुवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥४५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधाऽनुचराश्चये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥
तापसा यतयो विप्रा येच वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः॥४८॥

झल्ल, मल्ल, नट और खोटी जीविकाओं वाले पुरुष, जुए और मद्यपान के व्यसनी, यह रजो-गुणी अधम गति है*॥४५॥ राजे, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित, और वाद-युद्ध के प्यारे† यह रजो-गुणी मध्यम गति है ॥४६॥ गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, और जो देवता के अनुचर हैं (विद्याधर आदि) तथा सारी अप्सराएं यह रजो-गुणी उत्तम गति है ‡ ॥४७॥ तपस्वी, यति, ब्राह्मण, विमानों पर विचरने वाले, नक्षत्र और दैत्य यह सत्त्व-गुणी अधमगति है।

---

* झल्ल, मल्ल, जो पूर्व (१०।२२ में) कहे हैं (कुल्लू० नारा०) झल्ल=गतकेबाज़, मल्ल=पहलवान (मेधा० कुल्लू०) मेधा० गोवि० नारा० के अनुसार 'पुरुषाश्चकुवृत्तयः' पाठ हमने स्वीकार किया है, जोकि कुल्लू० और छपे पुस्तकों के अनुसार 'पुरुषाः शस्त्र वृत्तयः' है। † वादयुद्ध=शास्त्रार्थ, अथवा वाद=विवाद और युद्ध लड़ाई। नन्द० 'दान युद्ध प्रधानाश्च' दान देने के प्यारे और युद्ध के प्यारे पढ़ता है ‡ गुह्यक=बच्चों को हानि पहुंचाने वाले यक्ष=धन के रखवाले (नारा०)

यज्वानऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकीगतिः ॥४९॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥
एषसर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥

यज्ञ करने वाले, ऋषि, देवता, वेद, ज्योति, वत्सर, पितर और साध्य यह दूसरी सत्त्व-गुणी गति है ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा, विश्व के रचने वाले (मरीचि आदि), धर्म, महान, अव्यक्त, इसको बुद्धिमान सत्त्व-गुणी उत्तमगति कहते हैं ॥ ५० ॥ यह तीन प्रकार के कर्म (मानस-वाचिक, कायिक) की सब जीवों से सम्बन्ध रखने वाली तीन २ प्रकार की सारी गति पूरी २ कहदी है।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्याऽसेवनेन च ।
पापान्संयान्ति संसारानऽविद्वांसोनराधमाः ॥५२॥
यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा ।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥५३॥
बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥५४॥

इन्द्रियों में लगाव से, धर्म पर न चलने से, मूर्ख अधम पुरुष पाप गतियों को प्राप्त होते हैं * ॥ ५२ ॥ जिस २ कर्म से

*याज्ञ० ३।२१९ मूर्ख = जिन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया (गोवि० कुल्लू०)

यह जीव जिस २ योनि को इस लोक में क्रमशः प्राप्त होता है, उस सारे को जानो ॥ ५३ ॥ महापातकी पुरुष बहुत वर्ष समूह घोर नरकों में पड़कर, उसके क्षय से इन जन्मों को प्राप्त होते हैं।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥
कृमिकीटपतंगानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥५६॥

ब्रह्महत्या करने वाला कुत्ते, सूअर, गधे, ऊंट, गौ, बकरी, मृग, पक्षी, चण्डाल, और पुक्कस की योनि को प्राप्त होता है * ॥५५॥ सुरा पीने वाला ब्राह्मण कृमि, कीड़े, पतंग, मैला खाने वाले† पक्षियों और हिंस्र जीवों की योनि को प्राप्त होता है॥५६॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः॥५७॥
तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

(सोना) चुराने वाला ब्राह्मण मकड़ी, सांप, गिरगिट, जलचर तिर्य-योनियों (मकर आदि) हिंस्र (राक्षसों) और पिशाचों के जन्मको हज़ार वार प्राप्त होता है॥५७॥गुरुस्त्रीगामी पुरुष घास, झाड़ी, बेल, कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि), दाढ़ों वाले और क्रूर कर्म करने वालों की योनि को सैंकड़े वार प्राप्त होता है।५८।

* ५५-५६ याज्ञ० ३।२०७ † ५७—५८ याज्ञ ३ । २०८

हिंसा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेत्यान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥५९॥
संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
आहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

हिंसकजन कच्चा मांस खाने वाले बनते हैं, अभक्ष्य के खाने वाले कृमि बनते हैं. चोर आपस में एक दूसरे के खाने वाले जन्तु बनते हैं. अन्त्यज स्त्रियों के सेवने वाले प्रेत बनते हैं।५९। (जितना समय पतितों के साथ संयोग से पतित होता है, उतना समय) पतितों के साथ संयोग को प्राप्त होकर, वा दूसरे की स्त्री से संयोग करके तथा ब्राह्मण का धन चुराकर ब्रह्म राक्षस होता है* ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधानिचरत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥
धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥६२॥

लोभ से मणि मोती मूंगे और अनेक प्रकार के रत्न चुराकर मनुष्य हेमकारों † में जन्म लेता है ॥६१॥ अनाज को चुराकर चूहा, कांसे को हंस, जल को जल कुक्कड़, शहद को, डांस, दूध को कौआ, रस को कुत्ता, और घी चुराकर नेउला होता है ‡॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ।
चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

---

* ६०-६१ याज्ञ३।२१२-२१३ † हेमकार=पक्षी विशेष। ‡ याज्ञ०३।२१४-२१५ विष्णु०४४।१५-२० रस=ईख आदि का रस (कुल्लू०) पारा (नारा०)

कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः ।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधां गां वाग्गुदो गुडम् ॥६४॥

मांस को चुराकर गिद्ध, चर्बी को चुराकर मद्गु, तेल को चुराकर तैलपायिक पक्षी, लवण को चुराकर झींगर (बींडा) दही को चुराकर बलाका पक्षी होता है* ॥६३॥ रेशमी कपड़ा चुराकर तित्तर, अलसी को चुराकर मेंडक, कपास का कपड़ा चुराकर क्रौञ्च, गौ को चुराकर गोह, गुड़ को चुराकर चमगादड़ होता है† ॥६४॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकंतुबर्हिणः ।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥

बको भवति हृत्वाऽग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् ।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

उत्तम गन्धों को चुराकर छुछून्दर, पत्तों के शाक को चुराकर मोर, सब प्रकार का पका अन्न चुराकर सेह, और कच्चे अन्न को चुराकर शल्यक होता है ‡ ॥ ६५ ॥ अग्नि को चुराकर बगला होता है, (घर का) सामान (छाज, मूसल आदि) चुराकर गृहकारी, लाल वस्त्र चुराकर चकोर होता है § ॥६६॥

वृकोभृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः ।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥

---

* याज्ञ० ३।२११, २१५ विष्णु० ४४।२१-२१ वपा के स्थान मेधा० गोवि० नन्द० वसा० पढते हैं † याज्ञ० ३।२१५ विष्णु० ४४।२५-३०

‡ याज्ञ० ३ । २१४ विष्णु० ४४ । ३१-३४ § याज्ञ० ३।२१४-२११ विष्णु० ४४।३५-३७

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः॥ ६८॥

मृग और हाथी को चुराकर भेड़िया, घोड़े को चुराकर बाघ, फल-मूल को चुराकर बन्दर, स्त्री को चुराकर रीछ, पानी को चुराकर पिपीहा, यान को चुराकर ऊंट और पशुओं को चुराकर बकरा होता है * ॥ ६७ ॥ चाहे कुछ ही (असार भी) दूसरे की वस्तु चुराकर बलवान् मनुष्य अवश्य तिर्यग्योनि को प्राप्त होता है, और होम से पहिले हवि को खाकर भी †।६८।

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः ।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥
स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥
वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् ।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥७२॥
यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथातथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

स्त्रियें भी चुराकर इसी प्रकार दोष को प्राप्त होती हैं,

*याज्ञ ३।२१४ विष्णु०४४।३८-४३ † याज्ञ० ३।२१७ विष्णु०४४।४५

इन्हीं जन्तुओं की वह स्त्रियें बनती हैं * ॥ ६९ ॥ (इस प्रकार निषिद्ध के अनुष्ठान का फल कहा, अब विहित के न करने का फल कहते हैं-) बिना आपत्काल के अपने २ कर्मों से च्युत हुए वर्ण निन्दित योनियों को पाकर, फिर दस्युओं के दास बनते हैं † ॥ ७० ॥ अपने धर्म से च्युत हुआ ब्राह्मण वमन खाने वाला ज्वाला-मुख प्रेत होता है, क्षत्रिय अमेध्य, और मुरदों के खाने वाला कटपूतन होता है ‡ ॥ ७१ ॥ वैश्य अपने धर्म से च्युत हुआ पीब खाने वाला मैत्राक्ष-ज्योतिक प्रेत होता है, शूद्र चैलाशक होता है ॥ ७२ ॥ विषयों के लालची ज्यों २ विषयों का सेवन करते हैं, वैसे २ उनमें उनकी कुशलता होती है

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥
विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥७६॥

---

*विष्णु० ४४-४१ † मेधा० गोवि० नारा० नन्द० राघ० के अनुसार 'दस्युषु' पाठ रक्खा है, जो कि छपे पुस्तकों में 'शत्रुषु' है। गोवि० ने 'दस्युषु' का अर्थ 'शत्रुषु' किया है, और कुल्लू० ने भी 'शत्रुषु' लिया है। मेधा० का अर्थ 'चोर, डाकू' है। नारा० के अनुसार जंगली जातियें शबर आदि। नन्द० 'प्रेष्यतां' के स्थान 'प्रेततां' पढ़ता है। अर्थात् दस्यु देशों में प्रेत बनता है और यह अगले श्लोक के अनुसारी है ‡ ज्वालामुख=जिसके मुख से ज्वाला निकलती है। कटपूतन=दुर्गन्धित नाक वाला (कुल्लू० नारा० राघ० नन्द०)

वह थोड़ी बुद्धि वाले उन कर्मों के अभ्यास से उन २ योनियों में दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥ तामिस्र आदि घोर नरकों में घूमते हैं, और बांधने छेदने वाले असिपत्रवन आदि नरकों को प्राप्त होते हैं * ॥७५॥ अनेक प्रकार से पीड़ा जाना, कौए, उल्लुओं से खाया जाना, अत्यन्त तपी बालु के सन्ताप को और दारुण कुम्भीपाकों को प्राप्त होते हैं † ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥
असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम् ।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अधिक दुःख वाली तिर्यग्योनियों में नित्य २ जन्म पाते हैं, सरदी गर्मी की चोटों और अनेक प्रकार के भयों को प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥ बार २ गर्भ स्थान में वास, दुःख देने वाला जन्म, काठ की बेड़ियों और लोगों के दासपन को प्राप्त होते हैं॥७८॥

बन्धुप्रियावियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्यचार्जनम् ॥ ७९ ॥
जरांचैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

---

* ७५-७६ देखो पूर्व० ४ । ८८-८९ याज्ञ० ३ । २०६ । २२१-२२५

† मेधा० 'करम्भबालुकातप्तः' पढता है । अर्थ-कीचड़ और रेत से तपा हुआ 'च दारुणान्' के स्थान मेधा० गोवि० राघ० नन्द० 'दुःसहान्' न सहारे जाने वाले, पढते हैं ।

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥
एष सर्वःसमुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

बन्धुओं और प्यारों से वियोग, दुर्जनों के साथ संवास, धन कमाने का परिश्रम और धन का नाश, (कष्ट से) मित्र का मिलना, (बिना कारण) शत्रुओं का प्रकट होना, इन सारे दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥७९॥ न हटाई जाने वाली वृद्धावस्था, रोगों से पीड़ा, भांति २ के क्लेश,और न जीती जाने वाली मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥८०॥ जैसे २ भाव (सात्विक,राजस वा तामस) से जिस २ कर्म का सेवन करता है, वैसे शरीर से उस २ फल को भोगता है ॥ ८१ ॥ यह तुम्हें (विहित निषिद्ध) सारा कर्मों का फलोदय कहा है,अब यह मोक्ष देने वाला ब्राह्मण का कर्म जानो

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरंपरम् ॥ ८३ ॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥
सर्वेषामपि चैतेषामत्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतंततः ॥ ८५ ॥
षण्णां मेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेहच ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

वेद का अभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, और गुरु-सेवा यह उत्तम मोक्ष साधन है * ॥ ८३ ॥ इन सारे शुभ कर्मों में से भी कोई कर्म पुरुष के लिये बहुत ही कल्याणकारी कहा है ॥ ८४ ॥ इन सब में से आत्म-ज्ञान सब से उत्तम माना गया है, यह सब विद्याओं में मुख्य है, इससे अमृत प्राप्त होता है † ॥ ८५ ॥ इन सारे छः कर्मों में से वैदिक कर्म सदा इस लोक और परलोक में कल्याणकारी जानना चाहिये ‡ ॥८६॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ॥८७॥
सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तंच निवृत्तंच द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक कर्म-योग में यह सारे क्रमशः अलग २ उन २ क्रिया विधि में अन्तर्गत होते हैं § ॥ ८७ ॥ वैदिक कर्म दो प्रकार का है। प्रवृत्ति रूप और निवृत्ति रूप (इनमें से प्रवृत्ति-कर्म) सुख और स्वर्ग का साधन और (निवृत्ति-कर्म) मोक्ष का साधन है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तंकर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति यञ्च वै ॥ ९० ॥

* याज्ञ० ३।१९० † याज्ञ० १। १९९ आत्म-ज्ञान=परमात्मा का ज्ञान (मेधा० गोवि० कुल्लू० नन्द०) 'सर्वेषां' षष्ठी पञ्चमी के अर्थ में है। सब से बढकर (नन्द०) ‡ छः कर्म जो ८३ में कहे हैं।

§ वेदाभ्यासादि आत्म-ज्ञान के साधन होने से आत्म-ज्ञान में ही आजाते हैं देखो बृह० ४।४।२२

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥९१॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥९२॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥९३॥

यहां वा परलोक की कामना के लिये किया कर्म प्रवृत्त कर्म कहलाता है, और ज्ञानपूर्वक निष्काम-कर्म निवृत्त कहा है ॥८९॥ प्रवृत्त-कर्म को सेवन करके देवताओं की समता को प्राप्त होता है, निवृत्त को सेवन करता हुआ पांच भूतों को उलांघ जाता है (मुक्त होजाता है) ॥९०॥ सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में सम देखता हुआ आत्मा का पुजारी स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है * ॥९१॥ शास्त्रोक्त भी (अन्य) कर्म † त्याग कर ब्राह्मण आत्म-ज्ञान में, शम में और वेदाभ्यास में यत्न वाला हो ॥९२॥ यही जन्म की सफलता है, विशेष करके ब्राह्मण की। इसको पाकर द्विज कृत-कृत्य होता है अन्यथा नहीं

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यंचाप्रमेयंच वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥
यावेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्चकुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥

* आत्मा का पुजारी, सब कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करने वाला।
† अन्य कर्म = अग्निहोत्रादि (मेधा० गोवि० कुल्लू०)

उत्पद्यन्तेच्यवन्ते च यान्यतोन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनृतानिच ॥९६॥
चातुर्वर्ण्यंत्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतंभव्यंभविष्यंच सर्ववेदात्प्रसिध्यति ॥९७॥

वेद मनुष्यों का, देवताओं का और पितरों का सनातन नेत्र है (वेद सब को सीधा रस्ता दिखलाता है) वेद शास्त्र अशक्य है और अप्रमेय (जिसके प्रमेय की थाह नहीं) है, यह मर्यादा है * ॥ ९४ ॥ जो स्मृतियें वेद-मूलक नहीं, और जो कुदर्शन (कुतर्कों वाले दर्शन) हैं, वह सब परलोक में निष्फल हैं, वह अन्धकार से प्रकट हैं ॥ ९५ ॥ वेद से भिन्न (परलोक सम्बन्धी) जो कोई (शास्त्र) हैं, वह उत्पन्न होते हैं, और गिरते हैं, वह अब के किसी पुरुष से किये हुए होने से निष्फल हैं क्योंकि झूठे हैं ॥ ९६ ॥ अलग २ चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्यत और वर्तमान सब वेद से जाना जाता है ॥ ९७ ॥

शब्दःस्पर्शश्चरूपंच रसो गन्धश्चपञ्चमः ।
वेदादेवप्रसिध्यन्ति प्रसूतिगुणकर्मतः ॥९८॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परंमन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥
सैनापत्यंच राज्यंच दण्डनेतृत्वमेवच ।
सर्वलोकाधिपत्यंच वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

* अशक्य = मनुष्य से बनाए जाने के अशक्य है, अर्थात् अपौरुषेय है (गोवि० कुल्लू०)

यथाजातबलो वन्हिर्दहत्यार्द्रानपिद्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजंदोषमात्मनः ॥१०१॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवां गन्ध यह अपनी उत्पत्ति, गुण और कर्म द्वारा वेद से ही जाने जाते हैं * ॥९८॥ सनातन वेदशास्त्र सारे भूतों का पालन-पोषण करता है, इसलिये मैं इसको उत्तम मानता हूं, जोकि इस मनुष्य के (लोक परलोक) का साधन है ॥ ९९ ॥ सेनापति होने के, राजा होने के, दण्ड का नेता होने के, और सब लोकों का अधिपति होने के योग्य वेद-शास्त्र का जानने वाला होता है ॥१००॥ जैसे बढ़ी हुई अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देती है, वैसे वेद का जानने वाला अपने कर्म जन्य दोषों को (ज्ञानाग्नि से) जला देता है † ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१०२॥
अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाग्रन्थिभ्यो धारिणोवराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाज्ञानिभ्योऽव्यवसायिनः॥१०३॥
तपो विद्या च विप्रस्य निः श्रेयसकरं परम् ।
तपसाकिल्बिषंहन्तिविद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

वेद और शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला जिस किसी

---

* छपे पुस्तकों में ' प्रसूयन्ते ' पाठ है । टीकाकारों के अनुसार ' प्रसिध्यन्ति ' चाहिये, सो वैसा कर दिया है । 'उत्पत्ति, गुण और कर्म द्वारा', उत्पत्ति-शब्दादि की मूल-प्रकृति में कई एक परिणामों के अनन्तर आकाशादि से, गुण-आकाशादि के शब्दादि, कर्म-अवकाश देना आदि । यह सब भी वेद से ही जाने जाते हैं । † वासि० २७।२

आश्रम में रहता हुआ, यहां पृथिवी में रहता हुआ ही मुक्त होने के योग्य होता है ॥१०२॥ (वेद के सर्वथा) न जानने वालों से ग्रन्थी (ग्रन्थों का पाठ मात्र करने वाले) श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थियों से धारने वाले (स्मरण रखने वाले) श्रेष्ठ हैं, धारने वालों से ज्ञानी (तात्पर्य को जानने वाले) श्रेष्ठ हैं, ज्ञानियों से अनुष्ठानी श्रेष्ठ हैं॥१०३॥ तप और विद्या ब्राह्मण के लिये सर्वोत्तम मोक्ष-साधन है, तप से पाप को दूर करता है, विद्या से मोक्ष लाभ करता है *॥१०४॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

धर्म की शुद्धि चाहने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान अनेक प्रकार का शास्त्र यह तीनों भली भांति जानने चाहियें॥१०५॥ वेद और धर्मोपदेश को जो वेद और शास्त्र के अविरोधी तर्क से जानता है, वह धर्म को जानता है, दूसरा नहीं † ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥१०७॥
अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादितिचेद्भवेत् ।
यं शिष्टाब्राह्मणाब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥१०८॥

* याज्ञ० ३।२०२ तप=अपने २ आश्रम का कर्म, और विद्या=ब्रह्मज्ञान। † धर्मोपदेश=धर्मशास्त्र। अविरोधी तर्क=जिस लौकिक वा अलौकिक फल को लक्ष्य रख कर जिसकी प्रवृत्ति हुई है, उस तक पहुंचाने वाला तर्क।

यह मोक्ष-साधन कर्म यथावत समग्र कहा है, अब इस मानव शास्त्र का रहस्य उपदेश करते हैं ॥ १०७ ॥ न बतलाए धर्मों में कैसे (मर्यादा) हो, यदि यह (संशय) हो, तो जो शिष्ट ब्राह्मण कहें, वह निश्चित (मर्यादा) होनी चाहिये * ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥
दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥११०॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥१११॥

जिन्हों ने मर्यादाऽनुसार परिबृंहण समेत वेद को पढ़ा है, और जो श्रुति के प्रत्यक्ष के हेतु हैं (वेदार्थ में प्रत्यक्ष तुल्य निश्चय करा सकते हैं) वह शिष्ट ब्राह्मण जानने चाहियें † ॥ १०९॥ घट से घट दस की परिषद्, जो सदाचार में स्थित है—वह, जो धर्म नियत करे, उस धर्म को न हिलाए ॥ ११० ॥ ऋग, यजु, साम के जानने वाले (तीन पुरुष), एक नैयायिक, एक मीमांसक, एक नैरुक्त, एक धर्म-शास्त्री, और तीन पहले आश्रमी (ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और गृहस्थ) यह दशावरा परिषद् है ॥१११॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

---

* १०८-११५ वासि० ३।२० गौत० २८। ४८-५१ आप० २।२९। १३-१४ बौधा० १।१।५-१३, १६ याज्ञ० १।९-१० † परिबृंहण = जिन से वेदार्थ-रूप बीज का फैलाव होता है। अर्थात् अंग-उपांग।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यंव्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
सविज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥
अव्रतानाममन्त्राणां जाति मात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥११४॥
यंवदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधाभूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥११५॥
एतद्वोऽभिहितंसर्वंनिःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोतिपरमांगतिम् ॥११६॥
एवंसभगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमंगुह्यं ममेदंसर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥
सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चा सच्चममाहितः ।
सर्वंह्यात्मनिसंपश्यन्ना धर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

धर्म-विषयक संशय मिटाने में एक ऋग्वेद का जानने वाला, एक यजुर्वेद का जानने वाला, एक सामवेद का जानने वाला यह त्र्यवरा परिषद् जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥ (चारों) वेदों का जानने वाला एक भी ब्राह्मण जिस धर्म का निश्चय करे, वह उत्तम धर्म जानना चाहिये, न कि दस सहस्र अविद्वानों से कहा हुआ ॥११३॥ (ब्रह्मचर्य) व्रत से हीन, वेद के न जानने वाले, जाति-मात्रधारी ब्राह्मणों के सहस्रों के मिलने से भी परिषद् नहीं होती है ॥ ११४ ॥ जो धर्म उसके (धर्म के) न जानने वाले तमो-गुणी मूर्ख बतलाते हैं, वह सौ गुणा पाप बनकर उस (धर्म) के बतलाने वालों को प्राप्त होता है ॥ ११५ ॥ यह उत्तम मोक्ष

साधन तुम्हें सारा बतला दिया है, इससे न फिसला हुआ ब्राह्मण परम-गति को प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥ इस प्रकार वह भगवान् देव(मनु राजा)लोकों के हित की कामना से धर्म का यह सारा गुह्य भेद मुझे बतलाता भया ॥ ११७ ॥ एकाग्र-मन होकर सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म को परमात्मा में देखे, क्योंकि सब को परमात्मा में देखता हुआ मन को अधर्म में नहीं लगाता है * ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताःसर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगंशरीरिणाम् ॥११९॥
खंसन्निवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ।
पक्तिदृष्ट्योःपरंतेजः स्नेहेऽपोगांचमूर्तिषु ॥ १२० ॥
मनसीन्दुंदिशः श्रोत्रेक्रान्तेविष्णुं बले हरम् ।
वाच्यग्निंमित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषंपरम् ॥ १२२ ॥
एतमकेवदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेपरेप्राणम परे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

परमात्मा ही (इन्द्रादि) सारे देवता है, सब परमात्मा में स्थित है, परमात्मा ही उन देहधारियों के लिये कर्म-योग को उत्पन्न करता है (जिस पर चलने से मोक्ष मिलता है) ॥११९॥

---

* कुल्लूकभट्ट ने आत्मा से परमात्मा अभिप्राय लिया है । गोविन्द ने आत्मा से अपना आत्मा लिया है। पर अगले श्लोक में उसने भी आत्मा से परमात्मा अभिप्राय लिया है ।

आकाश को (शरीर के) छिद्रों में मिलाए (बाह्य) चेष्टा और स्पर्श में वायु को, पाक और दृष्टि (जठराग्नि और नेत्र की दृष्टि) में बड़े तेज को (बाह्य अग्नि और सूर्य को) (शरीर के) स्नेह में जल को, शरीर में पृथिवी को ॥ १२० ॥ मन में चन्द्र को, श्रोत्र में दिशाओं को, गति में विष्णु को, बल में शिव को, वाणी में अग्नि को, पायु (गुदा) में मित्र को और उपस्थ में प्रजापति को (मिलाए) ॥ १२१ ॥ सब का शासन करने वाला, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सोने की आभा वाला, केवल समाधि ज्ञान से जानने योग्य उस परमपुरुष को जाने॥१२२॥इसको कई अग्नि कहते हैं, दूसरे प्रजापति, कई इन्द्र दूसरे प्राण, कई सनातन ब्रह्म कहते हैं

एषसर्वाणिभूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयाति चक्रवत् ॥ १२४ ॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
ससर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येतिपरंपदम् ॥१२५॥
इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तंपठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥१२६॥

यह सब प्राणियों को पाचों भूतों के साथ लपेट कर जन्म वृद्धि और नाश के द्वारा सदा चक्रवत् घुमाता है ॥१२४॥ इस प्रकार जो आत्मा से परमात्मा को सब भूतों में देखता है, वह सब की समता को प्राप्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो सब से ऊंचा पद है * ॥ १२५ ॥ भृगु से कहे इस मानव-शास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज सदाचारी होता है, और मनमानी गति पाता है

* मनुस्मृति समाप्त हुई *

---

* 'परं पदं' के स्थान नन्द० 'सनातनं' पढ़ता है ।

१—ईश उपनिषद् =)
२—केन उपनिषद् =)
३—कठ उपनिषद् ।-)
४—प्रश्न उपनिषद् ।)
५,६—मुण्डक और माण्डूक्य।-)
७—तैत्तिरीय उपनिषद् ।≡)
८—ऐतरेय उपनिषद् ≡)
९—छान्दोग्य उपनिषद् १॥=)
१०—बृहदारण्यक उपनिषद् १॥=)
११—श्वेताश्वतर उपनिषद् ।)॥
ग्यारह इकट्ठी लेने में ५।=)

[ख] उपनिषदों पर बड़े उत्तम २ विचार के ग्रन्थ ।

(१) उपनिषदों की भूमिका—उपनिषदों के सभी विषय और उपनिषदों पर विचार करने वाले पुराने सभी आचार्यों के सिद्धान्त इस में दिखलाए गए हैं ।)॥

(२) उपनिषदों की शिक्षा—इस में सारी उपनिषदों के वाक्य देकर एक २ विषय ऐसा पूर्ण बना दिया गया है कि पढ़ने वाला गद्गद् होजाता है । इसके चार भाग हैं । (१) **पहला भाग** निरा परमात्मा के वर्णन में—परमात्मा के सम्बन्ध में बड़े २ अद्भुत ३७ प्रकार के विचार हैं ॥=) (२) **दूसरा भाग**—आत्मा और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में ५८ प्रकार के विचार ॥) (३) **तीसरा भाग**—मरने के पीछे की अवस्थाओं, कर्म, चरित और सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में २५ प्रकार के विचार ॥) (४) **चौथा भाग**, उपासना, उपासना का फल, और मुक्ति के सम्बन्ध में ८१ प्रकार के विचार ॥=)

(ङ) मनुस्मृति—भाषा अर्थ बड़ा सरल, गूढ़ बातों का तात्पर्य खोला हुआ, मनुस्मृति पर संस्कृत में जो पुरानी सात टीका हैं, उनके तात्पर्य भी नीचे साथ २ । हरएक विषय पर दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ२ । आदि में विषय सूची और सारे श्लोकों का अकारादि सूची भी दे दिया है । ३)

(च) वेदों के उपदेश—(१) **वेदोपदेश** पहला भाग-भगवान